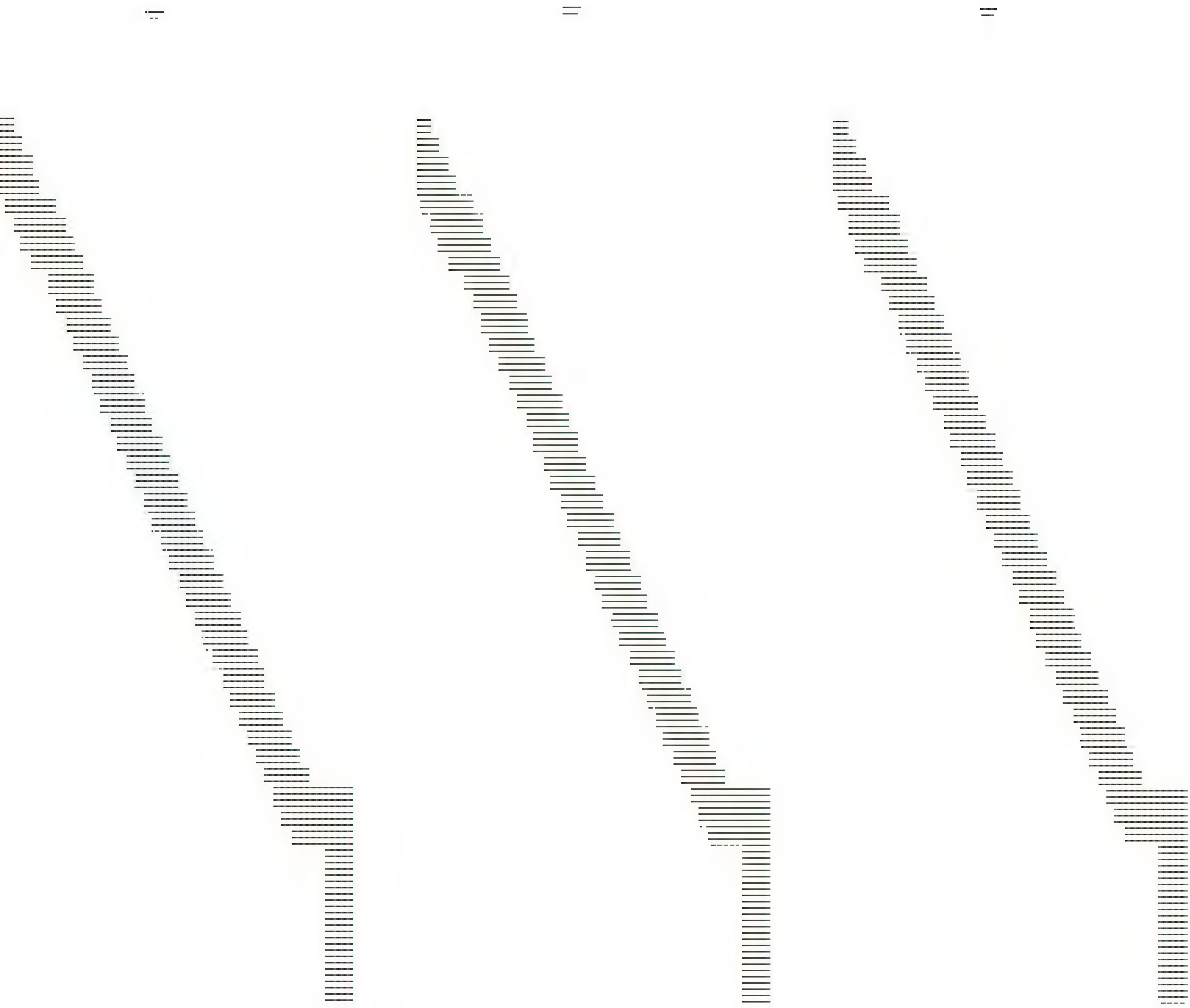


हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

[विभिन्न विश्वविद्यालयों की एम० ए०, सम्मेलन की उत्तमा, बिहार की साहित्यालंकार, पंजाब की प्रभाकर आदि परीक्षाओं के लिए परमोपयोगी]

लेखक :
श्री जयकिशनप्रसाद एम. ए.

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक :
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण : १९५१
द्वितीय संस्करण : १९५४
तृतीय संस्करण : १९५६
चतुर्थ संस्करण : १९५९
पंचम संस्करण : १९६१

मूल्य : ६ रु०

मुद्रक :
रत्नदीप प्रिंटिंग प्रेस
बेलनगंज, आगरा

तृतीय संस्करण की भूमिका

जगदीश भवन
१६–४–५६

प्रिय मित्रवर,

तुम्हारी प्रिय 'प्रवृत्तियों' का यह तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण आज पूरा हो चुका है। वस्तुतः आज से छः वर्ष पूर्व जब 'प्रवृत्तियों' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था तब इतिहास के इस प्रवृत्तिमूलक विवेचन का सभी ने स्वागत किया था। इसी का परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार के विवेचन की एक प्रवृत्ति ही चल पड़ी, और गण्यमान आलोचकों ने कुछ उलटफेर के साथ हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों का प्रवृत्तिमूलक विवेचन करने की प्रवृत्ति दिखाई। इस प्रकार तुम्हारी प्रिय 'प्रवृत्तियाँ' प्रो० श्रीधर पंत के शब्दों में विद्यार्थियों के लिए तो कामधेनु ही सिद्ध हुई, आलोचकों के लिए भी प्रेरणा-बिन्दु बनी। अस्तु।

समय की गति के साथ विचारों में भी परिवर्तन होता रहता है और नवीन शोध कार्य के आलोक में प्राचीन सामग्री में कुछ सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस पुस्तक में भी कुछ परिवर्त्तन हुआ है। वस्तुतः इसके प्रथम संस्करण को देखकर आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ शर्मा, श्री हरिहरनाथ टण्डन, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभृत्ति विद्वानों ने कुछ सुझाव दिये थे, इस संस्करण में उनका पूर्ण उपयोग किया गया है। साथ ही अत्याधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी संकेत कर दिया है। सम्भवतः अगले संस्करण में उनका विस्तार से विवेचन हो सकेगा। अधिक क्या लिखूँ, तुम स्वयं ही अपनी इस म⋯नो⋯र⋯मा के नवीन शृङ्गार को देखकर मुग्ध होंगे।

तुम्हारा अभिन्न
जयकिशनप्रसाद

सेवा में—
आचार्य पं० करुणाशंकर दीक्षित
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

विषय-सूची

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

भक्तिकाल

शृङ्गारकाल

हिन्दी साहित्य का आधुनिककाल

हिन्दी साहित्य की परम्परा

हिन्दी साहित्य की परम्परा

हिन्दी साहित्य की परम्परा कब से चली इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। हिन्दी भाषा के साहित्य का प्रारम्भ मानने के लिए एक सिद्धान्त विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। यह सिद्धान्त भाषा के 'साहित्यिक मरण' से सम्बन्ध रखता है। जब कोई बोलचाल की भाषा व्याकरण के नियमों से परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा बन जाती है तो उससे कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा बोलचाल की भाषा का स्थान ग्रहण कर लेती है। धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा रूढ़ग्रस्त होकर नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में पूर्ण योग देने योग्य नहीं रह जाती, तब उससे आगे बढ़ी हुई बोलचाल की भाषा का संस्कार होता है और वह साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होती है। हिन्दी के प्राचीन रूप से पूर्व परिनिष्ठित अपभ्रंश साहित्यिक संस्कार से पूर्ण भाषा थी और उससे कुछ आगे बढ़ी हुई बोलचाल की देश-भाषा प्रचलित थी। धीरे-धीरे परिनिष्ठित अपभ्रंश 'साहित्यिक मरण' को प्राप्त हुई और उससे आगे बढ़ी हुई देशभाषा या लोकभाषा ने उसका स्थान ग्रहण किया। किन्तु अपभ्रंश कब से रूढ़िबद्ध हुई और उसका स्थान देशभाषा ने कब से ग्रहण किया—यह प्रश्न बड़े विवादास्पद हैं। अब तक जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हुआ है उसके आधार पर इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था तथा पुरानी हिन्दी में बहुत अधिक एकरूपता है। उनमें इतना सूक्ष्म अन्तर है कि दोनों के बीच में समय-भेद अथवा देशभेद की स्पष्ट रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिन्हें अपभ्रंश के भी कहा जा सकता है और पुरानी हिन्दी के भी। अपभ्रंश के उत्तरकाल में देश की जैसी स्थिति थी वैसी ही पुरानी हिन्दी के आदिकाल में वर्तमान थी। अतः स्पष्टतया देशभाषा और अपभ्रंश के बीच एक सुनिश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक अपभ्रंश भाषा

के साहित्य को हिन्दी साहित्य के पूर्वरूप के रूप में ग्रहण करते आए हैं। मिश्रबन्धुओं ने अपने इतिहास में साहित्य के आदिकाल की सामग्री का विवेचन करते हुए अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है। गुलेरी जी ने परिनिष्ठित अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना उचित समझा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी आदिकाल की सामग्री का विवेचन करते हुए चार अपभ्रंश के और आठ देशभाषा के ग्रन्थों का उल्लेख किया है। राहुल जी ने भी अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी कहा है और अपभ्रंश के उत्कृष्ट कवि स्वयंभू को हिन्दी का प्रथम कवि तथा उसके महान् ग्रन्थ पउमचरिउ (रामायण) को हिन्दी का प्रथम सर्वोत्तम ग्रन्थ माना है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का समय निर्धारण करने में एक कठिनाई और है। वह यह है कि जो कवि अथवा लेखक अपनी रचनाओं को जितना अधिक लोकप्रिय बनाना चाहता है उतना ही वह साहित्यिक भाषा को छोड़ कर जन-साधारण की बोलचाल की भाषा का व्यवहार करता है। धीरे-धीरे शिष्ट साहित्य में उसकी गणना होने लगती है और उसकी भाषा को स्टैण्डर्ड मान लेते हैं। और तभी से नए साहित्य का प्रारम्भ मान लिया जाता है, यद्यपि उसका प्रारम्भ बहुत समय पूर्व ही हो जाता है। अतएव नवीन साहित्य से आदिकाल के प्रारम्भ का निश्चय भी त्रुटिपूर्ण हो सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश और देशभाषा का संकेत इन शब्दों में दिया है "इस अपभ्रंश साहित्य को मध्यदेश में उसी प्रकार भाषा-काव्य समझा जाता रहा है, जिस प्रकार परवर्त्ती ब्रजभाषा या अवधी कविता को।" 'कुमारपालचरित' को और 'हम्मीर-रासो' को भाषा-काव्य ही माना गया है। शिवसिंह ने किसी पुरानी अनुश्रुति के आधार पर (जो सम्भवतः टॉड के राजस्थान से समर्थित है) भाषा का प्रथम कवि पुष्प नामक किसी कवि को बताया है, जो अवंती के राजा भोज के 'मान' नामक पूर्व पुरुष का भाट था। वे लिखते हैं कि "संवत् सात सौ सत्तर विक्रमादित्य में राजा 'मान' अवंतीपुरी का बड़ा पण्डित और अलंकार विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्प भाट ने प्रथम संस्कृत ग्रन्थ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाए। हमको भाषा की जड़ यही कवि मालूम होता है।" द्विवेदी जी ने पुष्प (संवत् ७००) कवि और अपभ्रंश के पुष्पदंत (दसवीं

शताब्दी) कवि की एकता दिखलाने का प्रयत्न किया है। आगे उन्होंने इसी सम्बन्ध में लिखा है "परन्तु यह अनुमान ठीक हो या न हो, इतना तो मान ही लिया जा सकता है, कि आठवीं शताब्दी का पुष्प कवि जिसकी चर्चा शिवसिंह ने की है, अपभ्रंश का कवि ही होगा, क्योंकि उस समय की उपलब्ध सभी रचनाएं अपभ्रंश की हैं। इस प्रकार अपभ्रंश को 'भाषा-काव्य' कहने की प्रथा बहुत पुरानी है।" कहने का तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश और देशभाषा में काल क्रमानुसार विभक्तीकरण की रेखा नहीं खींची जा सकती है।

हिन्दी के प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में महापण्डित राहुल जी का कार्य भी स्तुत्य है। उनका मत है कि सरहपा आदि सिद्धों की भाषा संस्कृत से अधिक हिन्दी के समीप है। यह भाषा लोकभाषा थी और संस्कृत केवल उच्चवर्ग की भाषा थी। अतः सिद्धों की भाषा को हिन्दी भाषा का ही प्राचीन रूप समझना चाहिए। इसी मत के आधार पर काशीप्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम लेखक मान लिया है। उसका समय राहुल जी ने सम्वत् ८१७ दिया है किन्तु डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय संवत् ६९० माना है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश और देशभाषा का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—"हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। एक तो वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं लिखा है और जो अपभ्रंश के अधिकांश जैन कवियों और आचार्यों की रचनाओं में व्यवहृत हुई है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने 'ग्राम्य' कहा है। इसमें 'रासक', 'डोम्बिका' आदि की श्रेणी के लोक-प्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे।" आगे देशभाषा के विकास का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं—"यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई (एडवांस) बताई जाती है। इसी में बौद्धों के पद और दोहे प्राकृत पैंगल के उदाहृत अधिकांश पद्य, संदेश-रासक आदि रचनाएं लिखी गई हैं। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है। इसकी भाषा, शैली, काव्यगत रियायती अधिकार, स्थापना पद्धति, छन्द आदि ज्यों के त्यों परवर्ती हिन्दी साहित्य में आ गए हैं। मेरा विचार है कि ये रचनाएँ ही हिन्दी-साहित्य के विकास के प्रसंग में विवेच्य हो सकती हैं।

वस्तुतः ये ही हिन्दी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा के नमूने उपस्थित करती हैं।" आगे इनका महत्त्व द्विवेदी जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"ये हमें लोकभाषा के काव्य-रूपों को समझने में सहायता पहुँचाती हैं और साथ ही उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृत्तियों को समझने की कुंजी भी देती हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी के आस-पास परिनिष्ठित अपभ्रंश से कवियों की प्रवृत्ति लोकभाषा की ओर हो रही थी। इस बात को ध्यान में रखकर विद्वान् इतिहास-लेखक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। दसवीं शताब्दी से परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप देखने को मिलता है जिसकी मुख्य विशेषता गद्य में तत्सम् शब्दों का बाहुल्य एवं पद्य में तद्भव शब्दों का एकछत्र राज्य है। इसीलिए दसवीं शताब्दी से जिस साहित्य की रचना हुई वह परिनिष्ठित अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य है और इसी में हम हिन्दी भाषा एवं साहित्य का उद्भव पाते हैं। हिन्दी साहित्य के इस आदिकाल को पिछले कुछ वर्षों में एक नया आलोक मिला है। इसका श्रेय हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ आलोचक आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को है। उन्होंने अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य का गम्भीर अध्ययन करके एवं आदिकाल की साहित्यिक सामग्री का मन्थन करके आदिकाल के काव्य-रूपों की कहानी कही है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए आलोक में आज हिन्दी साहित्य का आदिकाल जगमग हो उठा है, वह अपने महत् स्वरूप में स्तुत्य हो गया है। भविष्य में इस कार्य को विद्वान् और आगे बढ़ायेंगे, ऐसी आशा है। सारांश यह है कि हिन्दी साहित्य का आदिकाल आचार्य द्विवेदी जी के प्रयत्नों से उतना संदिग्ध नहीं रहा जितना पहले था। आदिकाल के काव्य-रूपों की कहानी से केवल उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं हुआ है वरन् हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के काव्य-रूपों का स्वरूप एवं विकास समझने में बड़ी सहायता मिली है।

यहाँ हिन्दी के पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा के साहित्य की थोड़ी सी चर्चा करना भी अनुपयुक्त न होगा। अपभ्रंश साहित्य दो प्रकार का है—एक

तो जैन अपभ्रंश साहित्य, दूसरा जैनेतर अपभ्रंश साहित्य । जैन-अपभ्रंश-साहित्य की महत्ता दो कारणों से है । एक तो धार्मिक आश्रय पाकर ये रचनाऐं अपने मूल एवं प्रामाणिक रूप में उपलब्ध हैं, दूसरे ये हमें तत्कालीन परिस्थिति एवं परवर्ती लोकभाषा के काव्य रूपों का उद्भव एवं विकास को समझने में सहायता देती हैं । इन रचनाओं से उस काल की भाषागत परिस्थितियों एवम् प्रवृत्तियों का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है । जहाँ तक काव्य रूपों का सम्बन्ध है आदिकालीन चरित-काव्यों का विकास समझने के लिए जैन-अपभ्रंश के तीन प्रसिद्ध कवि स्वयंभू[1] , पुष्पदन्त[2] और धनपाल[3] हैं । इन कवियों ने बड़े सुन्दर चरित-काव्यों की रचना की है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जैन कवियों के लिखे चरित-काव्यों का महत्त्व इन शब्दों में व्यक्त किया है—"इन चरित-काव्यों के अध्ययन से परवर्तीकाल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, काव्य-रूपों, कवि-प्रसिद्धियों, छन्दयोजना, वर्णनशैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है । इसलिये इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है ।"

जैन-अपभ्रंश-साहित्य का जितना महत्त्व है, उतना ही जैनेतर अपभ्रंश साहित्य का । जैनेतर अपभ्रंश साहित्य की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री के प्रयत्न से प्रकाशित हुई हैं । बौद्ध सिद्धों के पद और दोहों का एक संग्रह "बौद्ध गान और दोहा" नाम से प्रकाशित हुआ है । विद्यापति की 'कीर्तिलता' का प्रकाशन आदिकालीन साहित्य के विवेचन में एक महत्त्वपूर्ण घटना है । इन दोनों पुस्तकों की भाषा अपभ्रंश ही है । कीर्तिलता की भाषा में मैथिली का मिश्रण है । जैनेतर साहित्य की दो अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें 'ढोला

१—पउमचरिउ (रामायण) रिट्ठणेमि चरिउ, पंचमी चरिउ, हरिवंश पुराण (महाभारत) एवं स्वयंभूच्छन्द ।

२—तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार (त्रिसष्ठि महापुरुष गुणालंकार), णायकुमार चरिउ (नागकुमारचरित), जसहरिचरिउ (यशोधर चरित)

३—भविषयत्तकहा

मारू रा दूहा' तथा 'प्राकृत पैंगलम्' है। 'प्राकृत पैंगलम्' में ६ वीं से १२ वीं शताब्दियों तक के कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। राहुलजी की 'हिन्दी काव्य धारा' में अन्य जैनेतर कवियों की रचनाएँ भी मिलती हैं।

दसवीं शताब्दी तक के लोकभाषा साहित्य के मुख्य लक्षण का विवेचन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "इस साहित्य में प्रधान रूप से ब्राह्मणमत के विरोधी सम्प्रदायों की लोकभाषा में निबद्ध रचनाएँ प्राप्त होती हैं। यह पूरा का पूरा साहित्य धार्मिक है। इसमें सहज जीवन पर, आन्तरिक शुचिता पर और सचाई के जीवन पर अधिक जोर दिया गया है और बाह्याचार, छूतछात, कृच्छ्रसाधना आदि पर आघात किया गया है।" बौद्ध और नाथ सिद्धों की रचनाओं के अतिरिक्त कुछ लौकिक रस का साहित्य भी इस समय लिखा जा रहा था किन्तु उसका कोई निश्चित रूप नहीं मिलता।

सारांश यह है कि दसवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य की परम्परा का प्रारम्भ मानना उचित है। हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में पूर्ववर्ती अपभ्रंश की साहित्यिक परम्पराएँ सुरक्षित हैं। परवर्ती अध्याय में हम इनका विस्तार से विवेचन करेंगे।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री दो रूपों में मिलती है। एक अन्तसक्ष्यि के रूप में और दूसरी बाह्य साक्ष्य के रूप में। साहित्य के जितने परिचय ग्रन्थ हैं, उनके द्वारा मिली हुई सामग्री अन्तसक्ष्यि के रूप में है और साहित्य के अतिरिक्त अन्य साधनों से मिली हुई सामग्री बाह्य साक्ष्य के रूप में। अन्तसक्ष्यि का उल्लेख करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में २५ ग्रन्थो का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं—

१—चौरासी और दो सौ वैष्णवन की वार्ताएँ—लेखक गोकुलनाथ। इसमें पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है। अष्टछाप के कवि भी इन्हीं वैष्णवों में से थे।

२—भक्तमाल—लेखक नाभादास। इसमें प्रत्येक प्रसिद्ध वैष्णव कवि की

प्रशस्ति में एक-एक छप्पय मिल जाता है।

३—**श्री गुरु ग्रन्थ साहब**—लेखक गुरु अर्जुनदेव। इसमें नानक, कबीर, रैदास, नामदेव आदि १६ सन्त कवियों की कविताओं का संकलन है।

४—**गोसाईं चरित्र**—लेखक बाबा बेनीमाधवदास। इसमें गोस्वामी तुलसीदास का चरित्र गान किया गया है।

५—**भक्त नामावली**—ध्रुवदास। इसमें ११६ भक्तों का संक्षिप्त चरित्र वर्णित है।

६—**कविमाला**—तुलसी। यह तुलसी रामचरितमानस के तुलसीदास से भिन्न है। इस ग्रन्थ में सं० १५०० से सं० १७०० तक के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह है।

७ - **कालिदास हजारा**—कालिदास त्रिवेदी। २१२ कवियों की कविताओं का संग्रह। इन कविताओं का समय सं० १४८० से लेकर सं० १५७५ तक है। इसी ग्रन्थ के आधार पर शिवसिंह सेंगर ने अपना 'सरोज' लिखा था।

८—**काव्य निर्णय**—भिखारीदास। इस ग्रन्थ में काव्य के आदर्शों के साथ-साथ कवियों का निर्देश भी मिल जाता है।

९ - **सत्कवि-गिरा-विलास**—बलदेव। सत्रह कवियों का काव्य-संग्रह जिनमें केशव, चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी आदि मुख्य हैं।

१० — **कवि नामावली**— सूदन। इसमें सूदन ने दस कवियों के नाम गिनाकर उन्हें प्रणाम किया है।

११ — **विद्वान मोद तरंगिणी**—सुब्बासिंह। ४५ कवियों का काव्य-संग्रह जिसमें षटऋतु, नखशिख, दूती आदि का वर्णन है।

१२—**राग सागरोद्भव रागकल्पद्रुम**—कृष्णानन्दव्यास देव। १०० से अधिक कृष्णोपासक वैष्णवों का वर्णन है जिसमें अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भी कवि आ जाते हैं।

१३— **शृंगार संग्रह**—सरदार कवि। इसमें १२५ कवियों के उदाहरण हैं।

१४—**रस चन्द्रोदय**— ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी। बुन्देलखण्ड के २४२ कवियों का संग्रह।

१५—**दिग्विजय भूषन**— गोकुलप्रसाद। १९२ कवियों का काव्य-संग्रह।

१६—सुन्दरी तिलक—हरिश्चन्द्र । ६६ कवियों का काव्य-संग्रह ।

१७—काव्य संग्रह—महेशदत्त । कवियों का काव्य संग्रह ।

१८—कवित्त रत्नाकर—मातादीन मिश्र । २० कवियों का काव्य संग्रह ।

१६—शिवसिंह 'सरोज'—शिवसिंह 'सेंगर' । १००० कवियों का जीवन-वृतान्त, उनकी कविताओं के उदाहरणों सहित । इसी के आधार पर डा० ग्रियर्सन ने 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तानी' लिखा है ।

२०—विचित्रोपदेश—नकछेदी तिवारी । अनेक कवियों का काव्य संग्रह ।

२१—कवि रत्नमाला—देवीप्रसाद मुन्सिफ । राजपूताने के १०८ प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह तथा जीवन-चरित्र ।

२२—हफीजुल्लाखाँ—हफीजुल्ला खाँ । अनेक कवियों की कविताओं का संग्रह ।

२३—सन्तबानी संग्रह तथा अन्य सन्तों की बानी—'अधम' । जीवन चरित्र के सहित २४ सन्त कवियों का काव्य संग्रह ।

२४—सूक्ति सरोवर—लाला भगवानदीन । ब्रजभाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियों का संग्रह ।

२५—सेलेक्शन फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर—लाला सीताराम । साहित्य के अनेक विषयों पर आलोचनाएँ और उनका काव्य संग्रह ।

अब बाह्य साक्ष्य की सामग्री पर भी विचार कर लेना चाहिए । बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत दो रूपों में सामग्री प्राप्त होती है । पहले रूप में साहित्यिक सामग्री है तथा दूसरे रूप में शिलालेख तथा अन्य प्राचीन स्थानों के निर्देश आदि हैं । बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत निम्नलिखित १० ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं—

१—राजस्थान—टॉड । राजस्थान के चारणों का निर्देश है ।

२—हिन्दुईज्म एण्ड ब्राह्मनिज्म—मानियर विलियम । हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के निरूपण में हिन्दी कवियों और आचार्यों के विचारों की आलोचना ।

३—नागरी प्रचारिणी सभा की खोजों की रिपोर्ट—श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, हीरालाल । अनेक अज्ञात कवियों का परिचय एवं उनकी रचनाओं के

उदाहरण।

४—कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ—वेसकट। कबीर और कबीर के आदर्शों का स्पष्टीकरण।

५—हिस्ट्री ऑव दि सिक्ख रिलीजन—मैकालिफ। सिक्ख धर्म का आविर्भाव, उसके अन्तर्गत हिन्दी कवियों का भी उल्लेख।

६—इण्डियन थीज्म—मैकनिकाल। हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण। इस सम्बन्ध में कवियों का उल्लेख है।

७—ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग आव बार्डिक एण्ड हिस्ट्रीकल मैन्युस्क्रिप्ट—डा० एल० पी० टेसीटेरी। राजस्थान में डिंगल काव्य के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों के विवरण और उदाहरण।

८—एन आउट लाइन आव दि रिलीजस लिटरेचर आव इण्डिया—फर्कुहर। धार्मिक सिद्धान्तों के प्रकाश में कवियों पर आलोचना।

९—गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज—ब्रिग्ज। गोरखनाथ और नाथ सम्प्रदाय का धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन।

१०—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—मोतीलाल मैनारिया। राजस्थान के अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय और उनकी रचना के उदाहरण।

अन्य बाह्य साक्ष्यों में चन्देल राजा परिमाल के शिलालेख आदि हैं। ऐसे शिलालेख केवल प्राचीन इतिहास पर ही प्रकाश डालते हैं। ऐतिहासिक स्थानों की सामग्री में निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—कबीर चौरा, काशी।
२—असीघाट, काशी।
३—कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमी नदी का तट।
४—जायसी की समाधि, अमेठी।
५—तुलसी की प्रस्तर मूर्त्ति, राजापुर।
६—तुलसीदास के स्थान का अवशेष, सोरों।
७—नरसिंह जी का मन्दिर, सोरों।
८—केशवदास का स्थान, टीकमगढ़ और सागर।

उपर्युक्त सामग्री से तत्कालीन कवियों और लेखकों के जीवन चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतः यह आलोचकों और साहित्यिकों के लिये बड़े महत्त्व की है। इस समस्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों के विषय में जनश्रुतियों द्वारा भी ज्ञान होता है। जनश्रुतियाँ यद्यपि विशेष प्रामाणिक तो नहीं होतीं तथापि उनके द्वारा सत्य का कुछ संकेत तो मिलता ही है।

अभी जिस बाह्य और अंतः साक्ष्य की सामग्री का उल्लेख हुआ है उसके आधार पर एक सुनिश्चित साहित्य का इतिहास तैयार नहीं हो सकता है। हिन्दी साहित्य में अभी ऐसे बहुत से स्थान हैं जिनके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूरदास की जन्म तिथि, कबीर का चरित्र आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। एक तो हमारे यहाँ इतिहास लेखन की प्रथा ही नहीं थी। यदि घटनाओं और व्यक्तियों के विषय में कुछ लिखा भी गया तो उनकी तिथि आदि के विषय में कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। भक्तमाल, वार्ता आदि में चरित वर्णित हैं, पर उनमें तिथियों का किंचित् भी निर्देश नहीं है।

इसके अतिरिक्त कवियों ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। वे या तो अपने को तुच्छ समझते थे अथवा पारलौकिक सत्ता में लीन थे। वे अत्यन्त नम्र स्वभाव के भी होते थे। 'कवित विवेक एक नहीं मोरे' अथवा 'हौं प्रभु सब पतितन को टीको' कहकर वे अपनी हीनता वर्णित किया करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि केशवदास के पूर्व तक किसी कवि ने अपना यथेष्ठ परिचय नहीं दिया। यह बात दूसरी है कि कवियों ने अपनी ग्लानि और हीनता के प्रदर्शन में अज्ञात रूप से अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया है। तुलसीदास जी ने भी अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन आत्मग्लानि के वशीभूत होकर किया था। शृङ्गारकाल के कवियों में अपने विषय में लिखने की परिपाटी ही चल पड़ी। शृङ्गारकाल के महाकवि केशवदास जी ने भी अपने विषय में लिखा है। किन्तु यदि हम वास्तविकता को देखें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे हिन्दी साहित्य में कवियों के विषय में पर्याप्त सामग्री का अभाव है। जो सामग्री हमें अंतः साक्ष्य के रूप में मिलती है वह किसी साहित्य

के इतिहास के लिये पूर्ण रूप से उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती।

हिन्दी साहित्य पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव

हिन्दी साहित्य पर बौद्ध दर्शन ने जो प्रभाव छोड़ा है वह अमिट है। हिंदी साहित्य के जन्म के समय बौद्ध धर्म अपने विकृत रूप में था, यह इतिहास के विद्यार्थियों से छिपा नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन-जिन परिस्थितियों, विचार-धाराओं तथा सम्प्रदायों ने हिन्दी साहित्य को जन्म दिया था उन पर भी किसी न किसी रूप में बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा था। अतः यदि विचारपूर्वक विश्लेषण करके देखा जाय तो हमें ज्ञात होगा कि हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। यही नहीं उन्होंने वास्तव में जो बौद्ध प्रभाव है उसे विदेशी शासन की प्रतिक्रिया कह कर टाल दिया है। इसका विशेष कारण यही है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की परम्परा का सूत्रपात करने वाले अंग्रेज विद्वान हैं, जिन्होंने भारतीय चिन्ता का सम्यक् अध्ययन नहीं किया था। इन्हीं का अनुकरण हिन्दी में भी हुआ है। हिन्दी साहित्यकारों ने ऐतिहासिक तथ्यों की छान-बीन में अपनी मौलिक प्रतिभा का विशेष परिचय नहीं दिया है। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने में सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के अध्ययन का समुचित लाभ उठाया है। किन्तु शुक्ल जी जिन निराशात्मक भावनाओं को हिन्दू जाति की पराधीनता जन्य प्रतिक्रिया मानते हैं उसमें बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का बहुत कुछ प्रभाव है। यह स्वाभाविक है कि अपने पतन काल में कोई भी जाति जीवन तथा जगत के प्रति आशावादी विचार नहीं रख सकती। अतः जिन निराशात्मक विचारों के कारण बौद्ध-धर्म को जन-मन से तिरोहित होना पड़ा वही विचार सन्त और भक्त कवियों की वाणी में मिलते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी निराशात्मक विचारों को स्वाभाविक विकास के रूप में देखते हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' इस विषय में द्रष्टव्य है। अब हमें यह देखना चाहिये कि वे ऐसे कौन से बौद्ध-धर्म के प्रभाव हैं जिन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहासकार विदेशी शासन की प्रतिक्रिया कहते हैं। कुछ निम्नलिखित हैं—

१—हिन्दी साहित्य में चिन्ता—हिन्दू जाति के पतनकाल को देखकर हिंदी साहित्य के इतिहासकार यह कह देते हैं कि निराशात्मक विचार विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी। उनका कहना है कि शृङ्गारकाल में जो रीति ग्रन्थों का बाधिक्य तथा मौलिकता का अभाव दीखता है वह भी मुसलमानों के द्वारा पराजित होने के कारण हुआ। मुसलमानों ने समस्त हिन्दू जाति को परतन्त्र बना दिया तथा इसी व्यापक पारतन्त्र्य का किंचित् प्रभाव हिंदी साहित्य के शृङ्गार काल में चिन्ता-पारतंत्र्य के रूप में मिलता है। किंतु यह मत भ्रममूलक है। स्मरण दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि यह चिन्ता-पारतन्त्र्य भारतीय चिन्ता में मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुकी थी। परवर्ती हिन्दी साहित्य में उसके उग्र रूप को देख कर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी, भ्रमात्मक होगा। वास्तव में, वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिन्ता में इस चिन्ता-पारतंत्र्य को जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नहीं। और यह कारण बौद्ध प्रभाव ही प्रतीत होता है।

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में एक टीका की परम्परा सी चल पड़ी थी। मूल ग्रन्थ की टीकाएँ, उन टीकाओं की टीकाएँ, इस प्रकार कभी-कभी छः-छः आठ-आठ पुश्त तक टीकाओं की परम्परा चलती गई। ये टीकाएँ सर्वत्र चिन्ता-पारतन्त्र्य की निदर्शक नहीं हैं, कभी-कभी स्वतंत्र मत के प्रतिपादनार्थ भी लिखी गई थीं। प्राचीन ग्रन्थों से उनके जोड़ रखने का मतलब यही होता था कि अपने मत को आर्ष और श्रुतिसम्मत सिद्ध किया जा सके। ये टीकाएँ साधारणतः भाष्य कहलाती थीं, पर इन टीकाओं की भी टीकाएँ तथा उनकी भी टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें स्वाधीन चिन्ता क्रमशः कम होती चली गई। ग्यारहवीं शताब्दी में आकर इस टीका परम्परा ने एक नया मार्ग पकड़ा। टीका परम्परा की इस नई शाखा को हम निबन्ध-साहित्य कहते हैं। धर्मशास्त्रीय वचनों की छान-बीन करके लोक-जीवन के व्यवहार के लिये उपयोगी विधियों की व्यवस्था देना इन निबन्ध ग्रन्थों का कार्य था। इन निबन्ध ग्रन्थों के प्रचलन का मुख्य कारण यह है कि बौद्ध-धर्म के लोप होने के कारण बहुत सी जातियाँ ब्राह्मण धर्म के अन्दर आ गई थीं। इन जातियों के आने के कारण बहुत से व्रत, पूजा, पार्वण आदि हिन्दू धर्म में आ घुसे। इन

जातियों और इनकी समस्त आचार-परम्परा के नियमन और व्यवस्थापन के लिए ही इन निबन्ध-ग्रन्थों का प्रचलन हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-धर्म के कारण ही भारतीय-साहित्य में चिन्ता-पारतन्त्र्य का जन्म हुआ, जिसका उग्र रूप हम परवर्ती हिन्दी साहित्य के शृङ्गारकाल में देखते हैं।

२—हिन्दी साहित्य में लोकमत का प्राधान्य—भी भ्रम में डालने वाला है। इस लोकमत के प्राधान्य का कारण इतिहासकार यह बताते हैं कि मुसलमानी अत्याचारों से भारतीय जनता को अपना छुटकारा कविता के द्वारा सम्भव प्रतीत होता था। अतः कवियों ने ऐसी काव्य रचनाएँ लिखीं जिन्हें जनता समझ सकती थी तथा जो जनता पर अपना प्रभाव डाल सकती थीं। किन्तु मुसलमानों के आने से पहले ही भारतीय साहित्य में इस लोकवाद का जन्म हो चुका था। बौद्ध-धर्म का जब इस देश से शंकर और कुमारिल द्वारा निर्वासन हुआ तभी से बौद्ध-धर्म अपने दार्शनिक युक्त जाल को छोड़कर लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया। वह टोटके, टोने और जादू द्वारा लोकार्षण के रास्ते पर बड़ी तेजी से बढ़ा। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में जो लोकमत का प्राधान्य दिखलाई पड़ता है, वह निश्चय ही बौद्ध-धर्म की देन था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे हिन्दी-साहित्य में जो चिन्ता-पारतन्त्र्य तथा लोकमत का प्राधान्य दृष्टिगत होता है, वह एक प्रकार से बौद्ध-धर्म का प्रभाव ही है, मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया नहीं। इसके अतिरिक्त भी हिन्दी साहित्य पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव कई रूपों में पड़ा है। बौद्ध-धर्म में भी महायान सम्प्रदाय का ही हिन्दी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अन्य प्रभाव क्या है इसे भलीभाँति समझने के लिए हमें महायान-सम्प्रदाय की विशेषताओं की चर्चा भी कर लेनी चाहिए। महायान-सम्प्रदाय की निम्नलिखित विशेषताओं की चर्चा पण्डितों ने की है—

१—सर्वभूत हितवाद—में विश्वास रखना और समस्त जगत् के प्राणियों के कल्याणार्थ प्रयत्न करना, स्वयं कष्ट सहकर, नरक भोग कर भी अन्य जीवों के उद्धारार्थ प्रयत्न करना।

२—बोधिसत्वों में विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सत्कर्मों और भक्ति के द्वारा बोधिसत्व प्राप्त कर सकता है।

३—बुद्धों के लोकोत्तरत्व में विश्वास। यह भी विश्वास रखना कि बुद्धगण काल और देश की सीमा में परिव्याप्त हैं।

४—जगत को सार शून्य और नश्वर मानना।

५—कर्मकाण्ड की बहुलता और मन्त्र-तन्त्र में विश्वास।

६—संस्कृत के ग्रन्थों में विश्वास, पाली में नहीं।

७—बुद्ध में और विशेषकर अमिताभ बुद्ध में विश्वास और उनके नाम, जप से निर्वाण-प्राप्ति में विश्वास।

हिन्दी साहित्य के सम्यक् अध्ययन से हमें यह विश्वास हो सकेगा कि हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी अंग इनमें के एकाधिक सिद्धान्तों से प्रभावित थे। नामजप का पुराना सबूत भारतवर्ष के प्राचीन शास्त्रों में न मिलता हो यह बात तो नहीं, पर मध्ययुग के साहित्य में इसका जो रूप रहा वह निश्चय-पूर्वक महायान सम्प्रदाय से अधिक सम्बद्ध था। इन बातों के अतिरिक्त बौद्ध-तत्ववाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की चिन्ता की देन था, मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के उस अंग पर अपना अनिश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है जिसे 'सन्त साहित्य' नाम दिया गया है। इसी प्रकार शास्त्र-सापेक्ष भाव-धारा के भक्तों के अवतार-वाद का जो रूप है, उस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं है कि प्राचीन हिन्दू-चिन्ता के साथ उसका सम्बन्ध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह उन प्राचीन चिन्ताओं से भिन्न ऐसी जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, कैनेडी आदि विद्वानों ने उनमें ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ में नहीं आ सका था कि ईसाई धर्म के सिवा उस प्रकार के भाव और कहीं मिल सकते हैं। लेकिन आज शोध से दुनिया बदल गई है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वह महायानियों की देन सिद्ध होने लगा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य पर बौद्ध-धर्म का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाग

हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करने से पूर्व हमें 'साहित्य'

शब्द और उसके इतिहास का तात्पर्य समझ लेना चाहिये। संस्कृत के आचार्यों ने 'साहित्य' शब्द की विविध प्रकार से परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। आजकल तो साहित्य शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में होने लगा है। किसी विशेष विषय की समस्त पुस्तकें उस विषय के साहित्य की संज्ञा पाती हैं और इस प्रकार हम नित्य ही ज्योतिष-साहित्य, राजनीति-साहित्य, अर्थशास्त्र-साहित्य इत्यादि-इत्यादि कहते हैं। इसके अतिरिक्त जनता के मुँह में रहने वाला एक अलिखित साहित्य भी होता है जिसमें नानी की कहानी, किम्वदन्तियाँ, बड़ों का कहना, मुहावरे, घरेलू गीत इत्यादि आते हैं। आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने समूचे ग्रन्थ समूह को साहित्य मानकर उसे तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—सूचनात्मक साहित्य, विवेचनात्मक साहित्य और रचनात्मक साहित्य। इनमें अन्तिम प्रकार का साहित्य ही हमारे विवेचन की वस्तु है। आचार्य द्विवेदी जी ने इस साहित्य में उन पुस्तकों का समावेश किया है जो "हमें सुख-दुख की व्यक्तिगत संकीर्णता और दुनियावी झगड़ों से ऊपर ले जाती हैं, और सम्पूर्ण मनुष्य जाति के—और, और भी आगे बढ़कर प्राणिमात्र के—दुःख-शोक, राग-विराग, आह्लाद-आमोद को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देती हैं। वे पाठक के हृदय को इस प्रकार कोमल और संवेदनशील बनाती हैं कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थ को भूलकर प्राणिमात्र के दुःख-सुख को अपना समझने लगता है—सारी दुनियाँ के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। पुराने शास्त्रकारों ने इस प्रकार के मनोभाव को 'सत्वस्थ' होना कहा है।"[1] एक अन्य स्थान पर द्विवेदी जी ने 'सत्वस्थ' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—"जब काव्यार्थ इस प्रकार उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्त्वगुण का उद्रेक होता है—मनुष्य दुनियाँ की संकीर्णता से ऊपर उठता है, उसका चित्त प्रकाशमय और आनन्दमय हो जाता है। प्रकाश और आनन्द सत्त्वगुण के ही धर्म कहे जाते हैं, इसलिए जिस अवस्था में मनुष्य छोटे-मोटे स्वार्थ के अन्धकार से बाहर निकल आता है, संकीर्णता के भार से हल्का हो जाता है और एक आनन्द की अवस्था में आ

१—साहित्य का साथी—आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २

जाता है, उस समय सत्त्वगुण का उद्रेक हुआ करता है।"""रस की अनुभूति के समय ऐसा ही होता है।" प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने इसी रस की अनुभूति को लोकोत्तर आनन्द की संज्ञा दी है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध इत्यादि पुस्तकें इसी श्रेणी में आती हैं और यही 'रचनात्मक साहित्य' या संक्षेप में 'साहित्य' यहाँ हमारा विवेच्य है।

'साहित्य' शब्द नवीन नहीं है। इसका अर्थ प्रायः 'रचनात्मक साहित्य' के अर्थ में ही होता आया है। साहित्य की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। यहाँ हम हिन्दी भाषा के उद्भूत एवं विकसित साहित्य परम्परा का अध्ययन करने जा रहे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "हिन्दी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमान्त तक तथा उत्तरप्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को हम हिन्दी कहते आये हैं।" 'हिन्दी' शब्द की व्यापकता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी जी आगे लिखते हैं—"इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित हैं। सब का भाषा-शास्त्रीय ढाँचा एक जैसा ही नहीं है। साहित्य में भी किसी एक ही बोली के ढाँचे का सदा व्यवहार नहीं होता था, फिर भी हिन्दी साहित्य की चर्चा करने वाले सभी देशी-विदेशी विद्वान् इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यिक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों में होता रहा है।" उपर्युक्त विवेचन से दो शब्दों—साहित्य और हिन्दी—की स्थिति तो स्पष्ट हो चुकी है। अब इतिहास 'शब्द' को समझना भी आवश्यक है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में जनता की चित्तवृत्तियों की परम्परा के साथ साहित्य-परम्परा का सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' बतलाया है। उनके शब्दों में—"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा

को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।" इसी दृष्टिकोण से शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है—

आदिकाल— (वीरगाथा-काल, संवत् १०५०—१३७५)
पूर्वमध्यकाल— (भक्तिकाल, १३७५-१७००)
उत्तरमध्यकाल— (रीतिकाल, १७००-१९००)
आधुनिक काल— (गद्यकाल, १९००-१९८४)

आचार्य शुक्ल जी ने अपने काल विभाजन एवं नामकरण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है "यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को लें तो उसमें वीररस के अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढङ्ग की होगी जिस ढङ्ग की वीरगाथाकाल में हुआ करती थी।" किसी विशेष प्रवृत्तिमूलक रचनाओं के प्राचुर्य से यह अभिप्राय है कि शेष दूसरी प्रवृत्तिमूलक रचनाओं में से यदि किसी एक प्रकार की रचनाओं को लें तो वे संख्या में उनके समान न हों; यह नहीं कि और सब ढङ्ग की रचनाएँ मिलकर भी उनके समान संख्या में न हों। जैसे, यदि किसी काल में चार ढङ्ग की रचनाएँ १०, ७, ३ और २ के क्रम से मिलती हैं तो जिस ढङ्ग की पुस्तकें अधिक प्राप्त हैं उसकी प्रचुरता कही जायगी, यद्यपि अन्य पुस्तकें मिलकर संख्या में १२ हैं। इस काल-विभाग का दूसरा आधार ग्रन्थों की प्रसिद्धि है। जिस काल के भीतर एक ही प्रवृत्ति वाले बहुत से प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं उस प्रकार के ग्रंथ उस काल के लक्षण के अन्तर्गत माने जायँगे, चाहे और अनेक प्रकार के अप्रसिद्ध और साधारण कोटि के ग्रंथ इधर-उधर पड़े हों। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की परिचायक है। सारांश यह है कि उक्त दो सिद्धान्तों को सामने रख कर ही इतिहास-लेखक साहित्य के इतिहास

का काल-विभाजन एवं नामकरण करते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में बाँटा है, किन्तु नामकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी से उनका कुछ मत-भेद है। द्विवेदी जी ने हिन्दी के १००० वर्षों के साहित्य के इतिहास को निम्न-लिखित चार कालों में बाँटा है—

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—दसवीं से चौदहवीं शताब्दी।

२—भक्ति साहित्य—चौदहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग।

३—रीति काव्य—१६वीं शताब्दी के मध्य भाग से १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक।

४—आधुनिक काल—१६ वीं शताब्दी के मध्य भाग से आज तक।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का नाम शुक्ल जी ने 'वीरगाथाकाल' रखा है। शुक्ल जी के बाद आदिकालीन साहित्य की गहरी खोज हुई है और आज के ज्ञान के आलोक में वीरगाथा-काल नाम उपयुक्त नहीं ठहरता। शुक्ल जी ने इस काल के साहित्य की १२ पुस्तकों का उल्लेख किया है। वे ये हैं—विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्ति पताका, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक-जस-चन्द्रिका, परमाल रासो, खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति पदावली आदि। इनमें से विजयपाल रासो, खुमान रासो और बीसलदेव रासो परवर्तीकाल की रचनाएँ सिद्ध हो चुकी हैं; जयचन्दप्रकाश, जयमयंक-जस-चन्द्रिका, हम्मीर रासो नोटिस-मात्र हैं; विद्यापति पदावली, कीर्तिपताका प्रेम, शृङ्गार और भक्तिरस से अनुप्राणित हैं। अमीर खुसरो की पहेलियों से वीरगाथा का कोई सम्बन्ध नहीं है। पृथ्वी-राज रासो और परमाल रासो अर्द्ध प्रामाणिक रचनाएँ हैं। किन्तु इनमें वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई पड़ता है। कीर्तिपताका में भी यह स्वर विद्यमान है। इस प्रकार शुक्ल जी के नामकरण की आधारशिला ही खिसक चुकी है। किन्तु इतना ही नहीं, कुछ नवीन ग्रंथों की खोज हुई है और शुक्ल जी ने जिन ग्रंथों को धर्म से सम्बन्धित देख कर साहित्यकोटि से निकाल दिया था, उनको भी साहित्य-परिधि के अन्दर ले लिया गया है। उक्त समूचे साहित्य का अध्ययन करने पर चार प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं—

१—बौद्ध और नाथ सिद्ध तथा जैन मुनियों की उपदेशमूलक एवं रचनाएं।

२—वीरत्व के नवीन स्वर को मुखरित करने वाले चारण-चरित-काव्य।

३—लौकिक रस से अनुप्राणित अन्य रचनाएँ जैसे विरह काव्य (सन्देशरासक)।

४—फुटकल अन्य विषयों की कविता जैसे अमीर खुसरो की पहेलियाँ।

इन प्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर हम इस काल का नामकरण 'आदि काल' रख सकते हैं। 'आदिकाल' नामकरण से साहित्यिक प्रवृत्तियों का लक्षण निरूपण नहीं होता है। यह तो हिन्दी भाषा के साहित्य का आदिकाल है। साहित्य की परम्परा तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश के साहित्य में ढूंढ़ी जा सकती है, जिसका बढ़ाव आदिकालीन साहित्य में मिलता है। परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक रूढ़ियां एवं परम्पराएँ आदिकालीन साहित्य में मुखर रूप में प्रतिफलित हुई हैं। इस प्रकार दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्यिक प्रयत्नों का अध्ययन करने के लिए पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा के साहित्य की परम्परा का अध्ययन आवश्यक है। आदिकाल के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है इसके उद्‌भव की। यह कहना कि कब से अपभ्रंश रूढ़िग्रस्त होकर साहित्यिक मरण को प्राप्त हुई और उसका स्थान लोकभाषा या देशभाषा ने लिया, बड़ा कठिन है। साधारणतया आदिकाल का प्रारम्भ दसवीं शताब्दी से ही माना जा सकता है। एक बात और है, विद्यापति की रचनाओं का समय सम्वत् १४६० के लगभग माना जाता है जो आदिकाल की कालावधि से बाहर निकल जाता है, फिर भी शुक्लजी तथा अन्य इतिहास-लेखक उन्हें आदिकाल के भीतर मानते हैं। वस्तुतः विद्यापति की रचनाओं में अपभ्रंश की परम्परा भी है और देशभाषा का स्वरूप भी स्पष्ट हुआ है। शुक्लजी अपभ्रंश की परम्परा की समाप्ति आदिकाल में ही कर देना चाहते थे अतः इसका विवेचन आदिकाल में कर दिया है। इसके अतिरिक्त विद्यापति हिन्दी साहित्य में भक्ति और शृङ्गार की धारा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, जिनका भलीभांति स्फुरण क्रमशः भक्तिकाल और शृङ्गारकाल में हुआ। अतः यह भी सम्भव है कि शुक्लजी ने हिन्दी की भक्ति और शृङ्गारिक धारा

का मूल स्रोत आदिकाल में दिखाने के लिए ही विद्यापति का इस काल में उल्लेख किया हो। कुछ विद्वानों ने विद्यापति को भक्तिकालीन कवियों में भी स्थान दिया है।

भक्तिकाव्य की महिमा बहुत बड़ी है। भक्तिकाव्य की प्रधानता को लक्ष्य करके ही विद्वान् इतिहास-लेखक १४ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग अथवा १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के हिन्दी साहित्य के इतिहास को भक्तिकाल की संज्ञा देते हैं। इस काल की रचनाओं में भक्ति का विविध रूपी विकास एवं भारतीय संस्कृति का उत्कृष्ट रूप दिखलाई पड़ता है। इसीलिए बाबू श्यामसुन्दरदास ने कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे महान् कवियों के इस काल को स्वर्णयुग कहा है। इस काल में अनेक सम्प्रदाय होने के कारण भक्त कवियों में भक्ति भावना विषयक पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है किन्तु इन भिन्न सम्प्रदाय एवं मतावलम्बी कवियों की रचनाओं में एक सामान्य भक्ति की भावना के दर्शन होते हैं जो भक्तिकाव्य की मूलधारा की प्रेरणा है। इन कवियों में परस्पर अनेक वैचित्र्य एवं विचित्रता होते हुए भी जो सामान्य भावनाएँ प्राप्त होती हैं उन्हें लक्ष्य करके इस काल का नाम भक्तिकाल रखा गया है। इस काल में तीन विभिन्न धाराएँ प्रवाहित हुई हैं—पहली निर्गुण पंथी ज्ञानाश्रयी धारा, जिसके प्रवर्तक एवं समर्थक कबीर आदि सन्त हैं; दूसरी प्रेममार्गी सूफी धारा, जिसके प्रवर्तक एवं समर्थक जायसी इत्यादि सूफी कवि हैं, और तीसरी सगुण भक्ति की राममार्गी तथा कृष्ण-भक्ति की धारा जिसके प्रवर्तक एवं समर्थक क्रमशः रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य, तुलसी तथा सूर इत्यादि आचार्य एवं कवि हुए। यों तो सगुणमार्गी रामकाव्य की परम्परा शृङ्गारकाल में केशव तक खिच आती है और इसी प्रकार कृष्ण भक्ति काव्य की परम्परा का भी विकृत रूप रीतिकाव्य में दिखलाई पड़ता है। फिर भी भक्तिकाव्य के अन्तर्गत इन रचनाओं को नहीं लिया जाता। इसका कारण उनकी मूल प्रेरणा के स्वरूप की भिन्नता है।

विद्वान् इतिहास लेखक १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग से या १७ वीं शताब्दी से १९ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक रीतिकाव्य की परम्परा का स्वरूप विवेचन करते हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल में रीति-ग्रन्थों

का प्राचुर्य देखकर इसका नामकरण रीतिकाल किया है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस नामकरण से सहमत नहीं हैं। वे इस काल का नामकरण शृङ्गार काल करते हैं। शृङ्गार काल बड़ा व्यापक नाम है और इस काल के साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल के काव्य को दो भागों में विभक्त किया है—रीतियुक्त या रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त या स्वच्छन्द प्रेमधारा। रीतिबद्ध कवियों में बिहारी, केशव, देव, मतिराम इत्यादि प्रमुख हैं। इन कवियों ने अपने काव्य में रीति की प्राचीन परिपाटी का पालन किया है। रीतिमुक्त या स्वच्छन्द प्रेमधारा के प्रमुख कवि घनआनन्द, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव और पद्माकर हैं। इस प्रकार रीतिकाल नामकरण करने पर रीतिमुक्त कवियों की स्थिति कुछ डांवाडोल हो जाती है। इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर 'शृङ्गार काल' नाम उपयुक्त जान पड़ता है। इस नामकरण में इस काल की सामान्य प्रवृत्तियों का स्वरूप विवेचन हो जाता है। यों तो शृङ्गारकाल की कुछ और भी विशेषताएँ हैं। इस काल में भूषण जैसे वीररस के सिद्ध कवि भी हो गये हैं और गिरधर, वृन्द, बैताल जैसे नीति के दोहे, छप्पय एवं कुण्डलियाँ लिखने वाले कवि भी दिखलाई पड़ते हैं। यही नहीं इस काल में प्रबन्ध-काव्य और चरित काव्यों की परम्परा भी बराबर चलती रही है; जैसे सूदन कवि का 'सुजान चरित' तथा लाल कवि का 'छत्र प्रकाश'। इस प्रकार इस काल में विविध प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। इस पुस्तक में हमने रीतिकाल को शृङ्गारकाल की संज्ञा दी है।

अब आधुनिककाल के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। शुक्ल जी ने सं० १६०० से १६८४ तक के साहित्य रचना के आधुनिक काल को 'गद्य काल' की संज्ञा दी है। आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने १८०० से १६५२ ई० तक के साहित्य के इतिहास को आधुनिक काल माना है। वे प्रेस के उद्भव को ही आधुनिकता का वाहन मानते हैं और शुक्ल जी की भाँति इस काल को गद्यकाल ही मानते हैं। वस्तुतः इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना गद्य का विकास है। किन्तु इस काल में पद्य का भी विविधमुखी एवं महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। इसी काल की कविता में विविध वादों के दर्शन होते हैं। इन वादों का क्रमिक विकास इस प्रकार हुआ है—छायावाद, अभिव्यंजनावाद, हालावाद,

यथार्थवाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, इत्यादि ।

वस्तुतः आधुनिक काल अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है जिनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण कराने के लिये एक अलग साहित्य का इतिहास लिखने की आवश्यकता है । वास्तव में भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग तक तो आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों का विकास सीधे मार्ग से चला है किन्तु छायावाद के जन्म के साथ ही आधुनिक साहित्य नाना वाद एवं प्रवृत्तियों की बाढ़ में डूब गया और आज तक छुटकारा नहीं पा सका है । इन प्रवृत्तियों एवं वादों के आधार पर इस युग के अनेक विभाग किये जा सकते हैं तथा इन सबका मूल स्रोत एवं विकास की कहानी कहने के लिए एक पृथक ग्रन्थ का सृजन हो सकता है । हमने इस पुस्तक में स्थूल रूप से आधुनिक युग की काव्य की प्रवृत्तियों एवं गद्य के विभिन्न अंगों की प्रवृत्तियों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है । काव्य की प्रवृत्तियों के आधार पर आधुनिक काल के साहित्य का विवेचन इस प्रकार हुआ है—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगशील युग । इसी प्रकार के गद्य के विभिन्न आकार प्रकार के आधार पर उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना इत्यादि के उद्भव एवं विकास का संक्षेप में अध्ययन किया है ।

हिन्दी साहित्य के काल विभाग के सम्बन्ध में एक बात और है । इस काल विभाग से समय या काल की निश्चित अवधि की सूचना नहीं मिलती । प्रत्येक काल में सभी प्रकार की रचनाएँ होती रहीं हैं किन्तु फिर भी कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्राचुर्य लक्षित होता है । उन्हीं के आधार पर उस काल की साहित्यिक महत्ता का विवेचन होता है । उदाहरण के लिये भक्तिकाल में भी वीर-गाथात्मक रचनाएँ हुई हैं और यही नहीं, आदिकाल का प्रसिद्ध कवि विद्यापति काल क्रमानुसार भक्तिकाल में हुआ है तथा शृङ्गारकाल में भक्ति और वीर दोनों ही भावनाओं की सुन्दर अभिव्यंजना मिलती है । आधुनिक काल में भी वीररस पूर्ण भक्ति भावना से समन्वित एवं रीतिबद्ध शृङ्गारी रचनाएँ रची गई हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास का काल-विभाजन एवं नामकरण निश्चित कालावधि एवं सभी प्रवृत्तियों का निरूपण नहीं करता । यह तो अनुमानाश्रित काल-विभाजन है और इसी प्रकार नामकरण भी प्रमुख

प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर किया गया है। इस पुस्तक में हमने हिन्दी साहित्य के १००० वर्ष के इतिहास का काल-विभाजन एवम् नामकरण इस प्रकार किया है—

१—आदिकाल—दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक।

२—भक्तिकाल—चौदहवीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी के मध्य-भाग तक।

३—शृङ्गारकाल—१६ वीं शताब्दी के मध्य भाग से १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक।

४—आधुनिक काल—१६ वीं शताब्दी के मध्य भाग से आज तक।



हिन्दी साहित्य का आदिकाल

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

हिन्दी साहित्य की परम्परा कब से चली इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। साधारणतया इतिहासकारों ने दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के साहित्य-रचना काल को 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' कहा है। दसवीं शताब्दी से पहले साहित्यिक प्रयत्नों का विकास परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा में हुआ था। यह परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा में रचित साहित्य पर्याप्त विकसित एवं सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यंजना करने वाला है। इसी का विकसित रूप दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के देशभाषा या लोकभाषा के साहित्य में मिलता है। भाषा की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रंश का स्थान लोकभाषा या देशभाषा ने ग्रहण कर लिया था; किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से आदिकाल का साहित्य अपभ्रंश साहित्य का ही बढ़ाव है। भाषा-परिवर्तन की दृष्टि से ही इस काल का विशेष महत्त्व है। दसवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती साहित्य में देशभाषा का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट नहीं हुआ। जब अपभ्रंश भाषा परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हुई तब उससे उद्भूत तथा व्याकरण के नियमों की कठोर शृङ्खला से मुक्त बोलचाल की एक भाषा प्रचलित हुई। धीरे-धीरे इस लोकभाषा का व्याकरण-संस्कार हुआ, सभ्य समाज एवं साहित्य में इसका प्रयोग हुआ और क्रमशः इसने परिनिष्ठित अपभ्रंश का साहित्यक भाषा-पद ले लिया। जब दसवीं शताब्दी से धीरे-धीरे परिनिष्ठित अपभ्रंश 'साहित्यिक मरण' को प्राप्त हुई तब उसके स्थान पर बोलचाल की भाषा विकसित होकर साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस भाषा का नाम देशभाषा या लोकभाषा तभी से पड़ गया। अपभ्रंश के विरोध में यह लोकभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य' में लिखा है—"दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोकभाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है; उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई

देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकच्छत्र राज्य था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृति की प्रधानता मिलती है।" विद्यापति की 'कीर्तिलता' में इस प्रवृति का पूर्ण परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी जी ने आगे लिखा है कि—"दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्वरूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है।"

यहाँ तक तो भाषा की दृष्टि से विचार हुआ। वस्तुतः हिन्दी भाषा का प्रारम्भ दसवीं शताब्दी से हुआ और इसी आधार पर हिन्दी भाषा के साहित्य का प्रारम्भ भी दसवीं शताब्दी से माना जाता है। किन्तु जहाँ तक साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है, दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य दसवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा के साहित्य का ही बढ़ाव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"वस्तुतः छन्द, काव्य, रूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है।" दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के साहित्य की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए विद्वान आलोचकों ने इस काल को विविध नामों से पुकारा है। यहाँ हम कुछ नामों पर विचार करेंगे। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नामकरण इस काल की वीरगाथा की विशेष प्रवृत्तिमूलक रचनाओं को लक्ष्य करके वीरगाथाकाल किया है। शुक्लजी के नामकरण के सम्बन्ध में तीन बातें मुख्य हैं—पहली, इस काल में वीरगाथात्मक ग्रन्थों का प्राचुर्य; दूसरी अन्य ग्रन्थ जैन धर्म से सम्बन्धित होने के कारण नोटिसमात्र हैं तथा साहित्य की परिधि में नहीं आते और तीसरी मुख्य बात उन साहित्य

कोटि में आने वाली रचनाओं की है जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे हैं किन्तु जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। शुक्लजी ने आदिकाल की बारह रचनाओं का अपने इतिहास में उल्लेख किया है इनमें साहित्यिक पुस्तकें चार हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश है—

१—विजयपाल रासो (नल्लसिंहकृत सं० १३५५)

२—हम्मीर रासो (शार्ङ्गधरकृत सं० १३५७)

३—कीर्तिलता और

४—कीर्ति पताका (विद्यापतिकृत सं० १४६०)

देशभाषा काव्य की आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—

५—खुमान रासो (दलपतिविजय कृत सं० ११८०-१२०५)

६—बीसलदेव रासो (नरपतिनाल्ह कृत सं० १२१२)

७—पृथ्वीराज रासो (चन्दवरदाई कृत सं० १२२५—१२४९)

८—जयचन्द-प्रकाश (भट्टकेदार कृत सं० १२२५)

९—जयमयङ्क-जस-चन्द्रिका (मधुकर कवि कृत सं० १२४०)

१०—परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप जगनिक कवि कृत सं० १२३०)

११—खुसरो की पहेलियाँ आदि (अमीर खुसरो कृत सं० १३५०)

१२—विद्यापति की पदावली (विद्यापति कृत सं० १४६०)

शुक्लजी ने इन्हीं पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का लक्षण-निरूपण और नामकरण किया है। इनमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष नौ ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं इसलिए उन्होंने इस काल का नामकरण वीर-गाथाकाल किया है।

शुक्लजी ने मिश्रबन्धुओं द्वारा गिनाई गई 'आदिकाल' की दस पुस्तकों का उल्लेख करते हुए उन्हें जैन-धर्म से सम्बन्धित देख कर साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया है। इन ग्रन्थों के नाम ये हैं—

१. भगवद्गीता, २. वृद्ध नवकार, ३. वर्तमाल, ४. संमतसार, ५. पत्तलि, ६. अनन्य योग, ७. जम्बूस्वामी रासो, ८. रैवतिगिरि रासो, ९. नेमिनाथ चउपई, १०. उवएस माला (उपदेशमाला)।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ अन्य उत्कृष्ट अपभ्रंश भाषा की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनमें उच्चकोटि का साहित्य उपलब्ध होता है। शुक्लजी की दृष्टि में ये पुस्तकें नहीं आई थीं। इनमें से महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के नाम ये हैं—

सन्देशरासक (कवि अद्दहमाण या अब्दुलरहमान कृत ११ वीं श०)

वज्रस्वामिचरित्र	(अप्रकाशित)
अन्तरङ्गसन्धि	,,
चौरंगसन्धि	,,
सुलसाख्यान	,,
चच्चरी	,,
भावनासार	(जोइन्दुकृत)
परमात्मप्रकाश	(जोइन्दुकृत)
आराधना	(अप्रकाशित)
मयणरेहासन्धि	,,
नमयासुन्दरि सन्धि	,,
भविसयत्त कहा	(धनपाल नामक जैन कविकृत १० वीं श०)
पउमसिरीचरिउ	
तिसट्ठीलक्खण-महापुराण	(पुप्फयन्त या पुष्पदन्त कृत)
पउमचरिउ	(स्वयम्भू कृत रामायण) अप्रकाशित
हरिवंशपुराण	(स्वयम्भू कृत महाभारत) ,,
जसहरचरिउ	{ नाथूराम प्रेमी जी द्वारा प्राप्त ग्रन्थ पुष्पदन्त कृत
करकन्डुचरिउ १२ वीं शताब्दी सावयधम्म दोहा पाहुड़ दोहा	{ हीरालाल जैन द्वारा कारंजा के जैन भाण्डार से खोजे हुए ग्रन्थ (योगसार और मुनि रामसिंह कृत)

इसी प्रकार राहुल जी ने 'हिन्दी काव्य धारा' नाम से एक अपभ्रंश-काव्यों का संग्रह प्रकाशित कराया है जिसमें आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के कवियों का परिचय एवं काव्य का संकलन है। उनके मतानुसार यह अपभ्रंश वस्तुतः पुरानी हिन्दी ही है। इसीलिए उन्होंने आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध पउम-

चरिउ (रामायण) काव्य के रचयिता स्वयंभू को हिन्दी का प्रथम श्रेष्ठ कवि माना है। दूसरा स्थान उन्होंने पुष्पदन्त (राष्ट्रकूट के राजा कृष्णराज के आश्रित) को दिया है।

ऊपर जिन अपभ्रंश के काव्य ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है, उनमें कुछ रचनाएँ उच्चकोटि की हैं और साहित्य कोटि में आ सकती हैं। सन्देश-रासक, स्वयंभू की रामायण, भविसयत्त कहा, पउमसिरीचरिउ इत्यादि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जो जैनाश्रय में रचित एवं रक्षित होकर भी ऐसी साहित्यिक विशेषताएँ लिए हुए हैं कि उन्हें शुक्ल जी के अनुसार धर्म से सम्बन्धित होने के कारण साहित्य की कोटि से बाहर नहीं निकाला जा सकता। इन ग्रन्थों में धार्मिक आधार-भूमि होने के साथ ही वह सरसता भी है जो तुलसीदास के रामचरितमानस को धार्मिक-ग्रन्थों की परिधि मे खींच कर उच्चकोटि के साहित्य की श्रेणी में ला बैठाती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।" इस प्रकार अपभ्रंश के नवीन काव्य ग्रंथों की खोज एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन होने के बाद आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का इस काल का नामकरण उपयुक्त नहीं बैठता। शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुओं द्वारा उल्लिखित तथा अन्य अपभ्रंश ग्रन्थों को 'आदिकाल' के लक्षण निरूपण तथा नामकरण के लिए विवेच्य नहीं समझा था। आज नवीनतम खोजों के आधार पर तथा अन्य नवीन उत्कृष्ट अपभ्रंश के (पुरानी हिन्दी) काव्य-ग्रंथ प्राप्त होने से शुक्ल जी का दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, उन्होंने जिन १२ ग्रन्थों के आधार पर 'आदिकाल' के नामकरण का प्रयत्न किया है उनमें कुछ तो परवर्ती काल की रचानाएँ हैं, कुछ नोटिसमात्र हैं और कुछ वीरगाथाओं से रिक्त।

खुमान रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, विजयपाल रासो आदि ऐसी रचनाएं हैं जिनकी प्रामाणिकता में आज संदेह किया जाने लगा है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने ऐतिहासिक आधार एवं ठोस खोजपूर्ण तर्कों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि खुमान रासो के रचयिता को रावल खुमाण

(सं० ८७०) का समकालीन मानना गलत है। वास्तव में इनका रचना काल सं० १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक है। बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को मोतीलाल मेनारिया ने गुजराती के नरपति (सं० १५४५) नामक कवि से अभिन्न माना है। शार्ङ्गधर कवि के हम्मीर रासो की रचना का आधार 'प्राकृतपैंगलम्' में आए हुए कुछ पद्य हैं। यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस ग्रन्थ का भी आदिकाल का होना असंदिग्ध नहीं है। शिवसिंह सरोज में उल्लिखित शार्ङ्गधर कृत 'हम्मीर रासो' और 'हम्मीर काव्य' को ध्यान में रखकर और 'प्राकृतपैंगलम्' में आए हुये पद्यों के आधार पर 'हम्मीर रासो' की शुक्ल जी की कल्पना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। विजयपाल रासो को मिश्र-बन्धुओं ने सं० १३५५ का ग्रन्थ माना है। भाषा और शैली पर विचार करने पर यह ग्रन्थ भी परवर्ती काल की रचना प्रतीत होता है।

इसी प्रकार भट्ट केदार कृत 'जयचन्द-प्रकाश' (सं० १२२५) और मधुकर कवि कृत जयमयंक-जस-चन्द्रिका' (सं० १२४०) ग्रन्थ नोटिसमात्र हैं। केवल इनका उल्लेख सिंधायच दयालदास कृत 'राठोड़ारी ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है। शिवसिंह सरोज में इन दोनों कवियों को शहाबुद्दीन गौरी के दरबार का कवि माना है। वस्तुतः जब तक ये दोनों पुस्तकें प्राप्त नहीं हो जातीं तब तक इनके विषय में कुछ भी निश्चित एवं अन्तिम रूप से नहीं कहा जा सकता।

पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता में बड़े-बड़े विद्वानों ने अनेक त्रुटियाँ निकाली हैं। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता का विस्तृत विवेचन हम एक अलग अध्याय में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस ग्रन्थ में बहुत से अंश प्रक्षिप्त हैं तथा यह अपने मूल रूप से बहुत दूर हो गया है। इसीलिए यह भी अर्द्ध प्रामाणिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक रचना है। परमाल रासो भी अपने मूल-रूप से बहुत दूर हट गया है। यह भी पृथ्वीराज रासो की भाँति अर्द्ध-प्रामाणिक रचना है। जगनिक भाट का परमाल रासो या आल्हखण्ड आज इतना बदल गया है कि इसके मूल रूप को खोज निकालना बहुत कठिन हो गया है। हाँ, इन दोनों ग्रन्थों में वीरत्वपूर्ण स्वर सुरक्षित है।

अमीर खुसरो की पहेलियों में प्रारम्भिक हिन्दी का सुन्दर रूप मिलता है।

किन्तु खुसरो के नाम पर भी बहुत सी पहेलियाँ जोड़ दी गई हैं। दूसरे खुसरो की पहेलियों से वीरगाथा-काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं। अब विद्यापति की रचनाओं के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। विद्यापति की पदावली का विषय राधा तथा अन्य गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम लीला है। कीर्तिलता में विद्यापति ने अपने प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह की कीर्ति का गुण गाया है। इसमें यथाप्रसंग युद्ध के वर्णन आने से वीरत्व का स्वर भी पूर्ण रूप से मुखरित है। कीर्तिपताका मैथिली का ग्रन्थ है, इसकी एक खण्डित प्रति नेपाल दरबार पुस्तकालय में है। इसमें प्रेम कविताएँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान ज्ञान के आलोक एवं खोजों के आधार पर शुक्लजी द्वारा किया हुआ आदिकाल का नामकरण उपयुक्त नहीं ठहरता। उन्होंने जिन १२ ग्रन्थों को आदिकाल के लक्षण-निरूपण एवं नामकरण के लिए चुना, एवं उन १२ ग्रन्थों में वीरगाथा की प्रमुखता दिखलाई, उनमें से अधिकांश ग्रन्थ सन्दिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं। साथ ही जिन अपभ्रंश ग्रन्थों का बाद में पता चला है वे भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं और आज उन ग्रन्थों को देखते हुए शुक्लजी का नामकरण उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध है कि इस काल की सामन्ती रचनाओं में वीरत्व का बड़ा ओजस्वी स्वर सुनाई पड़ता है जिसमें तत्कालीन युद्ध के वातावरण की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

महापण्डित राहुलजी ने हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की साहित्य-सामग्री का विवेचन करके उसमें दो प्रवृत्तियों की प्रमुखता देख कर इस काल का नामकरण "सिद्ध-सामन्त युग' किया है। उन्होंने आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के काव्य में दो प्रमुख भाव पाए हैं—

१—सिद्धों की वाणी—इसके अन्तर्गत बौद्ध तथा नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष तथा उपदेशमूलक और हठयोग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ आती हैं। इसके अन्तर्गत धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित कुछ उत्कृष्ट जैन-धर्मावलम्बी कवियों की रचनाएँ नहीं आतीं।

२—सामन्तों की स्तुति—इसके अन्तर्गत चारण कवियों के चरित-काव्य

(रासो ग्रन्थ) आते हैं जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा एवं सामन्तों की स्तुति के लिए युद्ध, विवाह इत्यादि के प्रसंगों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इन ग्रन्थों में वीरत्व का नवीन स्वर मुखरित हुआ है।

राहुलजी के नामकरण से लौकिक रस से अनुप्राणित महत्त्वपूर्ण रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता। इस नामकरण को स्वीकार करने से हमारे साहित्य की प्रवृत्तियों का निरूपण भलीभाँति नहीं हो सकता। सन्देशरासक विद्यापति की पदावली, पउमचरिउ (रामायण) इत्यादि अनेक ग्रन्थों, जिनकी प्रवृत्तियों का विकास परिवर्ती साहित्य में हुआ था, का इस नामकरण से संकेत नहीं मिलता।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का लक्षण विवेचन करके इसका नाम 'बीज वपन काल' रखा। किन्तु यह नाम निश्चय ही उपयुक्त नहीं है। जैसे कि हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि साहित्यिक-प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल आदिकाल नहीं है। यह तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है। हाँ, हिन्दी भाषा की दृष्टि से यह काल आदिकाल है या हिन्दी भाषा में उच्च साहित्यिक प्रयत्नों का प्रारम्भ है।

कुछ आलोचकों को इस काल का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इनमें प्रसिद्ध विद्वान पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम ही विशेष महत्त्व का है। द्विवेदी जी ने आदिकाल के काव्य रूपों के उदभव एवं विकास की कहानी बिहारी-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सम्मुख मार्च सन् १९५२ में सुनाई थी जिसका पुस्तकाकार रूप 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' प्रकाशित हुआ है। इस कहानी के सुनने एवं पढ़ने के पश्चात् हिन्दी साहित्य के आदि-काल का अन्धकारमय प्रकोष्ट आलोकमय हो गया। इस नामकरण की एक भ्रामक धारणा की सम्भावना करके आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "वस्तुत: 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और स्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी; रूढ़ि-ग्रस्त

और सजग और सचेत कवियों का काल है।" और आगे द्विवेदीजी लिखते हैं—"यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का बढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्यरूप अङ्कुरित हुए हैं।"

सारांश यह कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल का लक्षण निरूपण करने में निम्नलिखित पुस्तकें सहायक सिद्ध होती हैं—

१—पृथ्वीराज रासो
२—परमाल रासो
३—विद्यापति की पदावली
४—कीर्तिलता
५—कीर्ति पताका
६—सन्देश रासक (अब्दुल रहमान कृत)
७—पउमचरिउ (स्वयंभू कृत रामायण)
८—भविसयत्त कहा (धनपाल कृत १० वीं शताब्दी)
९—परमात्म प्रकाश (जोइन्दु कृत)
१०—बौद्ध गान और दोहा
११—स्वयंभू छन्द
१२—प्राकृत पैंगलम्

अपने आलोच्य काल की इन प्रमुख पुस्तकों पर विचार करने पर हमें चार प्रकार की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं—

१—ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर चरित काव्य लिखने की 'कहाणी' प्रथा जैसे रासक ग्रन्थ, कीर्तिलता इत्यादि। इनमें कवि अपने नायक को भगवत्स्वरूप बताकर कहानी में थोड़ा धार्मिकता का पुट देने का प्रयत्न करते हैं। कीर्तिलता में विद्यापति ने इस प्रवृत्ति को इस प्रकार दर्शाया है—"पुरुष कहाणी हौं कहौं जसु पत्थावै पुन्नु।"

२—लौकिकरस की रचनाएँ लिखने की प्रवृत्ति, जैसे सन्देश रासक,

विद्यापति पदावली, कीर्तिपताका, स्वयंभू छन्द इत्यादि। सन्देशरासक की कहानी बहुत सरल एवं मर्मस्पर्शी है। यह एक विरहिणी का सन्देश है अतः विप्रलंभ-श्रृङ्गार की सुन्दर व्यंजना करता है। विद्यापति की पदावली एक धार्मिक सम्प्रदाय का धार्मिक ग्रन्थ है; साथ ही उसके पदों में श्रृङ्गार रस की सुन्दर व्यंजना है। कीर्तिपताका में प्रेम कविताएँ हैं।

३—बौद्ध एवं नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रुक्ष तथा उपदेश-मूलक और हठयोग का प्रचार करने वाली रचना लिखने की प्रवृत्ति। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन रचनाओं का महत्व दो कारणों से है, "एक तो परवर्ती धार्मिक काव्य रूपों के विकास में ये सहायक हैं, और उस धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायता पहुँचाती हैं जिसके बिना हम परवर्ती काव्य-प्रयत्नों को समझ ही नहीं पायेंगे, और दूसरे इनके अध्ययन से उस युग की भाषा, शैली, छन्दोविधान आदि का अध्ययन सुकर होता है।"*

४—धार्मिक रचनाएँ जिनमें उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। जैसे परमात्म प्रकाश, भविसयत्तकहा, पउमचरिउ, हरिवंश पुराण इत्यादि। 'भविसयत्तकहा' धार्मिक कथा है किन्तु इसमें उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। इन धार्मिक प्रेरणा एवं आधार को लेकर रचे गये काव्य ग्रन्थों में उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐसे धार्मिक ग्रन्थों को साहित्य कोटि में लेने के लिए बड़ा सुन्दर तर्क उपस्थित किया है—"राजशेखर सूरि जैन मत के साधू थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्ददास या हितहरिवंश वैष्णव धर्म के साधू थे। राजशेखर ने नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करते हुए 'नेमिनाथ फागु' लिखा था और नन्ददास ने अपने उपास्य की लीलाओं का वर्णन करते हुए रास-पंचाध्यायी। दोनों में ही धर्म-भाव प्रधान है और दोनों में ही कवित्व है। जिस प्रकार 'राधा-सुधानिधि' में राधा की शोभा के वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य बुद्धि से

* हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ८०

चालित है उसी प्रकार 'राजलदेवी' की शोभा में कवित्व भी है और वह उपास्य-बुद्धि से चलित भी है।"5

इन चार प्रमुख प्रवृत्तियों को दर्शाने वाली रचनाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं जैसे अमीर खुसरो की पहेलियाँ इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो गई है, वह यह कि केवल वीर-गाथात्मक ग्रन्थों पर दृष्टिपात करके इस काल का नामकरण 'वीरगाथा काल' रखना आज के ज्ञान के आलोक में उपयुक्त नहीं जान पड़ता। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के साहित्य में वीरत्व का एक नया स्वर अवश्य मुखरित हुआ है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन 'वीरगाथाकाल' नामकरण को अनुपयुक्त बतलाकर तथा वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रामाणिकता जाँचने में कुछ आलोचकों ने वीरगाथाओं के महत्त्व को भुला दिया है। मैंनारिया जी का यह मत देखिए—"ये रासो ग्रन्थ जिनको वीरगाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते, केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्म-जात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के मूल में है और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।" मैंनारिया जी का यह कथन निराधार है। जिन चारण भाटों की जन्मजात मनोवृत्ति की सूचक उत्साहवर्धक एवं प्रशंसा परक उक्तियों की ओर मैंनारिया जी ने संकेत किया है उनका चिह्न भी नहीं मिलता। चारण, भाटों की ऐसी निम्न कोटि की रचना तो उनके मुँह में ही रहती थीं और उनके साथ ही समाप्त हो जाती थीं। ऐतिहासिक चरित-नायकों को उपजीव्य बनाकर रचे गये रासो ग्रन्थ उच्च कोटि के साहित्यिक ग्रन्थ हैं तथा उस युग की राजस्थान की विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। यह चारण भाटों की प्रभुभक्ति एवं चाटुकारिता पूर्ण प्रशस्ति के परिचायक नहीं हैं वरन् उस युग की साहित्यिक मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। मैंनारिया जी ने इन रासक ग्रंथों को उसी

---

5 हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२-१३।

कोटि की रचना समझ लिया है जो युद्ध में राजाओं के साथ जाने वाले भाटों द्वारा सेना को प्रोत्साहित करने के लिए रची जाती थीं। इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि आदिकालीन कविता प्रमुख रूप से राज्याश्रय में पल्लवित हुई। राज्याश्रय में पल्लवित वीरगाथाएँ उस युग की दरबारी मनोवृत्ति की परिचायक हैं। हिन्दी के आदिकाल में अधिकांश कवि ऐसे हुए हैं जिन्हें समाज को संगठित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ साधन की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीरगाथा काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह के साथ किया है किन्तु उनमें वांछनीय राष्ट्रीय भावना का एक प्रकार से अभाव ही रहा है।

यहाँ तक हमने 'आदिकाल' की साहित्यिक प्रवृत्तियों के स्वरूप का संक्षेप में विचार किया और यह भी देखा कि भाषा परिवर्तन की दृष्टि से ही यह हिन्दी भाषा-साहित्य का आदिकाल है अन्यथा दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है। इस प्रकार 'आदिकाल' में दो भाषाओं का स्वरूप दिखलाई पड़ता है—एक तो परिनिष्ठित अपभ्रंश का और दूसरा उक्त अपभ्रंश से कुछ भिन्न भाषा का अथवा लोकभाषा का। दूसरे शब्दों में लोकभाषा का यह रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप है। यह आगे बढ़ी हुई भाषा भी गद्य और पद्य क्षेत्र में भिन्न-भिन्न रूप लिये हुए है। गद्य में इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था। विद्यापति की कीर्तिलता के गद्य में भाषा की इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—
अथ गद्य ।। तान्हि करो पुत्र युवराजन्हि माँझ पवित्र, अगणेयगुणग्राम प्रतिज्ञा पद पूरणैक परशुराम मर्यादामङ्गलावास कविताकालिदास, प्रबल रिपुवल-सुभटसङ्कीर्ण समरसहासदुर्निवार, धनुर्विद्यावैदग्ध्यधनञ्जयावतार समाचरित चन्द्रचूडचरणसेव समस्तप्रक्रियाविरमान महाराजाधिराज श्रीमद्वीरसिंहदेव ।[१]

१. कीर्तिलता—विद्यापति, सम्पादक बाबूराम सक्सेना, पृ० १२

परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का एकच्छत्र राज्य था। विद्यापति की कीर्तिलता से एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

अथ छपद

तसु नन्दन भोगीसराय, बर भोग पुरन्दर।
हुअ हुआसन तेजिकान्ति कुसुमाउँह सुन्दर॥
जाचक सिद्धि केदार दान पञ्चम बलि जानल।
पिअसख भणि पिअरोजसाह सुरतान समानल॥
पताये दान सम्मान गुणे जें सब करिअउँ अप्पवस।
बित्थरि अकित्ति महिमण्डलहि कुन्द कुसुम संकास जस॥[1]

यह देशभाषा अपभ्रष्ट का शुद्धरूप है। इसी को विद्वान आलोचकों ने परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई लोकभाषा या देशभाषा कहा है। यह साहित्यिक बन्धन से जकड़ी हुई परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही लोक में बोल-चाल में प्रचलित रूप था जिसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश के से बन्धन नहीं थे। यह बोल-चाल की भाषा थी और काव्यभाषा के तौर पर उसका प्रयोग दसवीं शताब्दी से प्रारम्भ ही हुआ था। डा० बाबूराम सक्सेना के मत में "कीर्तिलता के पढ़ने से यह विदित होता है कि विद्यापति के समय में आधुनिक भाषाओं का 'हिन्दी' 'मैथिली' आदि कोई नाम अभी प्रचलित नहीं हुआ था, भाषाएँ अभी अपभ्रंश ही कहलाती थीं। नहीं तो, विद्यापति एक ही वस्तु को 'देसिलवअना' और 'अवहट्टा' नहीं कहते।'[2] आगे डा० वर्मा ने कहा है "कीर्तिलता के अपभ्रष्ट को 'मैथिल अपभ्रंश' कहना उचित होगा।"[3]

गुलेरी जी ने साहित्यिक या परिनिष्ठित अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' की संज्ञा दी थी। उनके मत से साहित्यिक अपभ्रंश भाषा लगभग समूचे उत्तर

१. वही पृ० १०
२—३. कीर्तिलता—विद्यापति कृत—भूमिका डा० बाबूराम सक्सेना पृ० १९—२०

भारत में एक ही थी । किंतु प्रांतगत भेद के अनुसार उसमें कुछ-कुछ प्रादेशिक पुट अवश्य होते थे । उनके शब्दों में "कविता की भाषा प्राय सब जगह एक सी ही थी । जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता की भाषा ब्रजभाषा कहलाती थी, वैसे ही अपभ्रंश को भी 'पुरानी हिन्दी' कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "यह विचार भाषा शास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है । भाषा शास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिन्दी (खड़ीबोली, ब्रजभाषा, अवधी आदि) कहते हैं, वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई है । व्यवहार में पंजाब से लेकर बिहार तक बोली जाने वाली सभी उपभाषाओं को हिन्दी कहते हैं । इसका मुख्य कारण इस विस्तृत भूभाग के निवासियों की साहित्यिक-भाषा की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है । गुलेरी जी इस व्यावहारिक अर्थ पर जोर देते हैं ।" द्विवेदी जी आगे कहते हैं— "जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है । अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता । परन्तु जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंशसाहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है ।"[१] यही कारण है कि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के अध्ययन के लिए हमने ऊपर परिनिष्ठित अपभ्रंश के साहित्य का उल्लेख किया है । वस्तुतः आदिकाल के साहित्यिक प्रयत्नों को समझने के लिए पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन आवश्यक है । किन्तु भाषा की दृष्टि से 'आदिकाल' की भाषा हेमचन्द्र के शब्दों में 'ग्राम्य अपभ्रंश' है । हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाएं मानी हैं—एक परिनिष्ठित या साहित्यिक अपभ्रंश, जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं बनाया था और दूसरी 'ग्राम्य', 'अपभ्रंश' जो उक्त अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई अपभ्रंश है जिसे लोकभाषा या देशभाषा कहते हैं । इसी में बौद्ध और नाथ सिद्धों के पद और दोहे, सन्देशरासक, कीर्तिलता इत्यादि की रचना हुई है । प्रादेशिक पुट के अनुसार इस लोकभाषा के भी कई रूप दिखलाई पड़ते हैं जैसे राजस्थानी

---

१. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १६-१७

मिश्रित लोकभाषा, जिसका नाम डिंगल पड़ा और मैथिल मिश्रित लोकभाषा, जिसका रूप कीर्तिलता में देखने को मिलता है। आगे हम डिंगल के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करेंगे।

भाषा की दृष्टि से आदिकाल की साहित्यिक सामग्री का विवेचन करने पर हमें देश भाषा के तीन रूप मिलते हैं—राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश या लोकभाषा या देशभाषा, मैथिल मिश्रित अपभ्रंश या देशभाषा या लोकभाषा था राजस्थानी तथा खड़ी बोली मिश्रित देशभाषा। प्रथम प्रकार की देशभाषा का नाम डिंगल पड़ा और यह समूचे राजस्थान की साहित्यिक भाषा बनी। इसका छन्द-शास्त्र भी अलग था। इसमें अपभ्रंश से निकली हुई राजस्थानी का रूप मिलता है। वीरगाथात्मक रासक ग्रंथों में इस भाषा का स्वरूप देखने को मिलता है। वस्तुतः वीररस के लिए डिंगल भाषा ही उपयुक्त थी। भाषा की दृष्टि से डिंगल साहित्य बड़ा अव्यवस्थित है। उसका स्वरूप विकृत हो गया है। उसमें पिंगल का मिश्रण है और अपभ्रंश के प्रभाव के कारण संयुक्ताक्षरों एवं अनुस्वार शब्दों की प्रचुरता है। इसीलिए डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति खोजने में लोगों ने डिम+गल अर्थात् डमरू की ध्वनि से इसका सामञ्जस्य बैठाने का प्रयत्न किया है। इसका एक उदाहरण यहाँ अनुपयुक्त न होगा—

> घर उप्पर भर परत करत अति जुद्ध महा भर।
> कहीं कमध अरु सग्ग कहीं कर चरन अन्तर्हरि॥
> कहीं दंत मंत हयखुर उपरि कुम्भ भुसुण्डहि रुण्ड सब।
> हिन्दुवान राने भर भान मुख गही तेग चहुँआन जब॥

हमारे आलोच्यकाल की दूसरी प्रमुख भाषा मैथिल-मिश्रित देशभाषा है। इस भाषा का सुन्दर स्वरूप कीर्तिलता में देखने को मिलता है। विद्यापति की पदावली में मैथिली भाषा का शुद्ध रूप देखने को मिलता है। इसमें अवधी से भी समानता मालूम पड़ती है।

आदिकाल में राजस्थानी एवं खड़ी बोली मिश्रित देशभाषा का सुन्दर प्रयोग अमीर खुसरो की पहेलियों एवं मुकरियों में हुआ है। यह तत्कालीन जन-भाषा

के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी। यह दिल्ली और मेरठ की जनभाषा थी। भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का भी प्रयोग है पर क्रियाएँ हिन्दी की ही हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व कुछ साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाओं के सम्बन्ध में कहना अनुपयुक्त न होगा। साहित्यिक अपभ्रंश पुरानी हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषा है। इस दृष्टि से और साहित्यिक प्रयत्नों की परम्परा जानने के लिए हमने परिनिष्ठित या साहित्यिक अपभ्रंश के कुछ कवियों एवं उनकी रचनाओं का ऊपर उल्लेख किया है। अपभ्रंश भाषा के तीन प्रमुख कवि चतुर्भुज, स्वयंभू और पुष्पदंत हैं। चतुर्भुज कुछ प्राचीन हैं। स्वयंभू और पुष्पदंत का अपभ्रंश भाषा साहित्य में विशेष महत्व है। स्वयंभू की पउमचरिउ (रामायण) एवं स्वयंभूछन्द न केवल काव्यरूप एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से वरन् भाषा-विकास की दृष्टि से भी हिन्दी साहित्य के आदिकाल का अध्ययन करने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्ववर्ती अपभ्रंश की चरित काव्यों की परम्परा मे ही हम आदिकालीन साहित्यिक प्रयत्नों के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझ सकते हैं। इसी दृष्टि से अपभ्रंश भाषा के अन्य ग्रंथों का उल्लेख हमने आदिकाल के विवेचन में आवश्यक समझा है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के आदिकाल को भलीभाँति समझने के लिए हमें पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन करना ही पड़ता है। नये काव्यरूपों की उद्‌भावना एवं जन-चित्त की नवीन छन्दों की ओर जाने वाली प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए भी पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए अपभ्रंश भाषा का सबसे प्रिय काव्य रूप दोहा या दूहा है। 'दूहा' से स्वतः ही अपभ्रंश साहित्य का बोध होता है। यह छन्द अपभ्रंश भाषा में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके नाम-मात्र से अपभ्रंश साहित्य का बोध होता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में छप्पय पद्धति एवं वीर रस के उपयुक्त तोमर, नाराच इत्यादि काव्यरूपों का प्रयोग एक नवीन साहित्य मोड़ की सूचना देता है। पृथ्वीराज रासो तो छप्पय का ही काव्य है।

इस प्रकार हमने आदिकालीन साहित्य की रूप-रेखा का संक्षेप में अध्ययन किया। आगे हम आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

अपभ्रंश और देशभाषा

भाषा-शास्त्रियों का अनुमान है कि मध्य एशिया को छोड़कर जिस समय हमारे पूर्व पुरुष, प्राचीन आर्य, पंजाब में आकर बसे थे और उस समय वे जो भाषा बोलते थे, उससे वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई। इस वैदिक संस्कृत का ही परिवर्तित साहित्यिक रूप पीछे से संस्कृत कहलाया, जन-साधारण की बोल-चाल की भाषायें प्राकृत नाम से प्रसिद्ध हुईं। काल क्रमानुसार विद्वानों ने प्राकृत को दो भागों में विभक्त किया है—

(१) पहली प्राकृत। (२) दूसरी प्राकृत।

'पहली प्राकृत' पाली के नाम से प्रसिद्ध है, और 'दूसरी प्राकृत' प्राकृत के नाम से। आगे चलकर देशभेद के कारण प्राकृत के भी कई भेद हो गये—

शौरसेनी प्राकृत।
मागधी प्राकृत।
अर्ध-मागधी प्राकृत।
महाराष्ट्री प्राकृत।

धीरे-धीरे प्राकृत का भी साहित्यिक संस्कार होने लगा और इसे व्याकरण के नियमों में बाँधा जाने लगा, और ये भी शास्त्रीय भाषायें बन गईं। परन्तु जन-साधारण की भाषा का प्रभाव बढ़ता गया और कालान्तर में एक नवीन भाषा के रूप में आविर्भूत होकर अपभ्रंश नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका नाम अपभ्रंश उसी समय से पड़ा। जब तक यह बोलचाल की भाषा थी, तब तक यह 'लोक भाषा' अर्थात् बोलचाल की भाषा कहलाती रही। जब यह साहित्य की भाषा हो गई तब इसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। अपभ्रंश भाषा में ग्रंथ रचना होने का सबसे पुराना पता तान्त्रिकों और योग-मार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मिलता है। इसके पश्चात् दसवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में बहुत अधिक प्रचलित रही है। इसका प्रमाण हमें जैन ग्रंथकार देवसेन (सम्वत् ६९०) के श्रावकाचार नामक ग्रंथ में मिलता है जिसमें अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप व्यवहार में लाया गया

है। दसवीं शताब्दी के पश्चात् अपभ्रंश भाषा को 'साहित्यिक-मरण' के लिए बाध्य होना पड़ा। किन्तु प्रचलित साहित्यिक रूढ़ि के कारण इसका व्यवहार पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक होता रहा तथा कवियों ने इसमें रचनायें भी की। दसवीं शताब्दी के बाद इन रूढ़िवादी अपभ्रंश भाषा के कवियों की अपभ्रंश भाषा अपनी विशेषता लिये हुए है। उनकी अपभ्रंश भाषा में एक तो साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्दों की भरमार है दूसरे उन्होंने विभक्तियों, कारक चिह्न और क्रियाओं के रूप आदि भी अपने समय के कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस-घिसाकर जिस रूप में आ गई थी, केवल उसी रूप को न लेकर कवि और चारण आदि भाषा का वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनमें कई सौ वर्ष की कवि परम्परा अपनाती चली आती थी। इसी कारण इस भाषा को प्राकृताभास हिन्दी अर्थात् प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध हिन्दी कहते हैं। अपभ्रंश साहित्य अधिकतर दोहों के रूप में ही प्रतिष्ठित है, इसलिए अपभ्रंश के युग में दोहा या दूहा कहने से अपभ्रंश या प्रचलित भाषा के पद्य का बोध होता था।

जब अपभ्रंश भाषा बोलचाल की भाषा से साहित्य की भाषा के रूप में आ गई तब उससे उद्भूत होकर बोलचाल की भाषा उसके स्थान पर आई। धीरे-धीरे यह बोलचाल की भाषा तथा साहित्यिक रचनाओं के लिए उपयुक्त होती गई। जब दसवीं शताब्दी के बाद अपभ्रंश भाषा का 'साहित्यिक मरण' हुआ तब उसके स्थान पर यह बोलचाल की भाषा विकसित होकर साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस भाषा का नाम देशभाषा उसी समय से पड़ गया। अपभ्रंश के विरोध में यह देशभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त है। यह आदिकाल की प्रमुख साहित्यिक भाषा थी तथा इस काल के कवियों और चारणों ने इस भाषा में श्रेष्ठ काव्यों की रचना करके इसे गौरवान्वित किया। आज जो राजस्थानी भाषा देखने को मिलती है देशभाषा उसी भाषा का बहुत कुछ पूर्व रूप है। हिन्दी का सम्बन्ध इसी देशभाषा से है। इसके प्रारम्भिक रूप को पुरानी हिन्दी भी कहते हैं।

अपभ्रंश भाषा और देशभाषा के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने

की है. यह तो स्पष्ट ही है कि देशभाषा का प्रारम्भिक रूप अर्थात् पुरानी हिन्दी अपभ्रंश भाषा से ही निकली है, किन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अपभ्रंश भाषा का अन्त कब हुआ तथा पुरानी हिन्दी का प्रारम्भ कब हुआ। अब तक जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हुआ है उसके आधार पर इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था तथा पुरानी हिन्दी में बहुत अधिक एकरूपता है। उनमें इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर है कि दोनों के बीच में समय-भेद अथवा देशभेद की स्पष्ट रेखा अङ्कित करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिन्हें अपभ्रंश का भी कहा जा सकता है और पुरानी हिन्दी का भी। अपभ्रंश के उत्तर काल में देश की जैसी स्थिति थी वैसी ही पुरानी हिन्दी के प्रारम्भिक युग में भी वर्तमान थी। अतः स्पष्ट है कि देशभाषा और अपभ्रंश के समय के बीच एक सुनिश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती।

डिंगल भाषा की उत्पत्ति और उसका नामकरण

विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा का देश के भिन्न-भिन्न भागों में प्रचार रहा। कुछ समय बाद इसका भी प्राकृत का सा हाल हुआ और यह साहित्य-रचना में व्यवहृत होने लगी। इससे अपभ्रंश के भी दो रूप हो गये। एक रूप तो वह जिसका साहित्य में व्यवहार होता था दूसरा रूप वह जो जन-साधारण के विचार-विनिमय के प्रयोग में आता था। पहला रूप तो व्याकरण के नियमों में बंधकर स्थिर हो गया पर दूसरा रूप बराबर विकसित होता रहा जिसके कालांतर में तीन उपभेद हो गए—नागर, उपनागर और व्राचड़। इसमें नागर अपभ्रंश मुख्य था जिसका आधार शौरसेनी प्राकृत को माना गया है। इसी नागर अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का जन्म हुआ, जिसके साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी (बोलचाल की) से परिमार्जित होकर जो भाषा का रूप आया वह डिंगल कहलाया। अब प्रश्न यह है कि राजस्थानी भाषा का डिंगल नाम कब और क्यों पड़ा—इस विषय में भिन्न-

भिन्न मत हैं, जिनको संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

पहला मत—'डिंगल' शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू था। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुकरण करती थी। पर डिंगल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। इसलिए इसका यह नाम पड़ा।

—डा० एल० पी० टैसीटरी

समीक्षा—डिंगल वस्तुतः शिक्षित चारण-भाटों की भाषा थी। दूसरे राजदरबारों में डिंगल का ब्रजभाषा से अधिक सम्मान था, अतः शिष्ट समुदाय की भाषा गँवारू नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कथन कि, डिंगल अनियमित थी, ठीक नहीं है। यह व्याकरण के नियमों से मुक्त नहीं थी। छन्द, रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि का इसमें उतना ही ध्यान रखा जाता था जितना कि ब्रजभाषा में। हाँ, शब्दों की तोड़-मरोड़ अवश्य इसमें ब्रजभाषा से अधिक थी, किन्तु इसी आधार पर डिंगल को गँवारू मान लेना ठीक नहीं है। अतः डिंगल का अर्थ न तो गँवारू भाषा माना जा सकता है और न वह अनियमित थी जिससे उसका यह नाम पड़ा हो।

दूसरा मत—प्रारम्भ में इस भाषा का नाम 'डगल' था, परन्तु बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए 'डिंगल' कर दिया गया। उन्होंने अपने मत के समर्थन में एक प्राचीन गीत का अंश भी उद्धृत किया है, जो उन्हें कविराजा मुरारिदान से प्राप्त हुआ था; वह अंश इस प्रकार है—

'दोसे जंगल डगल जेय जल बगल चाटे।
अनुहुँता गल रिये गलाहुँता गल काटे॥'

—हरप्रसाद शास्त्री

समीक्षा—शास्त्री जी ने इस अंश का अर्थ नहीं दिया। केवल इतना ही कहा है कि, 'इससे स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरु देश की भाषा डिंगल कहलाती थी।' भाषा और रचना शैली की दृष्टि से भी यह पद सोलहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। किन्तु यदि इसे चौदहवीं शताब्दी का ही मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि आरम्भ में डिंगल का नाम 'डगल'

क्यों पड़ा। राजस्थानी में 'डगल' मिट्टी के ढेले या अनगढ़ पत्थर को कहते हैं। अतएव यदि डिंगल अपरिमार्जित भाषा थी तो किस परिमार्जित भाषा की तुलना में उसे यह संज्ञा दी गई। व्रजभाषा का तो चौदहवीं शताब्दी तक ऐसा प्रौढ़ रूप था नहीं कि डिंगल उसके सामने ढेले के समान असंस्कृत दीख पड़े। इस सम्बन्ध में एक और भी बात विचारणीय है। वस्तुतः कोई भी चारण अपने द्वारा प्रयुक्त साहित्यिक-भाषा को, जो उसकी उदरपूर्ति का साधन हो, डगल नहीं कह सकता।

तीसरा मत—डिंगल में 'ड' वर्ण बहुत प्रयुक्त होता है। यहाँ तक कि यह डिंगल की एक विशेषता कही जा सकती है। 'ड' वर्ण की इस प्रधानता को ध्यान में रखकर ही पिंगल के साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रक्खा गया है। जिस प्रकार पिंगल अलंकार-प्रधान भाषा है, उसी प्रकार डिंगल भी डकार-प्रधान भाषा है।

—गजराज ओझा

समीक्षा—यह मत निराधार है। डिंगल की दो-चार कविताओं में 'ड' वर्ण की प्रचुरता देखकर उसे इसकी प्रमुख विशेषता बतलाना तथा उसी आधार पर उसके नामकरण होने की क्लिष्ट कल्पना ठीक नहीं है। दूसरे, वर्ण की प्रधानता के कारण किसी भाषा का कोई नाम रक्खा गया हो यह भी नहीं देखा गया। तीसरी बात यह है कि पिंगल के साम्य पर इसका डिंगल नाम नहीं पड़ा, क्योंकि डिंगल भाषा पिंगल से अधिक पुरानी है।

चौथा मत—डिंगल शब्द डिम+गल से बना है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि और गल का गला होता है। डमरू की ध्वनि रणचंडी का आह्वान करती है तथा वह वीरों को उत्साहित करने वाली है। डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है। गले में जो कविता निकलकर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदय को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है। इसलिए वह डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई।

—पुरुषोत्तम स्वामी

समीक्षा—वास्तव में यह मत भी निराधार है। महादेव न तो वीररस के

देवता हैं और न डमरू की ध्वनि उत्साह-वर्धक मानी गई है। इन्द्र वीररस के देवता हैं और महादेव रौद्ररस के अधिष्ठाता।

पांचवां मत—राजस्थान में प्रसिद्ध मत यह भी है कि 'डिंगल' शब्द डिभ+गल से बना है। डिभ का अर्थ बालक है और गल का गला, इस प्रकार डिंगल का अर्थ बालक की भाषा करते हैं। जैसे प्राकृत किसी समय बाल-भाषा कहलाती थी वैसे ही डिंगल भी 'डिभगल' कहलाई।

(राजस्थान में प्रसिद्ध मत)

अन्य मत—पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार डिंगल शब्द पिंगल के साम्य पर बना है। किन्तु इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। पिंगल से भेद करने के लिए इस श्रुतिकटु भाषा को डिंगल नाम दिया गया है। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी, और उससे भेद करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। रामकर्ण आसोपा और ठाकुर किशोरीसिंह बारहठ ने डिंगल शब्द की उत्पत्ति क्रमशः 'डंगि' और 'डीङ' धातुओं से बतलाई है। इसी तरह कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर विचार प्रकट किए हैं, परन्तु उनके विचार उल्लेखनीय प्रतीत नहीं होते।

श्री मोतीलाल मैनारिया के मतानुसार आरम्भ में डिंगल चारण-भाटों की भाषा थी। इसके द्वारा ये लोग अपने आश्रयदाताओं के यश का वर्णन बहुत ही बढ़ा-चढ़ा कर किया करते थे। धन के लोभ से कायर को सूर, कुरूप को सुन्दर और मूर्ख को पंडित कह देना इनके लिए साधारण बात थी। इनकी कविता अतिशयोक्तिपूर्ण हुआ करती थी। वे डींग हाँका करते थे। अतएव जो भाषा डींग हाँकने के कार्य में प्रयुक्त होती थी, उसका सम्भवतः श्रोताओं ने डींगल नाम रख दिया जिसका परिमार्जित अथवा विकृत रूप यह आधुनिक शब्द डिंगल है। राजस्थान में वृद्ध चारण-भाट आज भी इसे डींगल नाम से पुकारते हैं। इस तरह से बने हुए और भी शब्द इस भाषा में मिलते हैं, जैसे—'अकबरिये इक बार दागल की सारी दुनी।' दागल शब्द

दाग+ल, (अर्थात् दाग युक्त) से बना है । दूसरे शब्द में भाषा काठिन्य का भाव भी निहित है ।

सारांश—इस प्रकार हम देखते हैं, कि डिंगल भाषा में साहित्य की रचना पिंगल में साहित्य रचना शुरू होने से पूर्व ही से हो रही है, अतएव पिंगल के आधार पर डिंगल नाम होने की अपेक्षा डिंगल के आधार पर पिंगल भाषा का नामकरण समीचीन प्रतीत होता है । इसका प्रयोग चारण-भाट अपने आश्रयदाताओं के यश का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने में किया करते थे । वीररस-प्रधान काव्य का ही इसमें (डिंगल भाषा में) सृजन अधिक हुआ है । शब्दों के साधारण रूपों की अपेक्षा द्वित्व वर्ण वाले रूपों का ही प्रयोग कविगण करते थे, और तोड़-मरोड़ अधिक होने के कारण यह भाषा जन-साधारण को कम बोधगम्य होती गई । आरम्भ में साधारण बोलचाल की राजस्थानी और डिंगल में कोई भेद नहीं था किन्तु कालान्तर में यह बोलचाल की राजस्थानी भाषा ही परिमार्जित होकर साहित्यिक हो गई । मेनारियाजी का यह मत कि डिंगल शब्द डींगल का परिमार्जित रूप है और इसका नाम डींग से युक्त भाषा इसलिए पड़ा क्योंकि इसमें कविगण आश्रयदाताओं के यश का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते थे, ठीक ही प्रतीत होता है । किन्तु एक बात अवश्य है कि मेनारिया ने डींग शब्द की व्युत्पत्ति नहीं दी तथा यह भी स्पष्ट नहीं किया कि इस शब्द (डींगल) का प्रयोग अपने आधुनिक अर्थ में राजस्थान में कब से होता है । किन्तु अन्य मतों से इनका मत युक्तिपूर्ण है और इसमें सार भी है । दूसरे इनका यह मत बहुत समीचीन है कि डींगल का डिंगल रूप अङ्गरेजों के कारण हो गया । डा० ग्रियर्सन आदि इस शब्द के उच्चारण से अपरिचित थे अतएव अपने ग्रन्थों में दोनों हिज्जः एक तरह से लिखी; Pingala और Dingala । Pingala का उच्चारण हिन्दी वाले पिंगल करते थे अतएव यह समझकर कि डींगल का भी इसी तरह उच्चारण होगा, उन्होंने इसे डिंगल बोलना और लिखना शुरू कर दिया । बाद में यहाँ के पढ़े-लिखे लोग भी इस शब्द का इसी रूप में प्रयोग करने लगे, और अब यही रूप हमारे सम्मुख आता है । परन्तु राजस्थान के वृद्ध चारणों में, जो डिंगल साहित्य का आदर करते हैं, आज भी इसे डींगल कहते हैं ।

राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं। इनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण इनके भिन्न-भिन्न नाम पढ़ गए हैं। मुख्य बोलियाँ पाँच हैं—मारवाड़ी, ढूढाड़ी, मालवी, मेवाती, और बागड़ी। डिंगल भाषा साहित्य की भाषा है जो मारवाड़ी भाषा अर्थात् बोलचाल की भाषा का परिमार्जित रूप है। यह एक तथ्य है कि हर समय दो भाषाएँ चलती हैं, एक साहित्यिक तथा दूसरी बोलचाल की या देश भाषा। साहित्यिक भाषा तो व्याकरण के नियमों से बद्ध होकर संकुचित परन्तु प्रौढ़ होती रहती है किन्तु बोलचाल की भाषा का स्वच्छन्दतापूर्वक विकास होता रहता है और कालान्तर में पुरानी साहित्यिक भाषा का ह्रास हो जाता है और जो बोलचाल की भाषा होती है वही परिमार्जित होकर उसका स्थान ग्रहण कर लेती है और उसके स्थान पर दूसरी बोलचाल की भाषा आ जाती है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इस प्रकार जब (राजस्थानी) बोलचाल की भाषा परिमार्जित होकर साहित्यिक-भाषा हो गई तो पिंगल उसका नाम पड़ा और उसके स्थान पर दूसरी बोलचाल की भाषा आई।

आदिकाल की पिंगल भाषा

पिंगल भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी भ्रम फैला हुआ है। पिंगल भाषा का वास्तविक स्वरूप क्या था तथा उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भी है अथवा नहीं—इस विषय में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। अभी तक किसी विद्वान ने पिंगल भाषा के विषय में निश्चित रूप से कोई प्रकाश नहीं डाला है। इसका विशेष कारण यही है कि आदिकाल के चारणों ने डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में कविताएँ लिखी हैं। एक ही कवि ने दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है, यही नहीं एक कवि की रचना में एक ही स्थल पर डिंगल और पिंगल दोनों भाषायें मिल जाती हैं। इस प्रकार भाषा-शास्त्री के लिए दोनों भाषाओं का विश्लेषण कर पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में बहुत कठिनाइयाँ हैं। कहीं-कहीं तो दोनों भाषाओं में कोई भेद ही नहीं दिखाई पड़ता और भाषा-वैज्ञानिक यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा के

अन्तर्गत हैं। पिंगल भाषा के सम्बन्ध में जो प्रसिद्ध विद्वानों के मत हैं वे निम्न-लिखित हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास अपने 'हिन्दी-साहित्य' में लिखते हैं—

"उसी प्रकार हिन्दी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्य ग्रन्थों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का निरूपण भी हो गया। हिन्दी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में 'पिंगल' कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा 'डिंगल' थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान रचना करते थे जो अपने ग्रन्थों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बन्धन भी जटिल होने लगे।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबू साहब के अनुसार पिंगल में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१—पिंगल आदिकाल की साहित्यिक भाषा थी।

२—वह एक संयत और व्याकरण सम्मत भाषा थी।

३—उसमें जैसे-जैसे साहित्यिकता बढ़ने लगी वैसे-वैसे उसमें नियमों के बंधन जटिल होने लगे।

डा० साहब के उपर्युक्त मत की समीक्षा करने पर वह विशेष सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता है। एक तो यह कहना अत्यन्त कठिन है कि पिंगल आदिकाल की प्रधान साहित्यिक भाषा थी भी अथवा नहीं। पिंगल में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जिन्हें न तो संयत ही कहा जा सकता है और न व्याकरण-सम्मत। इसके अतिरिक्त जहाँ तक नियमों की जटिलता का प्रश्न है वह डिंगल भाषा में भी मिलती है। कोई भी भाषा अधिक दिनों तक साहित्य में व्यवहृत होने पर नियमों की जटिलता से युक्त हो जाती है।

पिंगल के विषय में आचार्य शुक्ल स्वरचित "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में लिखते हैं—

"इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्य देश का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी।"

आचार्य शुक्ल का मत भी बहुत कुछ डा० श्यामसुन्दरदास के मत से मिलता-जुलता है। किन्तु शुक्लजी ने डा० साहब की भाँति पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप के साथ व्याकरण-सम्मतता, नियमों की जटिलता आदि की कोई पाबन्दी नहीं लगाई।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पिंगल और ब्रजभाषा में कोई भेद नहीं किया है। वे लिखते हैं—

"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रजबोली में साहित्य की रचना बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० वर्मा ने 'पिंगल' और ब्रजभाषा को एक माना है। इसके अतिरिक्त आपने 'पिंगल' का मध्य देश से सम्बन्ध बताकर राजस्थान से उसका कोई लगाव नहीं बताया है। किन्तु यह मत निराधार सिद्ध हो जाता है। वास्तव में पिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा का ही नाम है। हाँ यह अवश्य है कि मध्यदेश की बोलियों का 'पिंगल' के ऊपर प्रभाव काफी पड़ा है। पिंगल का साहित्यिक रूप ब्रजभाषा से प्रभावित अवश्य था किन्तु उसे ब्रजभाषा कहना बड़ी भूल होगी।

अब हमें राजस्थान में प्रचलित पिंगल सम्बन्धी मतों की भी संक्षेप में समीक्षा कर लेनी चाहिए। पिंगल भाषा के सम्बन्ध में मुन्शी देवीप्रसाद का कथन है—

"मारवाड़ी भाषा में गल्ल का अर्थ बात या बोली है। 'डींगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पांगला' पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

उपर्युक्त कथन की समीक्षा करने पर विदित हो जाता है कि पिंगल' राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी, ब्रजभाषा का राजस्थानी कवियों द्वारा उच्चरित रूप नहीं। किन्तु ऊँचे और नीचे के भेद से दो भाषाओं का भेद

करना ठीक नहीं है। वास्तव में डिंगल और पिंगल के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है।

कुछ विद्वान पिंगल के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं कि पिंगल वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा थी और उसका छन्द शास्त्र अलग होने के कारण उसका नाम पिंगल पड़ा। डिंगल का कोई स्वतन्त्र छन्द-शास्त्र नहीं है। संस्कृत में पिंगल छन्द को कहते हैं।

उपर्युक्त मतों पर दृष्टिपात करने से पिंगल के वास्तविक स्वरूप का कोई निश्चय नहीं हो पाता है। इतने परस्पर विरोधी मतों का अवलोकन करने से पिंगल भाषा के विषय में कोई सम्बद्ध विचार-धारा नहीं मिलती।

डिंगल और पिंगल का भेद

डिंगल और पिंगल इन दोनों भाषाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर बहुत मतभेद है, कुछ विद्वान तो इन भाषाओं को पृथक्-पृथक् नहीं मानते हैं तथा कुछ इन दोनों को दो भिन्न भाषाओं के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने पिंगल को ब्रजभाषा कहा है तथा डिंगल को राजस्थान की भाषा। कुछ लोगों का यह मत है कि 'पिंगल' एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी तथा डिंगल में उतनी साहित्यिकता नहीं थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि डिंगल और पिंगल के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। इस विषय में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। अभी तक किसी विद्वान ने पिंगल भाषा के विषय में निश्चित रूप से कोई प्रकाश नहीं डाला है। इसका विशेष कारण यही है कि वीरगाथा काल के चारणों ने डिंगल और पिंगल दोनों ही भाषाओं में कविताएँ लिखी हैं। एक ही कवि ने दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है, यही नहीं एक कवि की रचना में एक ही स्थल पर डिंगल और पिंगल दोनों भाषाएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार एक भाषाशास्त्री के लिए दोनों भाषाओं का विश्लेषण कर पिंगल भाषा के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने में बहुत कठिनाइयाँ हैं। कहीं-कहीं तो दोनों भाषाओं में कोई भेद नहीं जान पड़ता और भाषा-वैज्ञानिक यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा के अन्तर्गत हैं। अब हम

डिंगल और पिंगल भाषा के भेद के सम्बन्ध में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों के मतों का उल्लेख करेंगे। आचार्य शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

"इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी-भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह डिंगल कहलाता था।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी के अनुसार डिंगल और पिंगल का भेद निम्नलिखित है—

१—पिंगल एक सामान्य साहित्यिक भाषा है जब कि डिंगल केवल राजस्थान की साहित्यिक भाषा है।

२—पिंगल का ढाँचा ब्रज अथवा मध्यदेश की भाषा पर खड़ा हुआ है जब कि डिंगल अपभ्रंश और राजस्थानी के मिश्रण से बनी है।

इसी विषय पर प्रकाश डालते हुए डा० श्यामसुन्दरदास स्वरचित 'हिन्दी साहित्य' में लिखते हैं—

"उसी प्रकार हिन्दी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्यिक ग्रन्थों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का नियमित निरूपण भी हो गया। हिन्दी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में 'पिंगल' कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा 'डिंगल' थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान रचना करते थे जो अपने ग्रन्थों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यकता बढ़ने लगी और नियमों के बन्धन भी जटिल होने लगे। इसके विपरीत डिंगल भाषा का प्रयोग करने वाले राजपूताने और उसके आस-पास के भाट, चारण आदि थे और आरम्भ में उनकी भाषा साहित्य के नियमों से बहुत कुछ मुक्त थी।"

डा० साहब के मत की समीक्षा से यह स्पष्ट विदित होता है कि—

(१) पिंगल एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जब कि डिंगल केवल राजपूताने और उसके आस-पास की ही भाषा थी।

(२) पिंगल भाषा संयत तथा व्याकरण-सम्मत थी जब कि डिंगल भाषा में यह बात न थी।

(३) पिंगल भाषा में साहित्यिकता अधिक थी तथा वह नियमों से जकड़ी हुई थी जब कि डिंगल भाषा अपेक्षाकृत कम साहित्यिक थी और उसमें नियमों की जटिलता न थी।

आचार्य शुक्ल और डा० साहब दोनों के मतों को मिलाकर देखने से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक पिंगल को एक सामान्य साहित्यिक भाषा मानने का प्रश्न है वहाँ तक दोनों आचार्य सहमत हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ पिंगल भाषा के संयत और व्याकरण-सम्मत होने तथा डिंगल के नहीं होने का प्रश्न है, वहाँ शुक्लजी चुप हैं तथा डा० साहब इस मत के समर्थक हैं। किन्तु यह कहना कि डिंगल में व्याकरण सम्मतता और संयम का अभाव है तथा पिंगल में ये बातें अधिक हैं, भ्रम में डाल देता है। बहुत से स्थानों पर डिंगल भाषा के ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि हमें उनकी व्याकरण-सम्मतता और संयम के आगे पिंगल भाषा की कविता तुच्छ लगती है, इसके अतिरिक्त ऐसे स्थानों का भी अभाव नहीं है जहाँ पिंगल भाषा अपना संयम और व्याकरण-सम्मतता खोए हुए है।

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार पिंगल वास्तव में और कुछ नहीं है—ब्रजभाषा का पुराना रूप है—तथा डिंगल राजस्थान की भाषा का पुराना साहित्यिक रूप है। डा० वर्मा स्वरचित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पिंगल के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रजबोली में साहित्य की रचना विक्रम की बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था।"

इसी प्रकार डिंगल के विषय में भी डा० साहब लिखते हैं :—

"नागर अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थान की बोली साहित्यिक रूप में डिंगल के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

इस प्रकार डा० वर्मा के अनुसार:—

(१) पिंगल व्रज प्रदेश की भाषा है तथा व्रजभाषा का पूर्व रूप है और डिंगल राजस्थान की भाषा है तथा नागर अपभ्रंश से निकली है।

(२) साहित्यिकता पिंगल में भी है तथा डिंगल में भी पाई जाती है।

डा० वर्मा के मत की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिकता का अभाव डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में नहीं है। दोनों भाषायें साहित्यिकता की दृष्टि से पूर्ण हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास की एक बात खटकने वाली है। वह यह है कि पिंगल भाषा राजस्थान की ही भाषा थी व्रजप्रदेश की नहीं। डा० वर्मा ने उसे व्रजप्रदेशक माना है। यह भी पूर्णतया ठीक नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह व्रजप्रदेश की भाषा से बहुत कुछ प्रभावित थी, किन्तु उसे व्रजभाषा कह देना सरासर भूल होगी।

मुंशी देवीप्रसाद का कहना है कि "मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ बात या बोली है। 'डींगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पागला' पंग या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और व्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरी भाषा में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

इस प्रकार मुंशी जी भी डा० रामकुमार वर्मा की भाँति पिंगल भाषा को व्रजप्रदेश की और डिंगल को राजस्थान की मानते हैं। मुंशी जी ने जो ऊँचे स्वर और नीचे स्वर के अनुसार डिंगल और पिंगल में भेद किया है वह न्यायसङ्गत नहीं है। पिंगल की कविता भी ऊँचे स्वरों में पढ़ी जा सकती है तथा डिंगल की कविता नीचे स्वरों में, इस प्रकार ऊँचे और नीचे स्वरों के भेद से डिंगल और पिंगल का भेद करना कोई अर्थ नहीं रखता।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'डिंगल' अपभ्रंश के योग से बनी हुई राजस्थानी भाषा का साहित्यिक नाम था। डिंगल के तौल पर राजस्थानी कवियों ने एक और शब्द गढ़ लिया था, जिसका नाम है पिंगल।'

प्रादेशिक बोलियों के साथ मध्यदेशीय भाषा का मिश्रण होने से एक प्रकार की सर्वभारतीय भाषा बनी, जिसे हिन्दी में ब्रजभाषा या केवल 'भाषा' कहते थे। इसी श्रेणी की भाषा को राजस्थानी कवि पिंगल कहा करते थे।........ पिंगल छन्द-शास्त्र के रचयिता का नाम था, और इसीलिये उस काल की परिष्कृत भाषा (ब्रजभाषा) का नाम 'पिंगल' दे दिया गया है। .... सम्भवतः पिंगल का अर्थ हुआ शौरसेनी प्राकृत या ब्रजभाषा। युद्धों के प्रसंग में पृथ्वीराज रासो की भाषा डिंगल का रूप धारण करती है, किन्तु विवाह और प्रेम के सुकुमार प्रसंगों में वह प्रधान रूप से पिंगल ही बनी रहती है।"

सारांश यह है कि डिंगल और पिंगल के भेद का विषय बड़ा विवादग्रस्त है।

आदिकाल की वीरगाथाएँ

आदिकाल में वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई पड़ा। इस स्वर के स्वरूप को समझने के पूर्व तत्कालीन युग को बनाने वाली परिस्थितियों को समझ लेना आवश्यक है। भारतवर्ष के इतिहास में यह वह समय था जब मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार हो रहे थे। इसके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिमी प्रान्त के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिन्दुओं के बड़े-बड़े राज्य थे। हर्षवर्धन के निधन के पश्चात् भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता का केन्द्र बन गया था। कन्नौज, दिल्ली, अन्हलवाड़ा, अजमेर आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ प्रतिष्ठित थीं। उधर ही की भाषा शिष्ट समझी जाती थी और चारण लोग काव्य में उसी का प्रयोग करते थे। यही कारण है कि भक्तिकाल में जिस क्षेत्र में अवधी और ब्रजभाषा के महान् साहित्य का सृजन हुआ, आदिकाल में उस क्षेत्र के साहित्यिक प्रयत्नों का कोई परिचय नहीं मिलता। आज के हिन्दी भाषा क्षेत्र में जिन अपभ्रंश या देशभाषा की रचनाओं की सृष्टि हुई वे या तो लुप्त हो गई हैं अथवा अपने मूल अविकृत रूप में नहीं मिलतीं। इस प्रकार आदिकालीन उपलब्ध साहित्य प्रायः पश्चिमी भारत में रचा गया। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उस देश की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर पड़ी हो।

हर्षवर्धन के उपरान्त केन्द्रीय शासन टूट चुका था और खण्डों के स्वतन्त्र राजा प्रायः आपस में लड़ा करते थे। बीच-बीच में मुसलमानों के आक्रमण होते रहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक युग आंतरिक अशान्ति एवं बाह्य आक्रमण से त्रस्त युग था तथा अन्य क्षेत्रों में भी देश अवनति की ओर बढ़ रहा था।

इस युग के वातावरण में युद्ध-प्रिय वीर राजपूत अपनी स्तुति सुनना चाहते थे। उन्हें अन्य राजकीय गुणों को विकसित करने के लिए अवकाश ही कहाँ था। आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस युग के वातावरण का चित्रण इन शब्दों में किया है—"लड़ने वालों की संख्या कम थी, क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी। देश-रक्षा के लिए या धर्म-रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों में तथा सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था ; क्योंकि उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसङ्ग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार।" इस प्रकार चारणों का ध्यान वीरगाथा की सृष्टि में लगना सहज एवं स्वाभाविक था। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाई में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप में व्याप्त रहती है उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज सुनाई देती है। वीरत्व के नये स्वर की गूँज से आपूरित वीरगाथात्मक चरित काव्यों की प्रमुख विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—उनमें आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा एवं राष्ट्रीय भावना का अभाव है। उस समय छोटे-छोटे राजा परस्पर झगड़ते रहते थे और उनमें केन्द्रीय शक्ति को हथियाने की होड़ लगी थी। इस प्रकार उनके आश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह के साथ किया है किन्तु उनमें राष्ट्रीय भावना का पूर्णतया अभाव ही रहा है।

२—युद्धों के सुन्दर एवं सजीव वर्णन—कर्कश पदावली के बीच में वीर भावों से भरी हुई हिन्दी के आदिकाल की वीरगाथायें सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखतीं। दोनों ओर की सेनाओं के एकत्र होने पर युद्ध के साज-बाज तथा आक्रमण की रीतियों का जैसा वर्णन इस युग के कवियों ने किया, वैसा परवर्ती कवियों में देखने को नहीं मिलता। उनकी 'वीर वचनावली' में शस्त्रों की झङ्कार स्पष्ट सुन पड़ती है, और उनके युद्ध-वर्णन के सजीव चित्र वीर हृदयों में अब भी उल्लास उत्पन्न करते हैं।

३—वीरत्व का नया स्वर शृङ्गार से पोषित है। उस समय स्त्रियाँ ही प्रायः पारस्परिक वैमनस्य का कारण हुआ करती थीं। इसी कारण से वीरगाथाओं में उनके रूप का वर्णन करना कवियों को अभीष्ट था, इसीलिए कभी-कभी तो वीरगाथाओं की शोभा बढ़ाने के लिए कवि अपने चरित्र-नायक के विवाह एवं रोमांस की कल्पना कर लेते थे। युद्ध के समय ही नहीं, शान्ति के समय भी वीरों के विलास-प्रदर्शन में भी शृङ्गार का बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है।

४—ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का प्राचुर्य—जहाँ केवल प्रशंसा करना मात्र ही कविता का उद्देश्य रह जाता है, वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और नवोन्मेषशालिनी कविता को एक सङ्कीर्ण क्षेत्र में आबद्ध रखना पड़ता है। इस प्रकार वीरगाथाओं में कवियों ने चरित-वर्णन में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किए हैं। इसलिए कल्पना का प्राचुर्य एवं ऐतिहासिकता की उपेक्षा दिखलाई पड़ती है।

५—वीरगाथाओं में भावोन्मेष का अभाव है। कथा में वर्णनात्मकता अधिक है। वस्तुओं की सूची तथा सेना आदि का वर्णन आवश्यकता से अधिक है। यद्यपि इस वर्णनात्मकता का एकमात्र उद्देश्य नायक की शक्ति और वीरता की सूचना देना है। कहीं-कहीं ये वर्णन बहुत नीरस हो गये हैं। इस प्रकार वीरगाथाओं में कवि का आदर्श अपने चरित-नायक के गुण वर्णन तक ही सीमित है।

६—वीरगाथायें दो रूपों में उपलब्ध होती हैं—वीर गीतों के रूप में और प्रबन्ध-काव्य या चरित काव्य के रूप में। जहाँ तक चरित-काव्य का

सम्बन्ध है, ये वीरगाथायें पूर्ववर्ती जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की परम्परा में हैं। 'पृथ्वीराज रासो' एक महान् वीरगाथात्मक चरित-काव्य है। मुक्तक वीर गीतों का स्वरूप 'बीसलदेव रासो' इत्यादि में देखने को मिलता है।

७—वीरगाथाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता प्रबन्ध-काव्य में छन्द परिवर्तन की है। 'पृथ्वीराज रासो' में ही छन्दों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसङ्गानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।'

८—वीरगाथाओं के सम्बन्ध में एक बात और कहनी है, और वह है इसकी डिंगल भाषा की। यह वीरत्व के स्वर के लिए बहुत उपयुक्त भाषा है। चारण अपनी कविता को बहुत ऊँचे स्वर में पढ़ते थे और डिंगल उसके उपयुक्त ही थी।

९—वीरगाथायें अपने अविकृत मूल में प्राप्त नहीं हैं, अतएव उनके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन वीरगाथाओं का उल्लेख किया है उनमें से कई नोटिसमात्र हैं क्योंकि वे अप्राप्य हैं। कुछ के मूलरूप को काल की घात ने इतना बदल डाला है कि हम उनके सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। भाषा के विकास के अनुसार या तो उनका रूप ही बदल गया है अथवा उसमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश मिला दिये गये हैं। अतएव ये अर्द्ध-प्रामाणिक रचनायें मानी जा सकती हैं। इस प्रकार इन वीरगाथाओं की सच्ची समालोचना एक प्रकार से असम्भव है। जब तक हम भाषा-विज्ञान के अनुसार उस काल की भाषा का अध्ययन करके इन ग्रन्थों के मूल रूप का ठीक-ठीक अनुमान न कर लें तब तक इन ग्रन्थों का ठीक से मूल्यांकन नहीं हो सकता। इन रचनाओं का महत्त्व साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से उतना नहीं है जितना भाषा-विकास के अध्ययन की दृष्टि से। इन ग्रन्थों से हमारे आदिकाल के काव्य एवं भविष्य के साहित्य का पूर्वरूप एवं मूल समझ में आता है, इस कारण भी इनका विशेष महत्त्व हो जाता है।

वीरगाथाओं में वीररस का परिपाक

आदिकाल में वीरत्व का जो नया स्वर सुनाई पड़ा उसमें तत्कालीन देश की अशान्ति का स्वर निहित है। बाह्य विदेशी आक्रमणों एवं आन्तरिक हल-चल से गहरी अशान्ति फैली हुई थी। छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य केन्द्रीय सत्ता को हस्तगत करने के लिये सदैव युद्ध करते रहते थे। राजाओं की झूठी मर्यादा एवं अभिमान के कारण शान्ति एवं एकता प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी। यही कारण है कि चारण कवि अपने आश्रयदाताओं के अभिमान एवं उत्साह को बढ़ाने के लिए निरन्तर ओजस्विनी वाणी में वीरगाथाओं की रचना कर रहे थे। ये चारण कवि केवल ओजस्विनी कविता द्वारा ही नहीं वरन् अपने तलवार के कौशल से भी अपने आश्रयदाताओं की सेवा कर रहे थे।

साहित्य समाज का दर्पण है। जिस समय राजस्थानी काव्य का सृजन हुआ, उस समय देश के कोने-कोने में मार-काट मची हुई थी और सर्वत्र शस्त्र की ध्वनि सुनाई देती थी। अतएव साहित्य में भी उसी शस्त्र-ध्वनि का सुनाई पड़ना ठीक ही है। संस्कृत के कवियों की रचनाओं में वीर रस का अभाव होना एक कारण रखता था। प्रथम तो उस काल में देश में शान्ति थी, दूसरे सुख का साम्राज्य था, अतएव शृङ्गार रस की ओर ही कवियों की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है। दूसरे यदि संस्कृत में वीर रस पर कविता हुई भी है, और युद्ध-वर्णन आदि मिलते हैं तो वे इतने सजीव नहीं हैं जितने राजस्थानी साहित्य में उपलब्ध हैं। इनका मुख्य कारण यह है कि संस्कृत के कवि वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ थे। पहले तो यह बात विचारणीय है कि देश में शान्ति छाई हुई थी और कभी-कभी ही युद्ध होते थे, वे भी बहुत भयङ्कर नहीं। दूसरे संस्कृत के कवियों को रणस्थल का कुछ भी ज्ञान नहीं था। वे तो सुने-सुनाये वर्णनों के आधार पर अपने काव्य में युद्ध का चित्रण करते थे। इसीलिए वे युद्ध वर्णन के उतने सजीव चित्र प्रस्तुत नहीं कर सके। दूसरी ओर राजस्थानी साहित्य के रचयिता तलवार के धनी रहते थे तथा अवसर आ पड़ने पर स्वयं भी तलवार लेकर कूद पड़ते थे। अतएव उनके काव्य में युद्ध-वर्णन और वीर रस का जो इतना सुन्दर परिपाक हुआ है उसका मुख्य कारण है उनकी स्वयं

की अनुभूति। उनकी कविता सुने-सुनाए वर्णनों के आधार पर न होकर आँखों देखे और स्वयं किये हुए युद्धों पर है। यही कारण है कि युद्ध के इतने सुन्दर और सजीव चित्र राजस्थानी साहित्य में मिलते हैं।

राजस्थानी साहित्य में वीर रस की प्रधानता देखकर कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस भाषा में वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों की कविता हो ही नहीं सकती, किन्तु उनका यह निष्कर्ष भ्रमात्मक है। राजस्थानी काव्य में शृङ्गार आदि अन्य रसों का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, किन्तु यह वीर रस के सहायक के रूप में हुआ है। इतना अवश्य है कि जितना मार्मिक और स्वाभाविक वीर रस के उपादानों का वर्णन मिलता है उतना अन्य रसों के उपादानों का नहीं। इसके साथ ही एक विशेषता और भी है। संस्कृत, हिन्दी आदि के कवियों ने स्त्रियों को वीर रस के आश्रय या आलम्बन-रूप में ग्रहण नहीं किया है, परन्तु राजस्थानी कवियों ने उन्हें नहीं भुलाया। अतः नारी-समाज की वीर-भावनाओं को भी उन्होंने अपनी कविता में ला उतारा है, जो विश्व-साहित्य को उनकी अपूर्व देन है।

इस प्रकार राजस्थानी साहित्य की वीर-रस-पूर्ण कविता की मुख्य विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—**युद्ध-क्षेत्र के जीते-जागते चित्र उपस्थित करने में कवि बड़े सिद्धहस्त हैं**—उनके काव्यों में शस्त्रों की स्पष्ट झङ्कार सुनाई पड़ती है। सेना की सजावट तथा युद्ध-स्थल से सम्बद्ध अन्य बातों का बड़ा भव्य, मनोहर, सजीव और रोमहर्षण वर्णन राजस्थानी भाषा के कवियों की अपनी मौलिक विशेषता है। इतना सजीव और युद्ध-क्षेत्र का जीता-जागता चित्र इन कवियों की रचना में उपलब्ध होता है, कि आँखों के सामने सम्पूर्ण वातावरण प्रकृत रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है। इसका कारण यह है कि ये कवि स्वयं युद्ध-क्षेत्र में अपना रण-कौशल अवसर आने पर प्रदर्शित करते थे।

२—**दूसरी बड़ी विशेषता स्त्रियों को भी वीर रस के आश्रय और आलम्बन रूप में ग्रहण करना है**—राजस्थान की वीरांगनाओं के जौहर और उनके रण-कौशल से राजस्थानी कविता भरी पड़ी है। इसके साथ ही शृङ्गार रस वीर रस के सहायक रूप में आया है, क्योंकि कभी-कभी स्त्रियाँ भी युद्ध का

मूल कारण हुआ करती थीं। इस प्रकार वीर पुरुषों के अतिरिक्त वीरांगनाओं के युद्ध कौशल का सजीव और सुन्दर वर्णन राजस्थानी कवियों की अपनी विशेषता है। वीरांगनाओं के हृदय के वीर-भावों का सजीव चित्रण इन कवियों की विश्व-साहित्य को अपूर्व देन है।

अस्तु, राजस्थनी भाषा के साहित्य में वीर रस की अजस्र धारा बही है, परन्तु शृङ्गार ने भी उसे स्फूर्ति देने का काम किया है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि राजस्थानी साहित्य का वीर-रस का वर्णन हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है।

उदाहरण के लिए कुछ छन्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

उट्ठि राज प्रिथीराज बाग मनों लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मन वेग लगत मनों बीजु झट्ट घट॥

इन पंक्तियों में युद्ध के लिये तलवार निकालते हुए पृथ्वीराज का बड़ा सजीव वर्णन हुआ।

इसी प्रकार नीचे की पंक्तियों में युद्ध के चरमोत्कर्ष का वर्णन देखिये—

थकि रहे सूर्य कौतिक गगन, रगन मगन भइ सोन धर।
हरब हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नव रत्त वर॥

इसी प्रकार रण-भूमि की शोभा का सजीव वर्णन देखिए—

१— धर उप्पर भर परत करत अति जुद्ध महा भर।
कहौं कमध, कर मध्य, कहौं कर चरन अन्तरुरि॥

२— कहौं वंत मंत हय खुर उपरि कुम्भ भ्रसुण्डहि रुंड सब।
हिन्दुवांन राने भय भांन मुष गही तेग चहुँवांन जब॥

३— तुम लेहु लेहु मुष जंपि जोध हजाह सुर सब पहिरि क्रोध।
पहुँचे सु जाय तत्ते तुरंग मुष फिरन भूप फुरि जोध अंग॥
कम्मान बांन छूटहि अपार लागत लोहइमि सार भार।
घमसान घरन सब वीर खेत धन स्रोत बहत असरक्त रेत॥

सेनाओं और योद्धाओं का वर्णन भी देखिए कैसा सुन्दर और सजीव है। आँखों के आगे चित्र सा खिंच जाता है—

खुरासान सुलतान संधार मीरं बलख स्यों बल तेग अच्चूक तीरं।
मजारी चषो, मुष्ष जंबुक्क लारी हजारी-हजारी हुंकैं जोध भारी॥
तिनं पष्षरं पीठ हय जीन सालं फिरंगी कती पास सुकलात लालं।
एराकी अरब्बी पठी तेज ताजी तुरक्की महाबानं कम्मान बाजी॥

रासो ग्रन्थों की परम्परा

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत प्रचलित हैं। फ्रांसीसी इतिहाकार गार्सां द तासी इसकी उत्पत्ति 'राजसूय' से मानते हैं। किन्तु उनके पास इसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रासो' का मूल 'रसायण' शब्द से खोला है—"कुछ लोग इस शब्द का सम्बन्ध 'रहस्य' से बतलाते हैं। पर बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है।"८ नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' में एक ऐसी पंक्ति आयी भी है जिससे शुक्ल जी के मत का समर्थन होता है—"**नाल्हा रसायण आरम्भई शारदा तुठी ब्रह्मकुमारि।**" नरोत्तम स्वामी ने 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति रसिक शब्द से मानी है जिसका अर्थ प्राचीन राजस्थानी भाषा के अनुसार 'कथा-काव्य' होता है। इसी शब्द के रूप क्रमशः 'रासउ' और 'रासो' मिलते हैं। ब्रजभाषा में 'रासो' शब्द झगड़े के अर्थ में प्रचलित है। आचार्य चन्द्रवली पाँडेय 'रासो' शब्द की उत्पत्ति शुद्ध संस्कृत रूप 'रासक' से मानते हैं। संस्कृत साहित्य में 'रासक' की गणना रूपक किंवा उपरूपक में हुई है। पाँडे जी ने इस मत के समर्थन में पृथ्वीराज रासो के प्रारम्भ करने के ढंग का हवाला दिया है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ नट और नटी की भाँति कवि चन्द्र और उसकी पत्नी को लेकर हुआ है। आगे चलकर भी ग्रन्थ में रूपक का रूप बना रहता है। पांडेय जी के अनुसार रासो की

---

८ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३२।

रचना प्रदर्शन के हेतु हुई थी और पृथ्वीराज के यश का गायन इस प्रकार करने की प्रथा थी।

आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आदि काल के काव्य रूपों की कहानी कहते हुए 'रासो' शब्द पर भी विस्तार से विचार किया है। 'सट्टक' के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने 'रासो' या 'रासक' पर भी विचार किया है—"सो, सट्टक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नौटंकी की तरह। 'रासक' भी इसी प्रकार का एक रूपक भेद है और छन्द तो है ही। श्री हरिवल्लभ भायाणी ने सन्देशरासक की प्रस्तावना में रासक छन्द और काव्य रूप पर विचार किया है। उससे जान पड़ता है कि रासक एक छन्द का नाम है। संदेशरासक का यह मुख्य छन्द है। इस पुस्तक का एक तिहाई रासक छन्द में ही लिखा गया है। यह इक्कीस मात्राओं का छन्द है। अनुमान किया जाता है कि शुरू-शुरू में रासक जातीय ग्रन्थ प्रधानतः इसी छन्द में लिखे जाते होंगे।" इससे आगे द्विवेदी जी कहते हैं "विरहाङ्क ने अपने वृत्त-जातिसमुच्चय में दो प्रकार के रासक काव्यों का उल्लेख किया है। एक में विस्तारितक या द्विपदी और विदारी वृत्त होते थे और दूसरे अडिल्ल दोहा मत्ता रड्ड और रोला छन्द हुआ करते थे। सन्देशरासक दूसरी श्रेणी की रचना है। स्वयंभू अपने स्वयंभू छन्दस् में बताते हैं कि रासाबन्ध में घत्ता छड्डणिया (छप्पय ?) और पद्धड़िया के प्रयोग से जनमन-अभिराम हो जाता है....इससे पता चलता है कि उन दिनों रासोबन्ध काव्य का एक मुख्य भेद था और उसमें विविध छन्दों का प्रयोग होता था। पृथ्वीराज रासो इसी श्रेणी का काव्य है। इसमें रासक छन्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है।"

आचार्य द्विवेदी जी ने 'रासो' के सम्बन्ध में हिन्दी विद्वानों के अटकल की चर्चा करते हुए कहा है—"रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में यही भाव है। सट्टक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था। इन शब्दों का अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरंजन थे। परवर्ती राजस्थानी चरितकाव्यों में चरित-नायक के नाम के साथ 'रासो', 'विलास', रूपक आदि शब्द देकर ग्रन्थ

लिखना रूढ़ हो गया था । राजस्थानी में रणमल्ल रासो, राणारासो, संगत सिंह रासो, रतनरासो आदि रासो नामधारी ग्रन्थ बहुत हैं।" आगे द्विवेदी जी ने रासो से 'वीरगाथा' समझने की प्रवृत्ति को अनुचित बतलाया है। वे कहते हैं—"रासो या रासा नाम देखकर ही वीरगाथा समझ लेना अच्छे अध्ययन का सबूत नहीं है। शुक्लजी ने बीसलदेव रासो को स्पष्ट रूप से वीरगाथा के बाहर घोषित किया था और अब तो दर्जनों ऐसे रासो या रासानाम धारी ग्रन्थ मिले हैं जो वीरगाथा किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते। रासो केवल चरितकाव्य का सूचक है।"

उपर्युक्त विवेचन से 'रासो' की स्थिति स्पष्ट हो गई है। रासो आदिकालीन साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण काव्यरूप है। इससे जैन-अपभ्रंश साहित्य के चरितकाव्यों की परम्परा में रचे जाने वाले चरितकाव्यों की सूचना मिलती है। द्विवेदी जी के अनुसार इनका लोक में अधिक प्रचलन देखकर नाट्य-शास्त्रियों ने इनकी गणना रूपकों और उपरूपकों में की है किन्तु राजस्थानी साहित्य में यह चरितकाव्यों में चरितनायक के साथ रूढ़ हो गया। इसलिए आदिकाल में 'रासो' शब्द से रूपकों और उपरूपकों का कोई संकेत नहीं मिलता है। आदिकाल में निश्चय रूप 'रासो' राजस्थानी भाषा में रचित चारण कवियों के चरितकाव्यों का सूचक है। 'रासो' नामधारी चरितकाव्यों की सामान्य विशेषता ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व हो तथा जिसमें कथा चमत्कार एवं शौर्यपूर्ण महत्कार्यों की कल्पना से अतिरंजित होकर बड़ी भव्यता का प्रदर्शन करती हो।

आदिकाल में सिद्धों और योगियों की धारा

दसवीं शताब्दी से पूर्व ही बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का प्रचार भारत के पूर्वी भागों में बहुत अधिक था। ये बिहार से आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। चौरासी सिद्ध इन्हीं में से हुए हैं जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है। ये बौद्ध सिद्ध तान्त्रिक होते थे और अपने अलौकिक चमत्कारों से जनता को आतंकित किए हुए थे। वस्तुतः बौद्ध धर्म अन्तिम दिनों में मन्त्र-तन्त्र की साधना में बदल गया था। इन सिद्धों ने जनता में अपने मत के प्रचार के लिए संस्कृत के अतिरिक्त अपभ्रंश मिश्रित देशभाषा में भी

रचनाएँ कीं। इनकी रचनाओं में रहस्यमार्गी एवं योग की प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह म० म० पं० हर प्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान और दोहा' के नाम से बंगाक्षरों में प्रकाशित कराया। पूर्वी प्रयोगों की अधिकता देखकर उन्होंने इसकी भाषा को पुरानी बंगला कहा है। वस्तुतः यह साहित्यिक अपभ्रंश भाषा है। राहुल जी ने अपनी 'हिन्दी काव्यधारा' में इन सिद्धों की रचनाओं को प्रकाशित करके हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट किया। इन सिद्धों में सबसे पुराने सरह (सरोजवज्र भी नाम है) जिनका समय राहुल जी के अनुसार सम्वत् ८१७ है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इनका समय सं० ६९० निश्चित किया है। राहुल जी ने इन सिद्धों की भाषा को लोकभाषा के अधिक समीप देखकर इसे हिन्दी का प्राचीन रूप माना है। इसी मत के आधार पर काशीप्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम लेखक मान लिया है। इस समय सरहपा के अतिरिक्त शबरपा, भूसुकपा, लुइपा; विरूपा, डोंबिपा, दारिकपा, गुंडरिपा, कुकुरिपा, कमरिपा; कण्हपा; गोरपक्षा, तिलोपा, शान्तिपा इत्यादि सिद्धों की रचनाएँ प्राप्त हैं। इनमें से अधिकांश सिद्ध लगभग ९ वीं शताब्दी में हुये।

इनकी रचनाओं के देखने से पता चलता है कि इनकी शैली संधा या उलटबाँसी शैली है। ऊपर से इन रचनाओं का बड़ा कुत्सित अर्थ निकलता है किन्तु सम्प्रदाय के जानकार उसके मूल एवं साधनात्मक अर्थ को समझ सकते हैं। इनकी रचनाओं में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—

१—अन्तस्साधना पर ज़ोर पण्डितों को फटकार—

> पंडिम सअल सत्त बक्खाणई। देहहि बुद्ध बसंत जाणई।
> अमणागमण णतेनविखण्डिअ। तोवि णिलज्ज भणई हउँ पंडिअ।
>
> —सरहपा

२—दक्षिण मार्ग छोड़कर वाममार्ग का उपदेश—ये सिद्ध वाममार्गी प्रवृत्तियों को आश्रय देते थे और उसी का प्रचार करते थे, वंक मार्ग का उपदेश देखिए—

नाद न बिंदु न रवि न शशि मण्डल । चिअराअ सहावे मूलक ॥
उजु रे उजु छाडि मा लेहु रे बंक । निअहि बोहि मा जहु रे लंक ॥
—सरहपा

३—वारुणी प्रेरित अंतर्मुख साधना पर जोर—इन सिद्धों ने लोक विरुद्ध आचार-विचार बना रखे थे। ये अपने मार्ग में वारुणी का तथा अन्तर्मुख-साधना का महत्त्व वर्णन करते हैं—

सहजे थिर करि वारुणी साध । जेअजरामर होई दिढ़ कांध ।
दशमि दुआरत चिह्न देखइया । आइल गराहक अपणे बहिआ ॥
चउशिठ घड़िए देह पसारा । पइठल गराहक नाहि निसारा ॥
—विरूपा

४—रहस्यमार्गियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी वानी को पहेली या उलटवाँसी के रूप में रखते थे। ये अपनी वाणियों के सांकेतिक अर्थ भी बताया करते थे। इनकी वाणी को अटपटी वाणी कह सकते हैं। यही शैली आगे चलकर निर्गुण-मार्गी सन्तों ने अपनाई। कबीर में इसे उलटवाँसी कहा गया है। इसका रूप सूरदास में भी देखने को मिल जाता है। इस प्रकार आदिकाल की प्रवृत्तियों का परवर्ती साहित्य में विकास हुआ है। इस अटपटी वाणी का एक उदाहरण लीजिए—

बेंग संसार बाड़हिल जाअ । दुहिल दूधकि बेंटे समाअ ।
बलद बिआएल गविआ बांझे । पिटा दुहिए एतिना सांझे ।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी । जो सो चोर सोई साधी ।
निते निते षिआला षिहेषम जूझह 'ढेंढपाएर गीत विरले बूझअ ।
—तांतिपा

५—इन सिद्धों की योग-तंत्र की साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों के विशेषतः डोमिनी, रजकी आदि के-अबाध सेवन के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है।

गंगा जउना माझे रे बहई नाई ।
तहि बुड़िलि मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ।

वाहतु डोंबी, वाहलो डोंबी बाट त भइल उछारा ।
सद्गुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥

—कण्हपा

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में बौद्ध धर्म के तांत्रिक एवं भ्रष्ट रूप का विवेचन इस प्रकार किया है—"बौद्ध धर्म ने जब तांत्रिक रूप धारण किया तब उसमें पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों की भावना की गई जो सृष्टि का परिचालन करते हैं। वज्रयान में आकर 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुख की दशा की प्राप्ति मानी गई। इसे आनन्द स्वरूप ईश्वरत्व ही समझिए। निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गए—शून्य, विज्ञान और महासुख............ वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास-सुख के समान बताया गया। शक्तियों सहित देवताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली और उसकी नग्न मूर्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं-कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँचे-नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ बीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था।" कहने का तात्पर्य यह कि वज्रयान ने धर्म के नाम पर बड़ा दुराचार फैलाया।

इसी सिद्ध सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया में गोरखनाथ ने हठयोग का प्रवर्त्तन किया। यद्यपि उनके नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की उक्त वज्रयान शाखा है तथापि उन्होंने अपने सम्प्रदाय को वामाचार से अलग रखा। उनके सम्प्रदाय वाले योगी कहलाए। गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को विशेष महत्त्व प्रदान किया। यह शिव शक्ति के पुजारी थे इसलिए कुछ शृंगारमयी वाणी का पुट इनकी रचनाओं में मिलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी शैली में सहजयानी सिद्धों की शैली के तत्व देखे हैं। उनका मत है कि "परवर्ती हिन्दी साहित्य के निर्गुण मार्ग के साधक सन्तों ने इन्हीं नाथसिद्धों से इस शैली को प्राप्त किया है।"

इनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वान् इन्हें दसवीं तथा अन्य तेरहवीं शताब्दी का मानते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में "पृथ्वीराज के समय के आसपास ही विशेषतः कुछ पीछे—गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ़ होता है।" आगे एक स्थान पर उन्होंने कहा है "गोरखनाथ चाहे विक्रम की १० वीं शताब्दी में हुए हों चाहे १३ वीं में।" इस प्रकार शुक्लजी कुछ निश्चित नहीं कर सके। इस सम्बन्ध में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का मत ठोस प्रमाण पर आधारित जान पड़ता है। वे गोरखनाथ को १० वीं शताब्दी के आसपास मानते हैं—"दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तंत्रलोक में मच्छंद विभु या मत्स्येन्द्रनाथ की वंदना की है। इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ दसवीं शताब्दी के पूर्व अवतरित हुए थे। तिब्बती परम्परा के साथ तथ्य को मिलाकर देखें तो यह समय नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पड़ता है। गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, इसलिए उनका समय भी इसी के आसपास होगा।"

नाथपंथ के योगियों का मुसलमानों से परिचय था। इतिहास से यह बात सिद्ध है कि सूफी फकीरों ने इस्लाम का भारत में प्रचार करने का बहुत दिनों तक उद्योग किया। भारतीय मुसलमानों के बीच विशेष तौर पर सूफीपराम्परा में ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनमें किसी पीर ने किसी सिद्ध या योगी को करामात में पछाड़ दिया। हिन्दू और मुसलमानों के बीच इस प्रकार की तनातनी चल रही थी, उसी समय गोरख ने ईश्वर से मिलाने वाला योग हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए समान रूप में रखा। इस प्रकार नाथपंथी ग्रन्थों में समन्वय का विशेष महत्त्व है। नाथपंथ में मूर्तिपूजा, वेदाध्ययन, ब्राह्मण समाज, तथा ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति अवज्ञा प्रकट की गई है। ये लोग नाद और विन्दु के योग से जगत की उत्पत्ति मानते हैं।

आचार्य शुक्लजी ने सिद्धों और योगियों की रचनाओं में तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रहमूलक उपदेश, अन्तर्मुख साधना आदि साम्प्रदायिक शिक्षा देख कर उन्हें साहित्य की कोटि से बाहर कर दिया है। उनमें जीवन की स्वाभाविक अनुभूति एवं दशाओं का अभाव है। फिर भी शुक्लजी ने उनका दो कारणों से महत्त्व माना है। एक तो भाषा के विकास की दृष्टि से

सिद्धों की भाषा अपभ्रंश मिश्रित देशभाषा या लोकभाषा या पुरानी हिन्दी है। दूसरे इन रचनाओं से साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परम्परा का ज्ञान होता है। इन दो कारणों से हिन्दी साहित्य में हम नाथ तथा सिद्ध साहित्य का अध्ययन करते हैं। सिद्धों और योगियों ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसने आगे की साहित्यिक रचनाओं के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। उन्होंने योग के ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना की जिन्होंने आगे चलकर निर्गुण सन्तों को अत्यधिक प्रभावित किया। नाथपंथ का प्रभाव कबीर की रचनाओं पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यही नहीं, कबीर का तो लालन पालन ही नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में हुआ। तत्कालीन समाज में नाथपंथ के हठयोग की धूम मची हुई थी। हठयोगी सभी प्रकार के विलास के विरुद्ध थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी इनके साहित्य की परम्परा का इस प्रकार उद्घाटन करते हैं—"इन पदों में ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्य मांस के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाये जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण-प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी।" द्विवेदी-जी सिद्ध और योगमार्गी परम्परा के रूप में हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव मानते हैं। आप परवर्ती हिन्दी साहित्य के चिन्ता-पारतन्त्र्य और लोकमत की भावना के मूल में विदेशी शासन की प्रतिक्रिया न मानकर उसे बौद्ध-धर्म का प्रभाव मानते हैं।

आदिकाल के प्रमुख ग्रन्थों का परिचय

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की चर्चा समाप्त करने के पूर्व इस काल के कुछ प्रमुख ग्रंथों का परिचय देना उपयुक्त है। इस काल की रचनायें प्रायः तीन स्रोतों से प्राप्त होती हैं—

(१) राजकीय पुस्तकालयों में, जैसे आमेर के शास्त्र-भाण्डार मे प्राप्त अपभ्रंश की पुस्तकें। बीकानेर, जयपुर इत्यादि राज्यों के पुस्तकालयों में कुछ आदिकालीन ग्रन्थों की मूल-प्रतियाँ मिलती हैं।

(२) संगठित धर्म सम्प्रदाय का आश्रय पाकर—इस कोटि में वे रचनाएँ आती हैं जो जैन शास्त्र-भाण्डारों तथा बौद्ध मठों में सुरक्षित रहीं। जैन-शास्त्र-भाण्डारों में तीन प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं—एक तो जैन कवियों द्वारा धार्मिक आधारभूमि को लेकर चलने वाली परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाएँ, दूसरी लौकिक रस सम्बन्धी जैन कवियों की अपभ्रंश रचनाएँ और तीसरी जैनेतर अपभ्रंश और लोकभाषा की रचनाएँ।

(३) लोक परम्परा से सुरक्षित—इस कोटि में वे रचनाएँ आती हैं जिनका संरक्षण देश की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण अवनति को प्राप्त एवं अशान्ति के केन्द्रस्थल (मध्यप्रदेश) में न हो सका और जो केवल जनता के प्रेम और प्रोत्साहन को पाकर लोक परम्परा में बहती रहीं। इन रचनाओं का मूल रूप बहुत विकृत हो चुका है। कुछ रचनाएँ तो अपने मूल रूप को पूर्णतया खो चुकी हैं जैसे परमाल रासो या आल्हखण्ड। इस कोटि की रचनाएँ लोकभाषा में रची गईं।

बौद्ध धर्म के आश्रय में जिन रचनाओं का रक्षण हुआ उनका परिचय परवर्ती साहित्य में उनके खण्डन-मण्डन से भी मिलता है। आदिकाल में बौद्ध सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध एवं योगियों की रचनाओं में तन्त्र-मन्त्र की साधना पर बहुत जोर दिया गया था। वज्रयान और महायान में इसी प्रकार की साधना का प्राधान्य था। इन 'सिद्धों' के साहित्य का परिचय परवर्तीकाल में एक तो, सूफी कवियों की कथाओं में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकर के रूप में मिलता है और दूसरे सगुण एवं निर्गुण भक्त कवियों की रचनाओं में खण्डनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में प्राप्त होता है।

आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य' में आदिकाल की रचनाओं को दो श्रेणियों में बाँटा है—"एक तो जैन-भाण्डारों में सुरक्षित, और अधिकांश में जैन प्रभावापन्न परिनिष्ठित-साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ हैं और दूसरी लोक-परम्परा में बहती हुई आने वाली और मूल रूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोकभाषा की रचनाएँ। प्रथम श्रेणी में हेमचन्द के व्याकरण, मेरुतुंग के प्रबन्ध-चिन्तामणि, राजशेखर के प्रबन्धकोश आदि में संग्रहीत दोहे, अब्दुर्रहमान का सन्देशरासक तथा लक्ष्मीधर के

'प्राकृत पैंगलम्' में उद्धृत लोकभाषा के छन्द हैं। इनको हम प्रामाणिक रचना कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी की पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो आदि रचनाएं हैं जिनके मूल रूप बहुत परिवर्तित और विकृत हो गये हैं। इन्हें हम सन्दिग्ध-ग्रन्थ कह सकते हैं।"[1]

अब हम पहले आदिकाल में प्राप्त कुछ महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक रचनाओं का भी परिचय देंगे।

हेमचन्द्र का व्याकरण—जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा का व्याकरण बारहवीं शताब्दी में बनाया था। इस ग्रन्थ के अन्त में हमें अपभ्रंश काव्य के कुछ उदाहरण मिलते हैं जिनमें हिन्दी के प्राथमिक रूप की झलक दिखलाई पड़ती है। गुलेरीजी ने भी अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' की संज्ञा देने के लिए हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरण में आए हुए दोहों का उल्लेख किया है। सन् १८७७ ई० में सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन पं० पिशेल ने जर्मनी के हाल नगर से हेमचन्द्राचार्य के प्रसिद्ध व्याकरण का एक बहुत अच्छा सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया था। आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी के शब्दों में "आज भी यह ग्रन्थ भाषा-शास्त्रियों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण बना हुआ है जितना कभी भी था।" यह ग्रंथ भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही साहित्यिक दृष्टि से। इसमें अपभ्रंश काव्य के बड़े सुन्दर नमूने उदाहरणरूप में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्त्व बहुत अधिक है। इसमें आदिकालीन काव्यरूपों के प्रामाणिक लक्षण एवं ऐतिहासिक स्वरूप का परिचय भी मिलता है।

हेमचन्द्राचार्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'काव्यानुशासन' है। इसमें उन्होंने दो प्रकार की अपभ्रंशों की चर्चा की है—एक नागर अपभ्रंश दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश। नागर अपभ्रंश का व्याकरण हेमचन्द्र ने स्वयं लिखा था। हेमचन्द्र का लिखा हुआ एक काव्य ग्रन्थ कुमारपाल चरित या द्वाव्याश्रय काव्य है, जिसके २४ सर्गों में अनहिलवाड़ के राजाओं के कुमार चलिबल का

१—हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ४४

चित्रण है। बाद के आठ सर्गों में प्राकृत में कुमरपाल का वर्णन है। गुजरात के चालुक्यों के इतिहास की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है।

२—जैनाचार्य मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि—इसका रचनाकाल सं० १३६१ है। इसमें कवि ने पुराने राजाओं के आख्यान संग्रहीत किये हैं। इन्हीं आख्यानों के बीच में अपभ्रंश के प्राचीन एवं लोकप्रिय पद्य भी उद्धृत हैं। इन अपभ्रंश के पद्यों के कारण इस ग्रन्थ का हिन्दी के आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने में बड़ा महत्त्व हो गया है। इन अपभ्रंश के पद्यों में कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुंज के हैं। मुंज के दोहों में पुरानी हिन्दी की झलक मिलती है।

इस ग्रन्थ का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि यह प्रामाणिक है अर्थात अपने मूल अविकृत रूप में प्राप्त है। भाषा-वैज्ञानिक और साहित्यिक दोनों ही दृष्टियों से इस ग्रन्थ का महत्त्व है। इस ग्रन्थ में अपभ्रंश का लाडला छन्द 'दोहा' अपने पूर्ण सौन्दर्य में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार आदिकालीन काव्यरूपों को समझने में इस ग्रन्थ का महत्त्व स्पष्ट ही है।

३—सन्देशरासक—यह ग्रन्थ आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इसमें एक बड़ी सुन्दर प्रेम कहानी (विरह सन्देश) है। यह मुल्तान के ग्याहरवीं शताब्दी में कवि अद्दहमाण या अब्दुल रहमान का लिखा हुआ है। इस पर दो संस्कृत टीकाएं हुई हैं जिनमें एक टीका में चौदहवीं शताब्दी के टीकाकार ने कवि के मुंह से इस काव्य को सुनने की बात लिखकर इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका रचनाकाल निश्चित रूप से ११ वीं शती माना है—हेमचन्द्र के दोहों में सन्देशरासक के एक दोहे को उदाहृत देखकर इसे ग्यारहवीं शती का काव्य ही मानना ठीक जान पड़ता है!"

सन्देश रासक की कहानी बड़ी सरल एवं मर्मस्पर्शी है। इसमें एक विरहणी की विरह गाथा है। उसका पति कार्यवश मुल्तान गया था। वह पति के इन्तजार में घर से बाहर मार्ग में खड़ी है, उसे मुल्तान से आता हुआ एक पथिक मिलता है, उसे रोककर वह अपनी विरह दशा का वर्णन करती है।

पथिक बार-बार जाने को उत्सुक होता है किन्तु उसकी व्याकुलता को देखकर सहानुभूति से भर आता है और फिर उसका हाल सुनने लगता है। अन्त में पथिक द्रवित होकर पूछता है कि कब से तुम्हारा यह हाल है ? पथिक के इस प्रश्न से उसका दुःख फूट पड़ता है और वह भिन्न-भिन्न ऋतुओं का मिलन के पक्ष में महत्त्व बतलाते हुए अपने दुःख का वर्णन करती है। इस प्रकार विरह गाथा सुनाने के बाद वह अपने प्रिय के लिए कुछ सन्देश भेजती है। यह सन्देश बड़ा करुण है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"इस सन्देश में ऐसी करुणा है, जो पाठक को बरबस आकृष्ट करती है। उपमाएँ अधिकांश में यद्यपि परम्परागत और रूढ़ ही हैं, तथापि बाह्य-वृत्त की वैसी व्यंजना उसमें नहीं है जैसी आन्तरिक अनुभूति की। ऋतु वर्णन के प्रसंग में बाह्य-प्रकृति इस रूप में चित्रित नहीं हुई जिससे आन्तरिक अनुभूति की व्यंजना दब जाय। प्रिय के नगर से आने वाले अपरिचित पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार के दुराव का भाव नहीं है। वह बड़े सहज ढंग से अपनी कहानी कहती जाती है। सारा वातावण विश्वास और घरेलू-पन का वातावरण है।"

इसके बाद कवि अचानक ही अन्त में मिलन की योजना करके वातावरण को बड़ा उत्तेजक बना देता है। विरहिणी अपना व्याकुल सन्देश सुनाकर ज्यों ही घर की ओर लौटने को कदम बढ़ाती है त्योंहि उसका पति दक्षिण दिशा से आता हुआ दिखाई देता है। कवि ने इस 'अप्रत्याशित' मिलन की उत्तेजक घटना से पाठकों को आशीर्वाद दिया है कि इसी प्रकार इस काव्य को पढ़ने वालों की इच्छाएँ भी पूर्ण हों। यह एक पुरानी कथानक-प्रथित रूढ़ि है जिसका निर्वाह कवि ने बड़ी कुशलता से किया है।

'सन्देशरासक' अपभ्रंश का महान ग्रन्थ है। यह अपने साहित्यिक सौंदर्य के कारण ही इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु यह ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है। हिन्दी का आदिकालीन काव्य प्रायः लुप्त एवं विकृत हो गया है, इसलिए 'सन्देशरासक' जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों से ही उस काल के अन्धकारपूर्ण वातावरण में प्रकाश की ज्योति प्राप्त की जा सकती है। आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाओं से आदिकाल में वीरगाथा की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त किया था। यह ग्रन्थ 'रासो' से भिन्न प्रवृत्तियों एवं साहित्यिक प्रयत्नों का परिचय देता है। यह

विरह काव्य अपने करुण विरह वर्णन से 'ढोला मारू' की मारवाड़ी की परंपरा का परिचय देता है। इसी से परवर्ती सूफी काव्य पद्मावत की नागमती विरह वर्णन की परम्परा एवं स्वरूप को समझा जा सकता है। पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने पृथ्वीराज रासो से इसकी भिन्नता इन शब्दों में व्यक्त की है—"पृथ्वीराज रासो प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है, और सन्देशरासक विरह पक्ष का; रासो काव्य रूढ़ियों के द्वारा वातावरण तैयार करता है और सन्देशरासक हृदय की मर्म-वेदना के द्वारा। 'रासो' में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और 'सन्देशरासक' में भीतर का। रासो नये-नये रोमांस प्रस्तुत करता है और संदेशरासक पुरानी प्रीति को निखार देता है।"१

'संदेशरासक' में अपभ्रंश के लाड़ले छन्द 'दोहा' की भाववाहन योग्यता का सुन्दर परिचय मिलता है। 'दोहा' अपभ्रंश का अपना काव्यरूप है। इसके अतिरिक्त अडिल, मत्ता, रड्ड और ढोल छन्द का भी इस ग्रन्थ में सुन्दर प्रयोग है। 'रासक' छन्द इस ग्रन्थ का मुख्य छन्द है। 'रासक' इक्कीस मात्राओं का छन्द है। 'सन्देशरासक' का लगभग एक तिहाई हिस्सा इसी छन्द में लिखा गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि शुरू-शुरू में 'रासक' ग्रन्थों का सृजन इसी छन्द में होता था। इस प्रकार सन्देशरासक से हमें 'रासक' गेयरूपक रूप का पता चलता है। यह उद्धत प्रयोग प्रधान मसृणोद्धत ढंग का गेयरूपक है। इस प्रकार आदिकालीन काव्य रूपों को समझाने में 'सन्देशरासक' का बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ है।

४—**प्राकृत पैंगलम्**—इस ग्रन्थ में उदाहृत लोक भाषा के छन्द हैं। इसके सङ्कलनकर्ता लक्ष्मीधर हैं। इस ग्रन्थ में जो कविता उद्धृत हैं उनमें हम हिन्दी के आदिकालीन साहित्य का स्वरूप देख सकते हैं। यह ग्रन्थ प्रामाणिक है इसलिए इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इस ग्रंथ में संग्रहीत कविताओं को देखने से एक बात जो बिलकुल स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि हिन्दी का आदिकाल साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से आदिकाल नहीं है वरन् भाषा की दृष्टि से ही इसका यह नामकरण उपयुक्त ठहरता है। जहां तक साहित्यिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है हिन्दी साहित्य के आदिकाल में पूर्ववर्ती

१—हिन्दी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ७२-७३।

साहित्यिक अपभ्रंश के साहित्य की प्रवृत्तियों का बढ़ाव ही दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि आदिकाल का साहित्य बहुत प्रौढ़ साहित्यिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराता है। इसकी परम्परा पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रयत्नों में मिलती है। इस ग्रन्थ में प्राकृत तथा अपभ्रंशों के छन्दों का सुन्दर विवेचन है।

'प्राकृत पैंगलम' में विद्याधर, शार्ङ्गधर, जज्जल, बब्बर आदि कवियों की रचनायें मिलती हैं। विद्याधर काशी-कान्यकुब्ज-दरबार के एक बहुत ही कुशल एवं विद्वान मन्त्री थे। यह जयचन्द्र के बहुत विश्वासपात्र मन्त्री थे। कविता करने के साथ ही ये कविता के बड़े मर्मज्ञ भी थे। इनके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि इन्होंने परमर्दी राजा के मन्त्री उमापतिधर के एक सुभाषित पद पर प्रसन्न होकर जयचन्द्र से उसके राज्य का घेरा उठवा लिया था। शुक्लजी के शब्दों में "यदि विद्याधर को सम-सामाजिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी समझा जा सकता है।" इनकी देश-भाषा में रचना देखकर यह अनुमान होता है कि जयचन्द्र के दरबार में देशभाषा का मान था। उदाहरण के लिये एक छन्द है—

भअ भंजिअ बंगा भग्गु कलिंगा
तेलंगा रण मुक्कि चले
मरहट्ठा दिट्ठा लग्गिअ कट्ठा
सोरट्ठा भअ पाअ पले
चंपारण कंपा पव्वअ झंपा
ओत्था ओत्थी जीवहरे
काशीसर राणा किअउ पआणा
विज्जाहर भण मंतिवरे। ऽ

प्राकृत पैंगल के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि शार्ङ्गधर हैं। इनका एक आयुर्वेद का ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इन्होंने एक सुभाषित ग्रन्थ का भी निर्माण किया जिसमें अपना परिचय भी दिया है। यह ग्रन्थ 'शार्ङ्गधर पद्धति' के नाम से प्रसिद्ध

ऽ प्राकृत पैंगल, २४४।

है। इस ग्रन्थ में दिए हुए इनके परिचय से इनका रचनाकाल १४ वीं शती के अन्तिम चरण में माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में बहुत से शाबर मन्त्र एवं भाषा-चित्र-काव्य हैं। बीच-बीच में देशभाषा काव्य के नमूने भी मिलते हैं। शिवसिंह सरोज में चन्द की औलाद में एक शार्ङ्गधर कवि की चर्चा आई है। इनके रचे हुए 'हम्मीर रैरा' और 'हम्मीर काव्य' नामक दो भाषा काव्यों का भी उल्लेख है। शुक्ल जी ने शार्ङ्गधर के बनाये हुए 'हम्मीर रासो' नामक वीरगाथा काव्य की चर्चा की है। उनके शब्दों में "वह काव्य आजकल नहीं मिलता—उसके अनुकरण पर बहुत पीछे लिखा हुआ एक ग्रन्थ 'हम्मीर रासो' नाम का मिलता है। प्राकृत पिंगल-सूत्र (प्राकृत पैंगलम) उलटते पलटते मुझे हम्मीर की चढ़ाई, वीरता आदि के कई पद्य छन्दों के उदाहरण में मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीर रासो' के हैं।" उदाहरण के लिए—

पिंधउ दिढ़ सण्णाह बाहु उप्पर पक्खर दइ ।
बन्धु समदि रण धसेउ साहि हम्मीर बअण लइ ॥
उडुल णहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहि डारउ ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउँ ॥
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ ।
सुरताण-सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउँ ॥

उक्त पद में 'जज्जल भणइ' पद से राहुल जी ने इसे जज्जल कवि की रचना माना है किन्तु शुक्ल जी ने जज्जल नामक पात्र की उक्ति मानकर उक्त पद को असली 'हम्मीर रासो' का पद्य माना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पुष्ट प्रमाण के अभाव में इस रचना को संदिग्ध मानते हैं।

इन दो कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों का भी 'प्राकृत पैंगलम्' में महत्त्वपूर्ण योग है। ग्यारहवीं शती के कवि बब्बर और तेरहवीं शती के कवि 'जज्जल' की देश भाषा की रचनाओं का भी अपना महत्त्व है। राहुल जी ने अपनी 'काव्य-धारा' में इन कवियों की रचनायें उद्धृत की हैं और इनकी भाषा को 'पुरानी हिन्दी' माना है।

सारांश यह है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल की साहित्यिक एवं भाषागत रूढ़ियों एवं परम्पराओं का अध्ययन करने के लिए 'प्राकृत पैंगलम्' में महत्त्व-पूर्ण सामग्री मिलती है। यह एक प्रामाणिक रचना है, इस कारण से आदि-कालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए इसका स्वभावतया अत्यधिक महत्त्व है।

५—जैन कवि धनपाल कृत भविषयत्त कहा—राहुल जी ने जैन कवि धनपाल की रचनाएँ अपने संग्रह 'काव्य धारा' में उद्धृत की हैं और इन्हें दसवीं शती का माना है। उन्होंने इनकी भाषा को पुरानी हिन्दी माना है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने जैन कवि धनपाल का समय सं० १०८१ माना है। उन्होंने इन्हें पुरानी राजस्थानी का कवि माना है। यद्यपि इनकी भाषा प्रायः साहित्यिक अपभ्रंश ही है तथापि हिन्दी साहित्य के आदिकाल की परम्परा समझने में इनके ग्रन्थों का अपूर्व योग है। शुक्ल जी ने प्रायः जैन कवियों की रचनाओं में धर्मभाव का संस्पर्श पाकर उन्हें साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आदिकालीन साहित्य के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण गवेषणा की और इन कवियों को पुनः साहित्य क्षेत्र में स्थापित करके आदिकाल की परम्परा का उद्घाटन किया।

जैन कवि धनपाल कृत 'भविषयत्त कहा' चरितकाव्य आज बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। यह एक धार्मिक कथा है किन्तु साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट काव्य है। आचार्य द्विवेदी जी ने इस धार्मिक कथा के साहित्यिक महत्त्व की इस प्रकार पुष्टि की है—"धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिरपरिचित प्रथा है। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है न सूफियों की।" द्विवेदी जी ने भविषयत्त कहा तथा अन्य जैन कवियों के लिखे चरित-काव्यों की चर्चा करते हुए आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के अध्ययन

में इनके महत्त्व का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—"इन चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक रूढ़ियों, काव्य रूपों, कवि प्रसिद्धियों, छन्दयोजना, वर्णन-शैली, वस्तु-विन्यास, कवि कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।"S

६—विद्यापति की कीर्तिलता—विद्यापति की 'कीर्तिलता' × का हिन्दी साहित्य में दो कारणों से महत्त्व है—एक तो भाषा परिवर्तन की दृष्टि से दूसरे साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से। विद्वानों ने इस पुस्तक का निर्माण-काल सन् १३८० के लगभग माना है।

'कीर्तिलता' का विषय कवि के आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह का गुणगान है। यह एक अपूर्व ऐतिहासिक काव्य है। पृथ्वीराज रासो से यह अपने ऐतिहासिक महत्त्व के कारण भिन्न हो जाता है। कवि ने अपने समसामयिक राजा का गुणगान बड़ी अलंकृत भाषा में किया है फिर भी कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पित घटनाओं एवं सम्भावनाओं से धूमिल नहीं होने दिया है। इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता उस काल की संस्कृति का यथार्थ चित्रण है। उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक चारों प्रकार की परिस्थितियों का कवि ने चित्र-सा उतार दिया है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान क्या खान, क्या वेश्यायें, क्या सेना के सिपाही सभी का बड़ा जीवित चित्रण कीर्तिलता का साहित्यिक सौन्दर्य बढ़ाता है। यही नहीं, अपने नायक के चरित्र-चित्रण में भी कवि ने बड़े कौशल से काम लिया है। जहाँ ग्रन्थ में कीर्तिसिंह का उज्ज्वल वीर रूप स्पष्ट है वहीं जौनपुर के सुलतान फिरोजशाह के सामने उसका अति नम्र रूप भी प्रकट हुआ है। कवि ने इस ऐतिहासिक तथ्य को दबाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि

S हिन्दी साहित्य—लेखक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २१।

× डा० बाबूराम सक्सेना द्वारा सम्पादित और का० ना० प्र० स० द्वारा सं० १९८६ में प्रकाशित।

नायक का नम्र भक्तिमान रूप अपनी भव्यता में पाठक की सहानुभूति को अपनी ओर खींच लेता है।

कीर्तिलता के काव्यरूप की चर्चा करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "ऐसा जान पड़ता है कि कीर्तिलता बहुत कुछ उसी शैली में लिखी गई थी, जिसमें चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज-रासो लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवाद रूप में है; इसमें भी संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग है। संस्कृत और प्राकृत के छन्द रासो में बहुत आए हैं......रासो की भाँति कीर्तिलता में भी गाथा (गाहा) छन्द का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआ है। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत और प्राकृत के पदों में तथा गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयास किया गया है, जो अपभ्रंश परम्परा के अनुकूल ही है।" द्विवेदी जी ने इसमें 'पद्धडिया बंध' शैली का प्रयोग देखकर इसे अपभ्रंश काव्यों की कथा-साहित्य की परम्परा में माना है। विद्यापति ने इसे 'कथा' की संज्ञा न देकर 'काहाणी' कहा है। संभवतः पूर्ववर्ती कथाकाव्यों के कुछ लक्षणों के अभाव में ही विद्यापति ने अपने काव्य को कथा से भिन्न समझ कर 'काहाणी' कहा है। जैसा कि पूर्ववर्ती अपभ्रंश-चरित काव्यों एवं पृथ्वीराज रासो से स्पष्ट है, कथा-काव्य में राज्यलाभ के साथ ही कन्याहरण, गन्धर्व विवाह एवं बहुविवाह का प्राधान्य रहता है, कीर्तिलता केवल राज्यलाभ तक ही सीमित है। इस दृष्टि से कीर्तिलता पृथ्वीराज रासो से भिन्न हो जाती है। यही कारण है कि कीर्तिलता में इतना अधिक कल्पित घटनाओं एवं संभावनाओं का आयोजन नहीं हो पाया जितना पृथ्वीराज रासो में है। इसमें से रोमांस के प्रकरण के निकल जाने से बहुत सी कल्पित घटनाओं के लिए स्थान ही नहीं रहा है। साथ ही कवि की दृष्टि में यथार्थ चित्रण का आदर्श भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। वस्तुतः कीर्तिलता से पूर्ववर्ती कथाकाव्यों में गद्य का प्रयोग होने लगा था। संस्कृत के 'चंपू' काव्यों की यह प्रवृत्ति कीर्तिलता में भी विद्यमान है।

कीर्तिलता का भाषा विकास की दृष्टि से भी महत्त्व है। कीर्तिलता में परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा के दर्शन होते हैं। विद्वान इतिहासकारों ने आदिकाल की भाषा का अध्ययन करके यह बात

सिद्ध कर दी है कि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का उपलब्ध साहित्य परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य है। विद्यापति ने इसे 'अवहट्ठ' कहा है। इसमें तत्कालीन मैथिली का मिश्रण है। कीर्तिलता के अध्ययन से हमें लोकभाषा के विकास का स्वरूप ज्ञात होता है। आदिकाल में जो परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा मिलती है उसकी दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ कीर्तिलता में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। पहली प्रवृत्ति गद्य में तत्सम शब्दों के व्यवहार की है और दूसरी पद्य में तद्भव शब्दों के एकच्छत्र राज्य की।

सारांश यह है कि आदिकाल की प्रामाणिक रचनाओं में 'कीर्तिलता' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

७—**चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो**—रासो के रचयिता चन्द का परिचय मिश्रबन्धुओं ने अपने 'हिंदी नवरत्न' में इस प्रकार दिया है—"महाकवि चन्दबरदाई वास्तव में हिन्दी के प्रथम कवि हैं। इनके पहले भी भुवाल, पुषी आदि कवि हो गए हैं, परन्तु नाम सुनने के अतिरिक्त उन सबकी रचना आदि पढ़ने का हम लोगों को सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। चन्दबरदाई की कविता से प्रकट होता है कि वह प्रौढ़ रचना है और छन्द आदि की रीतियों पर उसमें ऐसा अनुगमन हुआ है कि जान पड़ता है, यह महाशय दृढ़ रीतियों पर चलते थे और स्वयं इन्हीं ने हिन्दी-काव्य-रचना की नींव नहीं डाली।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दबरदाई का समय संवत् १२२५-१२४६ माना है। वे इन्हें हिन्दी का प्रथम महाकवि तथा महाराज पृथ्वीराज के राजकवि, सखा एवं सामन्त मानते हैं। रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जंगात नामक गोत्र के थे। इनका जन्म लाहौर में और पालन-पोषण अजमेर में हुआ। इनका और पृथ्वीराज का जन्म और मरण प्रायः एक ही तिथि को माना जाता है। मिश्र बन्धुओं का मत है कि ये पृथ्वीराज से बड़े थे और इसीलिए वह इनकी सलाहों को आदर से सुनते थे।

चन्दबरदाई का एकमात्र ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है जो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पृथ्वीराज रासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रन्थ है जिसमें ६९ समय (सर्ग) हैं। इस ग्रन्थ को

प्रामाणिक जानकर सर्वप्रथम रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल ने इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया किन्तु कुछ ही समय बाद डा० बूलर को काश्मीर यात्रा में 'पृथ्वीराज-विजय' नामक पुस्तक की एक खंडित प्रति हाथ लगी। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को देखकर डा० बूलर को पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता का विश्वास हो गया और फिर 'रासो' का प्रकाशन सोसायटी ने बीच में ही छोड़ दिया। तभी से पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो गई है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के कई वर्ग हो गए हैं।

विद्वानों का एक वर्ग रासो को पूर्णतया जाली ग्रन्थ मानता है। इन विद्वानों में डा० बूलर का स्थान महत्त्वपूर्ण है। डा० बूलर के हाथ 'पृथ्वीराज विजय' की खंडित प्रति लगी और उसकी प्रामाणिकता प्राचीन अभिलेखों मे सिद्ध हुई तभी से रासो जाली माना जाने लगा। रासो को जाली ग्रन्थ मानने वालों में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता साहित्य वाचस्पति गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का नाम विशेष महत्त्व का है। रासो को प्रामाणिक मानने में ओझाजी को सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि उसमें अनेक ऐतिहासिक त्रुटियाँ हैं जो 'पृथ्वीराज विजय' और प्राचीन शिलालेखों से सिद्ध हो जाती हैं। पृथ्वीराज-विजय के अनुसार पृथ्वीराज का राजकवि पृथ्वी भट्ट था। रासो में दिये गए अधिकांश नाम और घटनाएँ इतिहास से मेल नहीं खाते। पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम गलत हैं। रासो में परमार, चालुक्य, चौहान अग्निवंशी माने गए हैं—शिलालेखों व प्राचीन ग्रन्थों के आधर पर ये सूर्यवंशी ठहरते हैं, अग्निवंश की कल्पना पीछे की गई है और इसका श्रेय रासो को है। रासो में चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज के निकट के पूर्वजों के नाम भी शिलालेखों और पृथ्वीराज-विजय से भिन्न है। उसमें पृथ्वीराज को दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल का दौहित्र और उसके यहाँ गोद जाना लिखा है। पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की पुत्री नहीं थीं, वे कलचुरी वंश की थीं। रासो में जयचन्द को अनंगपाल का दौहित्र और राठौर वंशीय कहा है किन्तु शिलालेखों में वे सर्वत्र गहरवार लिखे गये हैं। पृथ्वीराज रासो की अनैतिहासिकता के प्रकरण में ओझाजी संयोगिता-स्वयंवर तथा जयचन्द और पृथ्वीराज की शत्रुता को भी कपोल-कल्पित बतलाते हैं। रासो के

अनुसार गुजरात का राजा भीमसेन पृथ्वीराज के हाथों मारा गया किन्तु शिलालेखों के अनुसार वह पृथ्वीराज के बहुत समय बाद तक जीता रहा। रासो के अनुसार शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज ने तीर से मारा किन्तु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि वह सन् १२०३ में गक्करों के हाथों से मारा गया। इसी प्रकार रासो के अनुसार पृथ्वीराज की पृथाकुँवरि की शादी चित्तौड़ के राजा समरसिंह से हुई किन्तु इतिहास के अनुसार समरसिंह पृथ्वीराज के बाद हुए।

ओझाजी की बताई हुई ऐतिहासिक भ्रांतियों का समाधान करने का प्रयत्न मिश्रबन्धु करते हैं। उनके अनुसार रासो में ये त्रुटियाँ कल्पना के आधिक्य एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से आ गई हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो की लिखित घटनाओं को ऐतिहासिक सिद्ध करने के प्रयत्न को बन्द कर देना ही उचित समझा है। वस्तुतः प्रसिद्ध ऐतिहासिक लेखकों (जैसे डा० बूलर, मारिसन, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुन्शी देवीप्रसाद आदि) ने इसकी ऐतिहासिक त्रुटियों को पूर्णतया सिद्ध कर दिया है।

ओझाजी की दूसरी आपत्ति रासो की तिथियों के सम्बन्ध में है। रासो में पृथ्वीराज का जन्म सम्वत् ११११५ तथा मृत्यु सम्वत् ११५८ दिया है। इतिहास से यह क्रमशः सम्वत् १२२० और सम्वत् १२४८ सिद्ध होता है। इस प्रकार की तिथियों की भ्रान्ति का परिहार करने का भी कुछ विद्वानों ने प्रयत्न किया है। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया ने रासो की तथा इतिहास की तिथियों में सर्वत्र ६० वर्ष का अन्तर पाया है और इसलिए उन्होंने अनन्द सम्वत् की कल्पना करके नन्दवंशीय शूद्र राजाओं के राजत्वकाल के ६० वर्षों को घटाकर रासो की तिथियों को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा करने पर भी रासो की तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खातीं।

ओझाजी की तीसरी आपत्ति यह है कि रासो में प्रायः दस प्रतिशत शब्द अरबी फारसी के हैं। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर १६ वीं शताब्दी की है।

ओझाजी के इस मत के विरुद्ध मिश्रबन्धु दो कारण देते हैं – पहली बात तो यह है कि भारत पर उस काल से बहुत पहले ही मुसलमानों के आक्रमण

शुरू हो गए थे। सिन्ध और मुलतान पर उनका अधिकार हो चुका था। चन्द लाहौर का रहने वाला था अतः उसकी बाल्यावस्था में ही अरबी फारसी के शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। दूसरे रासो का बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है। अतः परवर्ती काल में मुसलमानी आतङ्क के साथ भाषा पर अरबी फारसी भाषा का आतङ्क होना भी स्वाभाविक है। इसीलिए प्रक्षिप्त अंशों में और भी मुसलमानी शब्द आ जाने से रासो में दस प्रतिशत शब्द अरबी फ़ारसी के हैं।

ओझा जी की चौथी आपत्ति भाषा में अनुस्वरांत शब्दों की अधिकता के सम्बन्ध में है। रासो की भाषा का स्वरूप १६ वीं शती का प्रतीत होता है। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं कहीं प्राचीनता का आभास होता है, वह तो डिंगल की विशेषता है।

इसलिए ओझाजी का मत है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन नहीं था, रासो की रचना वि० सं० १६०० के आसपास हुई है।

इस प्रकार 'रासो' की प्रामाणिकता पर दो पक्ष हो गए हैं। एक पक्ष इसे पूर्णतया जाली ग्रंथ मानता है और पृथ्वीराज के दरबार में चन्द का अस्तित्व तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना भी नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थकों डा० बूलर, मारिसन, कविराजा श्यामलदास, कविराजा मुरारिदीन, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुन्शी देवी प्रसाद तथा रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वान हैं। पहले तो आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल बा० श्यामसुन्दरदास से सहमत होकर इसे प्रक्षेपों से पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ मानते थे किन्तु अन्त में उन्हें विश्वास हो गया कि वह जाली है। तब उन्होंने लिखा—"इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह ग्रन्थ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर चन्द के कुछ पद्य बिखरें हों। पर उनका पता लगाना असम्भव है। यदि यह किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएं और सम्वत् तो ठीक होते।"[1]

दूसरा पक्ष रासो के वर्तमान रूप में प्रक्षिप्त अंश मानकर उसे प्रामाणिक

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल पृ० ४३

रचना मानने वालों का है । इस मत के समर्थकों में बा० श्यामसुन्दरदास, मथुरा प्रसाद दीक्षित, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्याजी, मिश्रबन्धु, कर्नल टॉड प्रभृति विद्वान हैं । इन विद्वानों ने विभिन्न तर्क देकर रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जैसे पण्ड्याजी की आनन्द सम्वत् की कल्पना । श्यामसुन्दरदास का कहना है कि चन्द पृथ्वीराज का दरबारी कवि था किंतु मूल रासो में समयानुसार भाषा और वर्णित विषय विकृत हो गए हैं । वस्तुतः उनकी राय का पुष्ट आधार प्रतीत नहीं होता ।

अब तक रासो के चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं । इनमें सबसे बड़ा का०ना० प्र० स० वाला संस्करण है । दूसरी प्रति बीकानेर के जैन भण्डार में है । तीसरा लघु रूपान्तर है जिसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर राज के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में तथा एक श्री अगरचन्द्र नाहटा के पास है । चौथा रासो का लघुतम संस्करण है, इसमें लगभग २००० छन्द हैं । इसे ही नाहटा जी ने खोज निकाला है । कुछ विद्वान इस लघुतम रूपान्तर को मूल रासो मानते हैं । यहाँ डा० दशरथ शर्मा की खोजों का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा । उन्होंने रासो को अप्रामाणिक बताने वाले विद्वानों के मतों का खण्डन किया है । उनके तर्क इस प्रकार हैं—१—मूल रासो न तो जाली ग्रंथ है और न उसकी रचना सं० १६०० के आस-पास हुई थी । इधर मिली हुई रासो के लघुतम प्रतियों के आधार पर ऐतिहासिक एवं भाषा सम्बन्धी त्रुटियों का परिहार हो जाता है । इन प्रतियों में ऐतिहासिक विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओं का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता है । २—राजपूत कुलों की आबू के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति का बीकानेर की प्रति में वर्णन नहीं है । उसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराम उत्पन्न हुए । सुर्जन चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है । ३—बीकानेर की लघुतम प्रति में जो वंशावली दी हुई है वह प्रायः पृथ्वीराज-विजय में मिलती-जुलती है । ओझा जी द्वारा अशुद्ध बताई हुई वृहद् रासो में वर्णित पृथ्वीराज की वंशावली का इसमें अभाव है । ४—अनंगपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति में भी ज्यों की त्यों है । शर्मा जी इसका कोई उचित समाधान नहीं कर सके । ५—संयोगिता स्वयंवर सभी प्रतियों में है । लघुतम प्रति में केवल

इञ्छुनि के विवाह का ही वर्णन है । ६—पृथा के विवाह तथा शहाबुद्दीन-समरसिंह और भीम तथा सोमेश्वर आदि के युद्धों का भी लघुतम प्रति में उल्लेख नहीं है। ७—लघुतम प्रति में कैंमास-वध का वर्णन है। पृथ्वीराज-विजय के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था। यह मूल रासो की कथा है।

डा० शर्मा की खोज भी रासो को प्रामाणिक सिद्ध न कर सकी। उनके पास पृथ्वीराज का अनंगपाल का नाती होने तथा इञ्छुनि के विवाह का प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त संयोगिता स्वयंवर तथा चौहान की उत्पत्ति भी सन्देहास्पद है। अस्तु।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आधुनिकतम और सबसे अधिक ठोस मत आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने लिखा है "इस काल (आदिकाल) की कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं जिन्हें हम अर्द्ध प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है।" द्विवेदीजी के अनुसार रासो की घटनाओं को ऐतिहासिक सिद्ध करना व्यर्थ है। इसका अपना महत्त्व है। मुनि जिन-विजय जी ने 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में चंद के नाम से जो चार छप्पय प्रकाशित किए हैं वे वर्तमान रासो में भी विकृत रूप में विद्यमान हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चन्द के कुछ मूल छन्द मिले हुए हैं। रासो में द्विवेदीजी ने आदिकालीन काव्य रूपों के ढूंढने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि "रासो का अध्ययन करने के बाद नवीं और दसवीं शताब्दी में प्रचलित कथाओं के लक्षण और काव्यरूपों को ध्यान में रखकर देखने में ऐसा लगता है कि यद्यपि चन्द के मूल वचनों का खोज लेना अब भी कठिन है, किंतु उसमें क्या क्या वस्तुएँ और कौन कौन सी कथायें थीं, इस बात का पता लगा लेना उतना कठिन नहीं है।"८ आगे उन्होंने रासो के संवाद की प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए उसकी तत्कालीन विद्यापति की रचना कीर्तिलता से तुलना की है। रासो के 'रासक' काव्य रूप की तुलना द्विवेदी जी ने सन्देशरासक से की है। उनका मत है कि वीररस की प्रधानता होने के कारण चन्द ने छप्पय छन्दों का अधिक प्रयोग

८ हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ९

किया था। इस दृष्टि से विचार करने पर रासो के निम्नलिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं—

१—पारंभिक अंश २—इंछिनी विवाह ३—शशिव्रत का गन्धर्व विवाह ४—तोमर पाहार का शहाबुद्दीन का पकड़ना ५—संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्दिता और समझौता।१

द्विवेदीजी ने इन प्रामाणिक अंशों की भाषा के सहज प्रभाव की चर्चा करते हुए कहा है "इनमें चंदवरदाई ऐसे सहज प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं जो विषम परिस्थितियों से भी जीवन रस खींचते रहते हैं। वे केवल कल्पना विलासी कवि ही नहीं; निपुण मंत्र-दाता के रूप में भी सामने आते हैं।"२ पृथ्वीराजरासो में प्राचीन सभी कथानक रूढ़ियों का सुन्दर व्यवहार हुआ है। रासो में कवि छप्पय छन्द में अधिक सफल हुआ है। वैसे उसने संस्कृत और प्राकृत के श्लोक लिखने का भी प्रयास किया है। रासो में संस्कृत से नाटक या श्लोक छन्द और प्राकृत के गाहा (गाथा) छन्द के उदाहरण मिलते हैं। भाषा की दृष्टि से रासो नए घुमाव की सूचना देता है। इसमें तद्भव शब्दों में अनुस्वार लगाकर संस्कृत का पुट देने की तत्कालीन प्रवृति के दर्शन होते हैं। रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का निष्कर्ष इस प्रकार है "रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है; पर इस विशाल ग्रंथ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चय ही साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण होगा।.......मेरा अनुमान है कि उस युग की काव्य प्रवृत्तियों और काव्य रूपों के अध्ययन से हम रासो के मूल रूप का संधान पा सकते है।३ द्विवेदीजी रासो को बारहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं, क्योंकि भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इसमें ग्राम्यअपभ्रंश अधिक अग्रसर हुई भाषा का रूप मिलता है। रासो

१—वही पृष्ठ ६२-६३

२—पृ० ६३

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. ५०

एक चरित-काव्य तो है ही, वह रासो या 'रासक' काव्य भी है। पूर्ववर्ती अपभ्रंश के चरित-काव्यों में इसकी परम्परा ढूंढ़ी जा सकती है।

८—परमाल रासो या आल्हखंड—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे भी चन्दवरदाई के पृथ्वीराज रासो की तरह अर्द्ध प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। परमाल रासो या आल्हखण्ड एक वीर काव्य है। कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक (सं० १२३०) नाम के भाट रहते थे, जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के वीरतापूर्ण कृतित्वों का वीरगीतों के दो रूप में वर्णन किया। यह काव्य बहुत लोकप्रिय हुआ किन्तु आज जगनिक के मूल काव्य का पता नहीं चलता है। जगनिक के मूल काव्य के आधार पर बनाये गये गीत आज 'हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में सुनाई पड़ते हैं।' पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घकालीन यात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वस्तु में भी अधिक परिवर्तन होता आया है। बहुत से नये अस्त्रों (जैसे बन्दूक, किरिच), देशों और जातियों (जैसे, फिरङ्गी) के नाम सम्मिलित हो गए हैं और बराबर होते जाते हैं। यदि यह ग्रन्थ साहित्यिक प्रबन्ध-पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिए ही रचा गया था।" आगे शुक्ल जी लिखते हैं—"इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हखण्ड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा-सम्बन्धी वीर-गीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खण्ड के अन्तर्गत थे जो चन्देलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामन्त थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्हखण्ड' के नाम से छपा है।"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि या तो जगनिक का यह काव्य बहुत दिनों तक बुन्देलखण्ड के बाहर प्रचारित नहीं हुआ, या यह रचा ही बहुत बाद में गया। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि तुलसीदास ने अपने

'पूर्ववर्ती तथा समकालीन सभी काव्यरूपों को राममय बनाया, यदि उन्होंने इस लोकप्रिय काव्य-पद्धति को सुना होता तो इसे भी अवश्य ही राममय बनाते।

९—ढोला मारू रा दूहा—कुशललाभ कृत ढोला मारू राजस्थानी साहित्य का आदि काव्य माना जाता है। इसके दोहों में विरह-दशाओं की अनुभूतियों का मार्मिक वर्णन मिलता है। अपनी दर्द भरी विरह की अनुभूतियों के कारण यह राजपूताने का बड़ा लोकप्रिय काव्य बन गया है। राजपूताने में इस लोकप्रिय काव्य के कई रूप प्रचलित थे। विद्वानों के अनुसार इसका सबसे पुराना रूप ११ वीं १२ वीं शताब्दी का रहा होगा। इसका प्रकाशन सन् १९३४ में काशी नागरी प्रचारणी सभा ने किया है। सम्पादक हैं राजस्थानी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान श्री रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारक और श्री नरोत्तम स्वामी। ढोला मारू के सम्पादकों ने इस काव्य की परीक्षा करके आदिकालीन काव्यरूपों पर दृष्टिपात किया है। हिन्दी भाषा के आदिकाल की ओर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि हिन्दी के वर्तमान स्वरूप के निर्माण के पूर्व गाथा और दोहा साहित्य का उत्तर भारत की प्रायः सभी देशी भाषाओं में प्रचार था। उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो पाया था जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है।"

'ढोला मारू' काव्य का महत्त्व बतलाते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व तो है ही, परवर्ती हिन्दी साहित्य के दोहाबद्ध काव्यों को समझने की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ से सहायता मिलती है। इस पुस्तक को हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों और बिहारी सतसई के बीच की कड़ी समझा जा सकता है। यद्यपि यह गीति काव्य के रूप में प्राप्त है और इसमें एक पूरी कथा है तथापि यह मुक्तकों के संग्रह के साथ आसानी से तुलनीय हो सकता है। कथा के घुमाव के लिए इसमें दीर्घकाल से प्रचलित कथानक-रूढ़ियों का उसी प्रकार आश्रय लिया गया है जिस प्रकार हिन्दी के अन्य चरित-काव्यों में लिया गया है।"

ढोला मारू में अपभ्रंश के लाड़ले छन्द दोहा या दूहा का बड़ा सुन्दर

रूप देखने को मिलता है। इसके दोहे बहुत लोकप्रिय भी हुए। परवर्ती कवियों में भी इस काव्य के कुछ दोहों का अनुकरण मिलता है। इस काव्य के सम्पादकों ने कबीर के दोहों में से ऐसे बहुत से दोहे खोज निकाले हैं जो 'ढोला मारू रा दूहा' के दोहों से बहुत कुछ मिलते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि "ये दोहे बहुत अधिक लोकप्रिय होंगे और कबीर या कबीरमत के अन्य सन्तों ने उनमें थोड़ा परिवर्तन करके अपना सिद्धान्त प्रचार करना चाहा होगा।"

ढोला—राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल॥

कबीर—अम्बर कुंजा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनिपैं गोविन्द बीछुटे, तिनके कौन हवाल॥

ढोला—यहु तन जारौं मसि करूँ, धुआँ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होई करि, बरसि बुझावै अग्गि॥

कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं, जसु धुआँ जाय सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि॥

इस प्रकार परवर्ती काव्य में 'दोहा' के काव्य रूप को समझने में उक्त ग्रन्थ बहुत सहायता पहुँचाता है। इस ग्रन्थ में यद्यपि एक कथा है फिर भी दोहे वस्तुतः मुक्तक ही हैं। बीच-बीच में कथा-सूत्र को मिलाने के लिए कवि ने चौपाई छन्द का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ में 'दोहा' छन्द का मुक्तक स्वभाव स्पष्ट हो जाता है। यही काव्यरूप आगे चलकर शृङ्गार काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि बिहारीलाल द्वारा 'सतसई' की रचना में बड़ी सुन्दरता के साथ व्यवहृत हुआ है।

भक्तिकाल

भक्ति साहित्य का आविर्भाव

चौदहवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य में युगान्तर उपस्थित हुआ। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा के साहित्य का बढ़ाव है। इसका सृजन भी हिन्दी-भाषी प्रदेश के बाहर हुआ था। कुछ विद्वान भक्ति साहित्य से ही वास्तविक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ मानते हैं। वस्तुतः चौदहवीं शताब्दी से जिस भक्ति साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ उसमें ऐसे महान् साहित्य की रचना हुई है जो भारतीय इतिहास में अपने ढंग का निराला साहित्य है। आदिकालीन साहित्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियों-नाथसिद्धों की रहस्य-मयी (आध्यात्मिक) साधना एवं लौकिक रस की नीति, शृङ्गार इत्यादि की रचनाएं—का भक्ति साहित्य में अपूर्व समन्वय हुआ और इनके योग से एक महान भक्ति साहित्य का सृजन हुआ। इस महान साहित्य के युग को बनाने वाली विविध परिस्थितियों का विद्वानों ने वर्णन किया है। इनका विवेचन हम आगे करने जा रहे हैं।

कुछ विद्वान भक्ति साहित्य के मूल में राजनैतिक उलट-फेर, मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार एवं हारी हुई हिन्दू जाती की निराशा की मनोवृत्ति की झलक पाते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस मत के विरोधी हैं। उनका कहना है —"यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।" द्विवेदी जी इसका प्रादुर्भाव एकाएक नहीं मानते। उनका कहना है कि इसके प्रादुर्भाव के लिये सैकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। आगे भक्ति साहित्य के उद्‌भव के मूल कारण का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं—"इसका कारण उस काल की प्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं

से मुक्त हो जाना है। शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे। सन् ईस्वी की सातवीं शताब्दी से—और किसी के मत से तो और भी पूर्व—दक्षिण में वैष्णव भक्ति ने बड़ा जोर पकड़ा।" इस प्रकार द्विवेदी जी दक्षिण की सुदृढ़ वैष्णव भक्ति की परम्परा मे उत्तरी भारत की वैष्णव भक्ति का उद्भव मानते हैं।

डा० सत्येन्द्र भक्ति का उद्भव द्रविणों से मानते हैं, दक्षिण के वैष्णव भक्तों से नहीं। उनका कथन इस प्रकार है—'भक्ति द्राविण ऊपजी लाये रामानन्द—इस युक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्रविण में हुआ। उक्तिकर्ता सम्भवतः नहीं जानता था कि वह इन शब्दों द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है। उसका द्रविण से अभिप्राय सम्भवतः दक्षिण देश से ही था, किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है, नयी प्राग् ऐतिहासिक शोधों से यह सिद्ध सा होता है कि भक्ति का मूल द्रविणों में है, और दक्षिण के द्रविणों में नहीं, उनके महान पूर्वज मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविणों में। अभी तक संसार को जितने भी साक्ष्य प्रमाण प्राप्त हैं उनमे यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ अथवा व्रात्य एकेश्वरवादी थे। उनके इस ईश्वर का नाम शिव था।.... आर्यों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त किया था।'

किन्तु प्राय हिन्दी साहित्य के विद्वान हिन्दी भक्ति साहित्य के मूल स्रोत को दक्षिण की सन्त परम्परा में ही खोजते हैं। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भारत की सांस्कृतिक एकता का विवेचन करते हुए इसी तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है—"उत्तर भारत के जब वैष्णव भक्तों का जमाना आया, उसके पहले ही दक्षिण के आलवार सन्तों में भक्ति का बहुत कुछ विकास हो चुका था और वहीं से भक्ति की लहर उत्तर भारत पहुँची। यह भी ध्यान देने की बात है कि आरम्भ में भक्ति को प्रमुखता देने वाले रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य प्रायः सभी महात्मा दक्षिण में ही जन्मे थे। उत्तर में मीरा का जन्म हुआ उसके बहुत पहले दक्षिण में आन्दाल नाम की प्रसिद्ध भगतिन हो चुकी थी जो कृष्ण को अपना पति मानती थी और जिसके बारे में मीरा की ही तरह यह कथा प्रचलित है कि वह कृष्ण के भीतर विलीन हो गई।"१ आचार्य रामचन्द्र

---

१ — हमारी सांस्कृतिक एकता : रामधारीसिंह दिनकर पृ० ५६

शुक्ल ने भी इस बात को यों कहा है—"भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनैतिक परिवर्त्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य (सम्वत् १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आरही थी।[१]

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि भक्ति की जो लहर उत्तर भारत में चौदहवीं शताब्दी के बाद दिखलाई पड़ती है, उसका स्रोत दक्षिण की वैष्णव भक्ति में है। दक्षिण में यह परम्परा बहुत प्राचीन काल से आलवार सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित थी। आलवारों का भक्ति सम्प्रदाय बहुत उदार था, उसमें छूआछात आदि के जटिल बन्धन नहीं थे। उनका भक्तिवाद जनसाधारण की वस्तु था। बाद में आचार्यों द्वारा शास्त्रानुमोदित होकर यह उत्तर भारत में भी फैल गया। उत्तरी भारत में जो पौराणिक धर्म-भावना पहले से ही विद्यमान थी वह शास्त्रानुमोदित होकर शक्तिशाली रूप में प्रकट हुई। धीरे-धीरे बहुअवतारवाद ने जोर पकड़ा और एकान्तिक प्रेम साधना का प्रचार हुआ। अवतारों का लीलागान इसकी उपासना का स्वरूप था। उसके लिए प्रत्येक संप्रदाय के भक्तों ने भगवान के किसी विशेष अवतार से एकान्तिक भाव का सम्बन्ध स्थापित किया। दो प्रमुख आचार्यों—रामानन्द और वल्लभाचार्य ने—दो अवतारों राम और कृष्ण—की महत्ता का प्रतिपादन करके दो भक्ति शाखाओं का प्रवर्तन किया। इन दो महान् आचार्यों ने अपने मतवाद की शास्त्रीय भूमिका तैयार करके अपने मत को सुदृढ़ सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसकी परम्परा बाद में भी चलती रही। रामानन्द के सम्प्रदाय में आगे चल कर महाकवि तुलसीदास हुए और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में सूरदास, नन्ददास इत्यादि अष्टछाप के कवियों को अपनी प्रतिभा के कारण विशेष गौरव मिला। इन दो मतवादों का शास्त्रीय आधार ही भिन्न नहीं था वरन् इनकी काव्य

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६२

रचना में भी वर्ण्य विषय तथा कवित्व कला की दृष्टि से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। रामोपासक कवियों ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की कल्पना करके उनके चरित्र में शील, सौन्दर्य एवं शक्ति का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत किया और गिरी हुई हिन्दू जाति को अत्याचार सहन करने, उसका विरोध करने तथा भविष्य का आशापूर्ण चित्र खींचने में सहायता प्रदान की। इसलिये इन्होंने प्रबन्ध शैली को विशेष गौरवान्वित किया। राम-काव्य में दोहा-चौपाई पद्धति के चरित-काव्यों की शैली मिलती है। इनकी भाषा भी प्रेमगाथाओं की भाँति अवधी ही है। कृष्णोपासक कवियों ने कृष्ण के जन-मन-रंजन ऐकान्तिक प्रेम-स्वरूप को महत्ता प्रदान की और ऐकान्तिक प्रेम निष्ठा का आदर्श गीति की तरलता द्वारा प्रस्तुत किया। इन्हें कृष्ण की माधुर्य पूर्ण लीलाओं का वर्णन करने में जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति इत्यादि की मुक्तक पद शैली ही विशेष उपयुक्त जान पड़ी और इसकी अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा सरस प्रतीत हुई। ब्रजभाषा में एक सहज माधुरी है जो कृष्ण-चरित के लिये बहुत उपयुक्त है।

उत्तर भारत में भक्ति साहित्य के प्रादुर्भाव के समय यहाँ मुसलमानों के सम्पर्क में आने से 'एक सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास होने लगा था। मुसलमानों में छुआछूत का अभाव था तथा ऊँच नीच का कोई विचार नहीं था। यहां के तत्कालीन प्रचलित बौद्ध-सिद्धों तथा नाथ-योगियों के धर्म में भी इस सम्बन्ध में कोई बन्धन नहीं था। वज्रयान के अनुयायी नीच जाति के होने के कारण जाति-पाँति के बखेड़े को नहीं मानते थे। नाथ सम्प्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान न थे। इस सम्प्रदाय के रमते कनफटे योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्त्रदल कमल, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियों की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातें सुनाकर लोगों पर अपना प्रभाव जमाते थे। ईश्वर को घट के भीतर बतलाते थे और वेदाध्ययन को ढकोसला समझते थे। इन योगियों के पंथ में कुछ मुसलमान भी थे। सगुणोपासक भक्त कवियों की आवाज इनसे कुछ भिन्न थी। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८-१४०८) ने हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए 'सामान्य-भक्ति-मार्ग' की स्थापना की। आगे चलकर महात्मा कबीरदास ने 'सन्तमत' का प्रवर्तन किया जो कभी

हिन्दुओं के ब्रह्मवाद की ओर झुकता था तो कभी सूफीमत की ओर। इन्होंने नाथपंथियों से चमत्कृत, प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य जनता का उद्धार किया और सामाजिक समानता के भाव का प्रचार किया। इसी काल में कुछ मुलायम तबियत के मुसलमान सूफी-मत के प्रेममार्ग का प्रचार कर रहे थे और इस प्रचार का साधन उन्होंने हिन्दुओं के घर की प्रेमगाथाओं को बनाया। इस प्रकार सांस्कृतिक द्वन्द्व के बाद सांस्कृतिक समन्वय हुआ। रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में "जब दो देश, दो जातियाँ या दो संस्कृतियाँ आपस में मिलती हैं तब वे भी आपस में एक दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं और सैकड़ों, हजारों साल के बाद वे मिलकर एक ऐसा रूप पकड़ लेती हैं जिनमें उनके बिलगाव का कोई लक्षण शेष नहीं रह जाता। यही सांस्कृतिक समन्वय का सर्वोत्तम उदाहरण है।" निर्गुण पन्थ की धारा में यह समन्वय स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार १४ वीं शताब्दी के बाद जो हिन्दी का साहित्य रचा गया उसकी मूल प्रेरणा भक्ति ही रही। यहीं से एक नवीन मोड़ की सूचना मिलती है। यह साहित्य शक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बरविहीन एक शुचितापूर्ण सरल जीवन की झाँकी है। बाबू गुलाबराय का मत है कि मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव हैं, या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृति पाई गई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस मत का खंडन इन शब्दों में करते हैं "कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रूप में प्रकट हुई थी। उस जाति-गत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खड़ी हो गई क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से निकल भागने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्ति-मतवाद ने इस अवस्था को संभाला और हिन्दुओं में नवीन और उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की।" इस प्रकार द्विवेदी जी भक्ति आन्दोलन के

मूल में जातिगत कठोरता एवं धार्मिक संकीर्णता को देखते हैं। जब हिन्दू धर्म जाति-पाँति के कुफ को तोड़ने वाले इस्लाम के सम्पर्क में आया तो इसमें जाति-पाँति प्रथा और भी कठोर एवं संकीर्ण हो गई। इस प्रकार एक तो बौद्ध सिद्धों एवं नाथ योगियों के सम्पर्क में आये बहुत से हिन्दू पहले ही जातिच्युत हो गये थे दूसरे इस्लाम के सम्पर्क में आने पर कुछ और हिन्दू जाति-पाँति के कठोर नियमों के कारण बाहर हुए। आचार्य द्विवेदी जी ने इस कसाव का परिणाम इन शब्दों में व्यक्त किया है—"इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पड़ी हुई बहुत सी जातियाँ छँट गईं और बहुत दिनों तक ना हिन्दू ना मुसलमान बनी रहीं। बहुत सी पाशुपत मत को मानने वाली और सन्यास से ग्रहस्थ बनी जातियाँ धीरे-धीरे मुसलमान होने लगीं। इस प्रकार की जुलाहा जाति नाथ मत को मानने वाली थी जो निरन्तर उपेक्षित रहने के कारण क्रमशः मुसलमान होती गई। इसी जाति में मध्यकाल के स्वाधीनचेता संत कबीर उत्पन्न हुये थे।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर तो हिन्दू जाति में जाति-पाँति की कठोरता एवं संकीर्णता दृढ़ हो रही थी, दूसरी ओर इस कठोरता से पीड़ित हिन्दू मुसलमान हो रहे थे। ऐसे ही समय में कबीर, तुलसी और सूर हुये जिन्होंने समाज को उसकी संकीर्णता, कट्टरता उच्छृङ्खलता से बचाने का प्रयत्न किया। स्वामी रामानन्द के शिष्य सगुण और निर्गुण, ऊँची और नीची दोनों जातियों के भक्त थे। इस प्रकार भक्ति का स्वरूप विकसित होकर युगचेतना का रूप धारण कर रहा था। इन्हीं परिस्थितियों में हिन्दी के भक्ति साहित्य का आविर्भाव हुआ।

भक्ति साहित्य का निर्माण जिस काल में हुआ उसकी परिस्थितियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—मध्यदेश में राजपूत वीरता का ह्रास हो चुका था और मुसलमान भारत में शासकवर्ग के रूप में बस गये थे। जो प्रदेश हिन्दुओं के अधिकार में थे वे भी अपनी सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील थे। इस प्रकार राजनीति के अनिश्चय के इस काल में हिन्दू जनता विशेष आतंकित थी।

२—इस काल में मुसलमान प्रायः देश में बस चुके थे और अब हिन्दू

धर्म पर एक विशिष्ट धर्म मत (इस्लाम) का आक्रमण हो रहा था। यह धर्मसाधना समूहगत होती थी और भारत के समस्त कुफ्र को तोड़ने में विश्वास करती थी। इसके सम्पर्क में आने से हिन्दू जाति की कठोरता एवं संकीर्णता और बढ़ी और इस कठोरता से पीड़ित वर्ग ने एक नवीन मत की स्थापना की जिसका रूप इस उक्ति में निहित है—"जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।".

३—उस युग में एक ओर बौद्ध सिद्ध अपने वामाचार से और नाथ योगी अपने हठयोग से समाज में चमत्कारपूर्ण कृत्यों द्वारा अव्यवस्था फैलाये हुए थे तो दूसरी ओर इस्लाम का उदय हो रहा था। बौद्ध सिद्ध और नाथ योगी भ्रष्ट होकर गृहस्थ होने की इच्छा कर रहे थे किन्तु हिन्दू जाति के संकीर्ण घेरे में उनका प्रवेश मुश्किल था। एक सामान्य भक्ति मार्ग की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे हिन्दू, मुसलमान, शूद्र, अछूत, ऊँच, नीच सभी अपना सकें। यही आगे चलकर निर्गुण सन्त मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

४—निर्गुण सन्त मत की दो शाखाएँ हुईं—एक ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी प्रेममार्गी शाखा। पहली के प्रवर्तक कबीरदास हैं और दूसरी के प्रमुख कवि जायसी हैं। सूफी कवियों ने दोनों जातियों को समीप लाने का प्रयत्न किया है। ये मुलायम तबियत के मुसलमान थे।

५—प्राचीन वैष्णव भक्ति के अवतारवाद के आधार पर रामभक्ति और कृष्ण भक्ति का नवीन रूप से विकास हुआ। स्वामी रामानन्द के रामनाम के महामंत्र को निर्गुण सन्त और सगुणोपासक भक्तों ने भिन्न-भिन्न अर्थ में ग्रहण किया। कबीर ने कहा था—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना॥

तुलसीदास ने निर्गुणियाँ सन्तों की इसी युक्ति का उत्तर इन शब्दों में दिया—

जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥

इन परिस्थितियों में जिस नवीन भक्ति साहित्य का आविर्भाव हुआ उसका वर्णन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इस प्रकार है—"नया साहित्य

मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति; आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन; और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरल लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है इसलये यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है।"

भक्तिकाल की समान भावनाएँ

जिन परिस्थितियों में भक्ति साहित्य का आविर्भाव हुआ उनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। वस्तुतः भक्ति साहित्य हारी हुई मनोवृत्ति का साहित्य नहीं है। इसका बीज इसी देश की सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों में मिलता है। भक्ति के इस महान् साहित्य में कुछ ऐसी समान भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो निर्गुण-सगुण सभी प्रकार के भक्तों की रचनाओं में आदर्श रूप में रखी गई हैं। इन भक्तिपरक समान भावनाओं के आधार पर ही १४ वीं श० से १६वीं श० के मध्य भाग तक के हिन्दी साहित्य को भक्ति साहित्य की संज्ञा दी गई है। अब हम भक्तिकाल की प्रमुख समान भावनाओं का स्वरूप-विवेचन इस काल के कवियों की रचनाओं के आधार पर करेंगे। भक्ति साहित्य में पाई जाने वाली समान भावनाएँ इस प्रकार हैं—

१—**नाम की महत्ता**—जप, कीर्तन, भजन आदि सन्तों, सूफियों और सगुणोपासक कवियों में समान रूप से दिखाई पड़ते हैं। सूफियों और कृष्ण भक्त कवियों में कीर्तन की प्रधानता है। तुलसी ने भी राम के नाम को राम से बड़ा माना है। नाम में निर्गुण सगुण दोनों का समन्वय हो जाता है। देखिये—

निर्गुण की सेवा करो, सर्गुण को करो ध्यान।
निर्गुण सर्गुण से परे तहाँ हमारा ध्यान॥

कबीरदास ईश्वर को निर्गुण से परे मानते हैं। उनका कथन है कि उसकी प्राप्ति भक्ति और योग के सम्मिलन के द्वारा हो सकती है। उसका नाम अक्षय पुरुष या सत्पुरुष है।

और भी—

मेरा साहब एक है, दूजा कहा न जाय ।
साहिब दूजा जो कहूँ, साहब खरा रिसाय ॥

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्रेममार्गी कवि जायसी तथा उनके अनुयायियों ने भी नाम की महिमा को बताया है । देखिये—

सुमिरौं आदि एक करतारू । जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥

और भी देखिये—

परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नावँ ।

इसी प्रकार सूर तथा तुलसी ने भी नाम और कीर्तन की महिमा को बताया है देखिये—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।
मोरे मत बड़ नाम दुहूँते । किये जेहि जिव बस निज बूते ॥

(तुलसी)

और भी—

तुलसी अलसहिं का लखे, राम नाम जपु नीच ॥

२—गुरु महिमा—कबीरदास ने तो गुरु को भगवान से भी बड़ा कहा है । देखिये—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पायँ ।
बलिहारी वा गुरुकी, जिन गोविंद दिया मिलाय ॥

कबीरदास ने स्थान-स्थान पर गुरु की महिमा का वर्णन किया है । जितनी प्रधानता ईश्वर की नहीं मानी गई उतनी गुरु की मानी गई है, क्योंकि गुरु ही संसार-सागर से पार कराने वाली वस्तु है । गुरु ही ईश्वर के दर्शन करा सकता है । जायसी ने भी गुरु की महिमा का खूब प्रदर्शन किया है ।

१—तन चितउर मन राजा कीन्हा ।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सूआ जेइ पन्थ दिखावा ।
बिनु गुरु जगत को निरगन पावा ॥

२—मुहम्मद तेइ निचिंत पथ, जेहि संग मुरसद पीर।
जेहि के नाव औ खेवक, बेगि लाग सो तीर॥

हम देखते हैं कि जायसी भी उसी भाँति गुरु के परम उपासक हैं जैसे कि कबीर। इसी तरह हम सूर तथा तुलसी में भी देखते हैं।

देखिए —

बन्दौ गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नररूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रवि कर निकरि॥

(तुलसी)

तथा—

"बन्दौं गुरु पद पदुम परागा।"

गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के प्रारम्भ में गुरु महिमा का खूब वर्णन किया है। कृष्ण भक्त शिरोमणि महात्मा सूरदासजी ने भी गुरु की महिमा का वर्णन "सूरसागर" में किया है देखिए—

श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु, सब जग माँहि अँधेरो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के संत तथा भक्त कवियों में गुरु के प्रति अपार भक्ति थी।

३—भक्ति भावना का प्राधान्य—भक्ति भावना का प्राधान्य चारों सम्प्रदायों में (ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी शाखा, रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा) में रहा। कबीरदास ने निर्गुण ईश्वर के उपासक होते हुए भी, भक्ति को प्रधानता दी है। उनका कथन है कि बिना भक्ति के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए ज्ञान प्राप्ति के लिए भक्ति का होना आवश्यक है और ज्ञान के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है। देखिये:—

हरि भक्ति जाने बिना, बूड़ि मुआ संसार। (कबीर)

इसी प्रकार प्रेममार्गी भक्तों का प्रेम भक्ति का ही रूप है और भक्त तो भक्त हैं ही—

नवों खण्ड नवों पौरी, उनै तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सो चढ़ै, सत सों उतरे पार॥ (जायसी)

इसमें जायसी ने चारों साधनाओं (शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत) को भगवद्भक्ति का साधन माना है। राम भक्त, तथा कृष्ण-भक्त कवियों ने तो भक्ति भावना को प्रधानता दी है; चाहे जिस पद को, चाहे जिस चौपाई को उठा लीजिए वह भगवद्भक्ति से ओत-प्रोत होगी, क्योंकि हम देखते हैं कि राम-भक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा का आधार ही भगवद्भक्ति है। यदि इस वस्तु की प्रधानता न होती तो इन शाखाओं में रह ही क्या जाता। कभी-कभी लोग यह प्रश्न उठा बैठते हैं कि निर्गुण और सगुण शाखा में बहुत अन्तर है, क्योंकि एक सगुण (साक्षात् या मूर्ति) के उपासक हैं, जो बहुदेववाद में भी विश्वास करते हैं और दूसरे निर्गुण (निराकार या अमूर्ति) के उपासक हैं जो अवतारवाद यथा बहुदेववाद के विरोधी और एकेश्वरवाद के मानने वाले हैं। यह ठीक है। दोनों के ही मार्ग उचित हैं। हम देखते हैं कि सूर और तुलसी ने जब देखा,कि इस निर्गुण भक्ति के उपदेश (जो निर्गुण शाखा के सन्त कवियों के द्वारा किए जारहे थे), जनता पर इतना प्रभाव नहीं डाल रहे जैसा कि डालना चाहिए। उनका प्रभाव केवल अशिक्षित तथा निम्न वर्ग के लोगों तक ही सीमित था; क्योंकि उसमें उच्च वर्ग तथा शिक्षित लोगों के लिए ऐसी कोई नवीन बात न थी जो उनको आकर्षित कर सकती। इसलिए सूर ने जनता का दुख दूर करने के लिए तथा भक्ति की ओर अग्रसर करने के लिए कृष्ण का लोक रंजनकारी रूप उपस्थित किया जिसमें जनता को नवीनता तथा आकर्षण मिला। दूसरी ओर तुलसी ने आर्य-सभ्यता को जनता के सम्मुख उपस्थित किया जिस पर आर्य अभिमान करते थे। इसलिए यदि हम कहीं-कहीं निर्गुण भक्ति का खंडन पाते हैं जैसा कि सूरदास, नन्ददास; तुलसीदास आदि में मिलता है तो वह वास्तव में ज्ञान का विरोध नहीं केवल भक्ति विरोधी ज्ञान का खण्डन किया गया है। जैसे—

मधुकर कान्ह कही नहि होही।
नागरमनि जे सोभा-सागर, जग जुवती हँसि मोहि।
लियो रूप दै ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही॥

हे निरगुन कुबरी सरवरि अबघटी करी हम ओही।
सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहि आज सब सोही॥

४—अहंकार का त्याग—अहंकार का त्याग भक्ति का दूसरा रूप माना गया है। जब तक मनुष्य के हृदय में अहंकार विद्यमान रहेगा तब तक उसे सच्ची भक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। जैसा कि हम कबीरदास के एक दोहे में देखते हैं।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहि।
प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहि॥

इसमें आप देख सकते हैं कि "मैं" शब्द अहंकार का प्रतीक माना गया है। जब तक कबीरदास में अहम् भाव था तब तक भगवदभक्ति प्राप्त न कर सके और जब उनमें "मैं" की भावना निकल गई तभी हरि भक्ति प्राप्त होगई।

भक्त चाहे निर्गुणवादी हो चाहे सगुणवादी उसे अभिमान अवश्य त्यागना पड़ता है। बिना उसके त्यागे उसे भक्ति नहीं मिल सकती। जब हम सूर तथा तुलसी के काव्य का अध्ययन करते हैं तब हम उनको भगवान के प्रति कहते पाते हैं कि "प्रभु हों सब पतितन को टीको", "प्रभु अबकी राखि लेउ लाज हमारी।" इसके द्वारा हमको पता चलता है कि उन्होंने भगवान के सामने अपने को कितना नीच, पापी, कुटिल तथा कामी समझा है। यह उनके हृदय की निष्कपटता तथा सच्ची भावना का उदाहरण है।

इसी प्रकार आडम्बर का खंडन, सादा सरल जीवन में विश्वास इत्यादि कई ऐसी भावनाएँ हैं जो प्रायः चारों शाखाओं के कवियों में समान रूप से पाई जाती हैं।

भक्तिकाल—हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग

डा० श्यामसुन्दरदास जी अपने 'हिन्दी साहित्य' में लिखते हैं कि "जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणों से निकल कर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति युग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था।"

वास्तव में भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण युग ही था। आगे उन्होंने कहा है—"हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाए हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी-भारती के कण्ठमाल हैं।"

भक्तिकाल का काव्य कुछ ऐसी विशेषताएँ रखता है जो अन्य कालों की काव्य-धारा में उपलब्ध नहीं होतीं। भक्तिकाल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। जब मुसलमानों का राज्य उत्तरी भारत में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था और मुसलमानी धर्म के आक्रमण हिन्दू-धर्म पर हो रहे थे, तब भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा भक्ति-काव्य द्वारा ही हुई। भक्ति काव्य में ऐसी धार्मिक भावनाओं की उद्भावना हुई जिनका मुसलमानी धर्म से कोई विरोध न था तथा जिनमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों का भी समावेश था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति काव्य में जहाँ भारतीय संस्कृति की रक्षा का भाव दीख पड़ता है वहाँ हिन्दू और मुसलमानी धर्म के समन्वय की भी भावना मिलती है। यह समन्वय केवल धार्मिक क्षेत्र में ही उपलब्ध नहीं होता है, वरन् अन्य प्रमुख क्षेत्रों में भी। भक्तिकाल के इसी समन्वयवाद के आधार पर बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपने हिन्दी साहित्य में लिखा है 'हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।"

भक्ति काव्य की एक दूसरी विशेषता ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहाँ उसमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। नवधा भक्ति के प्रत्येक प्रकारों का विवेचन इस काव्य में मिलता है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। रसराज

शृङ्गार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ; विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता के साथ कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य की अन्तर्प्रकृति का और उसके स्वभाव का जितना सुन्दर चित्रण मानस में मिलता है, वह गौरव योग्य है। राधा-कृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री और पुरुष के इतने अमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में अन्यत्र मुश्किल से मिलेंगे।

इस काल में इन सब विशेषताओं के पाए जाने का एक निश्चित कारण है। इस युग की कविता राज्याश्रित न रहकर या तो स्वान्तः सुखाय लिखी गई अथवा लोक-हिताय। इस काल के कविगण राज्याश्रय की चिन्ता नहीं करते थे। कुम्भनदास का 'सन्तन कहा सीकरी सों काम' उस समय की विचार-धारा का द्योतक है। भक्तिकाल के कवियों ने अपने काव्य में अपने हृदय का रस घोला और अपने मन की इच्छानुसार गाया। उनकी वाणी उनके हृदय की वाणी है। वास्तव में कला वही है जो बाहरी प्रलोभनों एवं दबावों से मुक्त हो।

हिन्दी का भक्तिकाव्य लोक-परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। भक्ति-काल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाओं को लेकर अग्रसर हुए थे तथापि सबका जीवन से सम्बन्ध था। निर्गुणवाद भी लोक-पक्ष युक्त हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा शूद्रों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है। जायसी ने लौकिक कहानियों को आध्यत्मिक महत्त्व देकर लोक-जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया। इसी प्रकार सूर ने कृष्ण की बाल्य और यौवन काल की लोकरंजिनी लीलाओं का वर्णन करके जीवन के सौन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन किया। सूर ने वास्तव में इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की सृष्टि कर दी है। जिस प्रकार सूर ने जीवन के सौन्दर्य पक्ष की झांकी दिखाकर मरणोन्मुख हिन्दू जाति की जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की है, उसी प्रकार तुलसी ने उसके उत्थान की ओर प्रयत्न किया।

भक्ति-काव्य में एक बड़ी बात यह है कि इस काव्य से हृदय, मन और आत्मा तीनों की आवश्यकताओं की एक साथ पूर्ति होती है। हृदय और मन के लिए तो उच्चकोटि का काव्य-सौन्दर्य और धार्मिक भावनाएँ ही पर्याप्त हैं। इसके अतिरिक्त आत्मा की तुष्टि के लिए दार्शनिकता और आध्यात्मिकता भरी

पड़ी हुई है। इतिहास साक्षी है कि यह काव्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी आध्यात्मिक साधना को प्रकट करता रहा है और अध्यात्म-साधकों की भूख मिटाता रहा है।

भक्ति-काव्य में जो शील और सदाचार की अभिव्यक्ति हुई है वह भी अपनी विशेषता रखती है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि भक्ति का पहला सोपान शील और सदाचार का संग्रह है। भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह श्रेष्ठ वैयक्तिक और सामाजिक गुणों की प्राप्ति करे और अन्ततः भगवद्-कृपा का अधिकारी बने। तुलसी की भाँति वह सोचता है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
यथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत, निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत-मान सम शीतल मन परगुन नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
'तुलसीदास' प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥

इस शील और सदाचार की भावना में अन्य अनेक सामाजिक गुण आप ही आप प्राप्त हो जाते हैं।

भक्तिकाल की सबसे बड़ी और अन्तिम विशेषता यह है कि यद्यपि उसमें भक्ति की चार प्रमुख शाखायें—निर्गुण मत की ज्ञानाश्रयी शाखा, निर्गुण मत की प्रेमाश्रयी शाखा, सगुण भक्तों की राम-भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा थीं, तथापि उनमें कुछ ऐसी समान भावनायें पाई जाती हैं जिनके कारण वे सब एक ही नाम से पुकारी जाती हैं। यह विशेषता अन्य कालों में नहीं मिलती। उदाहरण के लिए आधुनिक-युग के नाना वादों में इतनी विभिन्नता और विषमता है कि उनमें कोई समान भावना नहीं मिल सकती। संक्षेप में भक्तिकाल की समान भावनायें निम्नलिखित हैं—

(१) नाम की महत्ता।

(२) गुरु की मान्यता।

(३) भक्ति भावना का प्राधान्य।
(४) अहंकार का त्याग।
(५) शील सदाचार की ओर प्रवृत्ति।

उक्त सब बातें प्रत्येक शाखा के काव्य में समान रूप से पाई जाती हैं।

सारांश यह है कि इन विशेषताओं के कारण, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, भक्तिकाल का काव्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है तथा भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाने का अधिकारी है।

भक्तिकाल की समन्वय की भावना

भक्तिकाल की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल उसी के आधार पर हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का काव्य संसार के किसी काल के साहित्य के आगे अपना मस्तक ऊँचा उठा सकता है। यह समन्वय हमें जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में—क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या दार्शनिक—उपलब्ध होता है। धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का समन्वय बड़ा प्रसिद्ध है। भक्तिकाल में जो सामाजिक अव्यवस्था फैली हुई थी, उसके भिन्न-भिन्न सूत्रों का समन्वय करना भक्तिकाव्य के सामाजिक समन्वय का सबसे बड़ा उदाहरण है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों का जो भक्ति में समन्वय दिखाई पड़ता है वह दार्शनिक समन्वय के अन्तर्गत आता है। अब हम पहले धार्मिक क्षेत्र में जो ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय हुआ उसका विवेचन करेंगे।

आचार्य शुक्ल के अनुसार "धर्म का प्रभाव कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीनों धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी सजीव दशा में रहता है। किसी एक के अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लँगड़ा, ज्ञान के बिना अन्धा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन एवं निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जन-समुदाय की सम्पत्ति होती है।" इस प्रकार हम देखते है कि धर्म

के क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वय वांछनीय ही नहीं वरन् एक परमावश्यक तत्त्व है । भक्तिकाल के कवियों का इस समन्वय की ओर ध्यान गया, जो उनके काव्यों से प्रगट है। इस समन्वय का विशेष कारण यही है कि भक्ति-काव्य के युग में ऐसी परिस्थितियाँ थीं जो कवियों को इस धार्मिक समन्वय की ओर स्वाभाविक रूप से ढकेल रहीं थीं। भक्ति-काल से पूर्व ज्ञान, भक्ति और कर्म अपना पृथक-पृथक अस्तित्व रखते थे । इस धार्मिक असम्बद्धता के कारण देश में जो अव्यवस्था फैली हुई थी उसको दूर करने का प्रयत्न भक्त कवियों ने किया । भक्तिकाल में यद्यपि अनेक सम्प्रदाय थे तथापि सभी में इस धार्मिक समन्वय की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। निर्गुण-सम्प्रदाय में यद्यपि भगवान के निर्गुण स्वरूप की उपासना का प्रतिपादन किया गया है जो कि ज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखता है, तथापि भक्तिकी ओर भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उसमें जो भक्ति का निर्देश है वह निर्गुण भक्ति के सिद्धान्तों पर आश्रित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण सम्प्रदाय में भी ज्ञान के साथ भक्ति को भी स्थान दिया गया है । कबीर ने एक स्थान पर कहा है :—

श्री रघुनाथ-भक्ति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार ।

सूफी कवियों के काव्यों में जो प्रेम की व्याख्या हुई है, वह भी भक्ति का ही स्वरूप है । सगुण सम्प्रदाय वालों ने भी ज्ञान का विरोध नहीं किया है । इतना अवश्य है कि उन्होंने भक्ति-विरोधी-ज्ञान का खण्डन अनेक स्थलों पर किया है। सगुणोपासक तुलसीदास ने एक स्थल पर ज्ञान और भक्ति का अभेद बतलाते हुए लिखा है :—

ज्ञानहि भगतिहि नहि कछु भेदा।

साध्य की एकता से भक्ति और ज्ञान दोनों एक ही हैं । इस बात को तुलसीदास इस प्रकार कहते हैं :—

उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।

भक्ति और ज्ञान का तारतम्य अत्यन्त गूढ़ और रहस्यपूर्ण उक्ति द्वारा गोस्वामीजी ने प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं :—

ग्यान विराग जोग विग्याना । ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना ।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारि वर्ग जानहिं सब कोऊ ।
मोह न नारि नारि के रूपा । पन्नगारि ! यह रीति अनूपा ।

जहाँ तक भक्ति और ज्ञान का सम्बन्ध है वहाँ तक तो सभी भक्त कवि समन्वयवादी ठहरते हैं, किन्तु कर्म का सुन्दर समन्वय तो रामभक्ति शाखा में ही हुआ है । रामभक्ति शाखा में ही भक्ति सर्वाङ्गपूर्ण रही । तुलसी की भक्ति पद्धति में कर्म और ज्ञान का पूरा समन्वय और सामंजस्य रहा ।

अब हमें भक्ति काल के सामाजिक समन्वय का भी विवेचन कर लेना चाहिए । भक्तिकाल के सामाजिक समन्वय का रूप विशेषतया निर्गुण शाखा के कवियों की कविताओं में ही प्रस्फुटित हुआ । इसका विशेष कारण यह है कि निर्गुण मत का आविर्भाव ही ऐसी परिस्थितियों में हुआ जिसमें समन्वय की बहुत अधिक आवश्यकता थी । निर्गुण सन्तों ने हिन्दुओं और मुसलमानों का पारस्परिक विद्वेष दूर करने के लिए एक सामान्य सामाजिक व्यवस्था की उद्‌भावना की । इस सामाजिक व्यवस्था के मुख्य प्रवर्तक कबीर थे । उन्होंने जीवन-भर हिन्दुओं और मुसलमानों की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया । उन्होंने निष्पक्ष होकर हिन्दू और मुसलमान दोनों को उनकी विचित्र सामाजिक अव्यवस्थाओं और कुप्रथाओं के लिए फटकारा ।

वे निर्भीक वक्ता थे । वे दोनों धर्मों के वाह्याडम्बर की पोल खोल कर उनको धर्म का असली रूप सिखाना चाहते थे ।

अरे इन दोउन राह न पाई ।
हिन्दू अपनी करें बड़ाई गागर छुवन न देई ।
वेश्या के पायन तर सोवें यह देखो हिन्दुआई ।।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगा मुरगी खाई ।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहिं में करहिं सगाई ।।

कबीर ने सब में एक परमात्मा के दर्शन करके ब्राह्मण और शूद्रों में भी साम्य भाव स्थापित करने का प्रयत्न किया है । उन्होंने कहा है—

गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा । काको कहिए ब्राह्मन शूद्रा ।।

अब भक्ति काव्य के दार्शनिक समन्वय की ओर भी दृष्टिपात कीजिए। भक्तिकाव्य में जो दार्शनिक समन्वय हुआ है वह अपनी विशेषता रखता है। यद्यपि भक्तिकाल में अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का प्रचार था तथापि उन सब का समन्वय भक्त कवियों द्वारा बड़ी सफलता के साथ हुआ है। इसका विशेष कारण यही है कि भक्तिकाल के प्रत्येक दार्शनिक आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्राचीन ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता था। मतवाद की पुष्टि के समान अधिकरण होने के कारण सभी दार्शनिक आचार्यों की चिन्ताओं में साम्य की भावना दीखती है। तुलसीदास में दार्शनिक समन्वय की भावना अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा अधिक प्रतिफलित हुई। वे यद्यपि रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में से थे तथापि शंकर के अद्वैतवाद की भी उनके काव्य में पूरी-पूरी झलक मिलती है।

ईस्वर अंश जीव अविनासी। चेतन, अमल, सहज सुखरासी ॥

यह उनके विशिष्टाद्वैतवादी होने का द्योतक है। किन्तु तुलसीदास ने परमार्थ-दृष्टि से अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म और जीव में जो भेद दिखाई पड़ता है, वह अद्वैतवाद के अनुसार मायाजन्य है। जीवात्मा माया के वश में होने के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूला रहता है। यह बन्धन यद्यपि मिथ्या है तथापि वह कठिनाई से छूटता है। तुलसीदास ने इस मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

सो माया बस भयउ गोसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।

× × ×

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ॥

सारांश यह है कि भक्तिकाल में धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक भावनाओं का अपूर्व समन्वय उपलब्ध होता है। यह समन्वय तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल था तथा ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व रखता है।

निर्गुणिए सन्तों की परम्परा

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि दसवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म

विकृत होकर 'वज्रयान' और 'महायान' की तंत्र-मंत्र की साधना में परिणत हो चुका था। सिद्धि ही इनका लक्ष्य था। इन्होंने लोक विरुद्ध आचरण को प्रश्रय दिया और धीरे-धीरे वासना और भोगलिप्सा का आग्रह इनमें बढ़ता गया। धीरे-धीरे वज्रयानी सिद्ध पतित हो गए। समाज में दुराचार फैलाने वाले इन सिद्धों का विरोध नाथपंथ ने किया। यह नाथपंथ वज्रयान से ही निकला था। किन्तु इसमें सहज जीवन और आन्तरिक शुचिता का अधिक आग्रह था। वैसे तो यह भी वज्रयानियों की भाँति ब्राह्मण मत का विरोधी था। इसने भी बाह्याचार, छूतछात, कृच्छ्र-साधना इत्यादि पर आघात किया था। इन्होंने योग के आधार पर एकेश्वरवाद की स्थापना की। इनका योग हठयोग कहलाया। इनका रहस्यवाद सिद्धों की भाँति अटपटा न होकर भाव और भाषा की दृष्टि से स्पष्ट था। नाथपंथ के अनुयायी योगियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। गोरखनाथ के अनुयायियों में जालंधर, कणेरीनाथ, चरपटनाथ आदि प्रमुख महात्मा हुए। अपनी अव्यावहारिकता के कारण धीरे-धीरे नाथपंथ का भी ह्रास हो गया। उधर स्वामी रामानन्द का प्रभाव बढ़ रहा था। उनके शिष्य सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त थे। कुछ निम्न जाति के भी थे। स्वामी रामानन्द के प्रभाव का वर्णन हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन शब्दों में किया है—"इस बात का तो ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है कि रामानन्द के शिष्यों में से किसी-किसी ने नाथ-मार्गी योगियों के प्रतिष्ठित अखाड़ों को अपने प्रभाव में लाकर उनके शिष्यों को अपना अनुयायी बनाया है। जयपुर के पास जो गलता की गद्दी है वह पहले नाथमत के अनुयायियों के हाथ में थी। अपने प्रभाव से रामानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी ने उस पर अधिकार किया।" सन्त मत के प्रवर्तक महात्मा कबीरदास इन्हीं स्वामी रामानन्द के शिष्य थे।

यों तो कबीरदास से पूर्व अनेक निर्गुण भाव के साधक हो गए हैं जिनकी साहित्य के इतिहास में गणना होती है किन्तु वस्तुतः सन्त मत की जो सहज धारा-हिन्दी साहित्य की कविता में प्रवाहित हुई वह कबीर से प्रारम्भ होती है। कबीर से पूर्व कुछ महाराष्ट्र के निर्गुण भाव के साधक सन्तों की कविताएँ भी मिलती हैं। इनमें मुख्य ये हैं—महाराज सोमेश्वर (११२७ ई०) चक्रधर महाराज (शाके ११६४), नामदेव (१२६७ ई०), ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई,

प्रभृति। नामदेवजी की कुछ कविताएँ ग्रन्थ साहिब में मिलती हैं। नामदेव जी की भाँति ही एक पुराने भक्त 'जयदेव' के निर्गुण भाव के कुछ पद 'ग्रन्थ साहिब' में मिलते हैं। यह जयदेव निश्चित रूप से गीतगोविन्द वाले जयदेव से भिन्न हैं।

इसके बाद बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रामानन्द का समय आता है। उनके दो पद 'ग्रन्थ साहब' से मिलते हैं, जिनमें एक पद निर्गुण काव्य के अन्तर्गत आता है। यह स्पष्ट है कि इस समय तक सन्तमत का कोई विशिष्ट रूप नहीं था और उनका साहित्य भी थोड़ा था। रामानन्द के शिष्यों ने उसे विशिष्ट रूप दिया और उसमें बृहद् साहित्य का सृजन किया। इनमें धन्ना, पीपा, रैदास और कबीर का साहित्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। धन्ना और पीपा के बहुत थोड़े पद ग्रन्थ साहब में मिलते हैं। रैदास के भी दो प्रधान ग्रन्थ हैं, 'रविदास की बानी' और 'रविदास के पद'। इनकी कविता बहुत सरल और साधारण है और उसमें उस समय की भाषा का प्रचलित रूप दिखाई पड़ता है। उसमें फारसी और अरबी शब्दों का भी अधिक प्रयोग हुआ है। इसके बाद हम कबीरदास के साहित्य पर आते हैं।

कबीरदास (जन्म सं० १४५५) सन्त-मत के प्रवर्त्तक और सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। आपकी बहुत सी रचनाएँ हैं। इन रचनाओं का रूप मौखिक था, अतः अब जो रचनाएँ मिलती हैं उनके बारे में ठीक नहीं कहा जा सकता कि उनमें कितना प्रक्षिप्त अंश है। कबीरदास का मुख्य ग्रन्थ बीजक है। इसके कई रूप मिलते हैं। कबीरदास ने निर्गुण मत के प्रचार के लिए बहुत भ्रमण किया। अतः उनकी भाषा खिचड़ी या सधुक्कड़ी हो गई है और स्वभावतः उनकी मूल भाषा को कई प्रान्तों की भाषा ने ढक लिया है। इन सब कारणों से कबीर की भाषा अत्यन्त अनिश्चित है। यद्यपि उनके विचार इतने नवीन थे कि उनके शिष्य मूलतः बदल नहीं सकते थे, तथापि उनमें कदाचित कुछ विचार उनके शिष्यों ने भी जोड़ दिये हैं, ऐसा उनकी रचनाओं से स्पष्ट झलकता है।

कबीर का मुख्य विषय ज्ञानपूर्ण भक्ति है। यह भक्ति निर्गुण सत्ता के प्रति है, जिन्हें कबीर साहब; राम, सत्य पुरुष, अलख-निरंजन, स्वामी और

शून्य आदि नामों से पुकारते हैं। कबीर की इस भक्ति को हम ज्ञानाश्रयी भक्ति अथवा ज्ञानमूलक भक्ति इसीलिए कहते हैं, क्योंकि ये ज्ञान पर आधारित है। आलम्बन के निर्गुण तथा निराकार होने के कारण कबीर की भक्ति में रहस्य का पुट आ गया है। यह रहस्यवाद मूलतः भारतीय है, यद्यपि कहीं-कहीं उस पर प्रेममार्गी सूफियों के रहस्यवाद की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आत्मा-परमात्मा का अंश है, किन्तु इस संसार में वह विरहिणी के रूप में वर्तमान है। सांसारिकता ने उसको संकुचित कर दिया है जिसके कारण वह अपने सत्य स्वरूप को भूल गयी है। भक्ति और ज्ञान की साधना से मनुष्य की आत्मा शुद्ध हो जाती है और उसमें परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। यह एक प्रकार का अन्तःमिलन है। निर्गुण भक्तों का यही लक्ष्य है और उनकी कविता में आत्मा की परमात्मा से इस मिलनाकांक्षा की तीव्रता और मिलनानन्द के सुन्दर चित्रण मिलते हैं।

कबीर ने अपने समय की सामाजिक अवस्था में सुधार करने का बड़ा प्रयत्न किया। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण का अध्ययन करते समय हम इसकी पूर्ण विवेचना करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि उन्होंने अपने समय के धार्मिक पाखंडों का खण्डन किया है और हिन्दू मुस्लिम द्वेष और जाति-पाँति के भेद-भाव की असत्यता और कृत्रिमता का प्रदर्शन किया है। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से अपने समय की समस्याओं को समझने और सामाजिक विषमताओं को सुधारने का प्रयत्न किया है। कबीर की कविता-कविता के लिए न होकर प्रचार के लिए थी, अतएव उसमें काव्य गुणों को खोजना व्यर्थ है। कबीर तो संत और उपदेशक थे, उनके लिए साहित्यरचना का उद्देश्य गौण था।

कबीर के बाद संत-साहित्य-रचना की परम्परा चलाने वालों में धर्मदास का नाम आता है। धर्मदास का साहित्य कबीर के साहित्य के सम्मुख महत्त्व-हीन है। फिर भी वह अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। उनके काव्य के विषय प्रायः वही थे जो कबीर के थे। इनकी भाषा में कबीर की भाषा की तरह विचित्रता के अभाव में पूर्वी हिन्दी की छाप है। धर्मदास के बाद सिक्ख गुरू नानक ने निर्गुण-संत-मत की परम्परा के विकास में योग दिया। आपकी

रचनाओं में एकेश्वरवाद पर अधिक जोर दिया गया है तथा हिन्दू-मुस्लिम भिन्नता और मूर्ति-पूजा का विरोध है। आप कबीर की भाँति कट्टर नहीं थे।

इनके बाद शेख इब्राहीम का नाम आता है। इनके पद फरीदसानी के नाम से ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं।

संत दादूदयाल (१५४४-१६०३ ई०) कबीरदास के मार्ग के अनुगामी थे। संत-काव्य धारा के आप कबीर के बाद दूसरे महान् कवि हैं। आपकी रचनाएँ भी बहुत हैं। इन्होंने सन्त मत के परिचित सभी विषयों पर रचनाएँ कीं। इनकी कविता पर सूफियत का प्रभाव अधिक पड़ा है। इसका कारण यह है कि इनके गुरु कमाल पश्चिमी भारत के सूफियों के सम्पर्क में अधिक रहे हैं। दादू के साहित्य पर कबीर के साहित्य की पूरी-पूरी छाप है। इनकी भाषा मारवाड़ी और कहीं-कहीं गुजराती मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। दादू की रचनाओं में काव्य गुणों का भी अच्छा विकास हुआ है क्योंकि वे कबीर की भाँति सुधारक नहीं थे। उन्होंने भगवान को बड़ी तीव्र व्यक्तिगत भक्ति भावना से स्मरण किया है कि उनके पदों में प्रेम-मिलन और विरह का चित्रण अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक हुआ है। दादू के ऐसे पदों में सगुण भक्त कवियों के पदों के समस्त गुण मिल जाते हैं वही तन्मयता, वही सरलता और वही तीव्रासक्ति। कबीर ने दादू के लिए मार्ग साफ कर दिया था, जिसके कारण उन्हें अधिक विरोध नहीं सहना पड़ा।

मलूकदास का प्रादुर्भाव जिस समय हुआ था उस समय सन्त-काव्य-परम्परा पर सगुण धारा का प्रभाव पड़ने लगा था। कबीर की उच्च-भाव-भूमि तक सभी का उठना कठिन था। अतः कबीर के निर्गुण राम को धीरे-धीरे संतमत वाले भी सगुण रूप में ग्रहण करने लगे। मलूकदास की रामावतार लीला (रामायण) इसका स्पष्ट उदाहरण है।

दादू के शिष्यों में सुन्दरदास (जन्म सं० १६५३) का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने पहली बार सन्त कवियों की परम्परा में काव्य पद्धति पर रचना करके अन्य सन्तों की रचनाओं से पार्थक्य दिखलाया। ये शास्त्रीय ढंग की रचना करते थे। संत परंपरा के कवियों में इनका नाम एक और कारण से भी महत्त्व-

पूर्ण है और वह है इनकी कवित्त सवैया शैली। अब तक संतों ने केवल गाने के पद और दोहों में ही रचना की थी। इनके कवित्त सवैयों में अलंकारों की सुन्दर योजना है। दादू के दूसरे शिष्य रज्जबदास थे। इनकी कवित्त शक्ति बड़ी प्रखर थी। उसमें विचारों की प्रौढ़ता, स्वाभाविकता इत्यादि दर्शनीय है। इन्होंने गम्भीर तत्त्व का बड़ी सरलता से निरूपण किया है। दादू के तीसरे साहित्यिक शिष्य जगन्नाथजी थे। दादू के अन्य शिष्यों में काव्य परम्परा की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय नहीं है।

विश्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक जंभनाथ और निरंजनी संप्रदाय के संस्थापक हरिदास निरंजनी भी सन्त-काव्य-परम्परा में स्थान रखते हैं। सत्रहवीं शती में 'अक्षर अनन्य' नाम के सन्त ने योग और वेदान्त सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ रचे जिनमें वैराग्यमूलक धर्म एवं योग और भजन का उपदेश है। इसी समय राजस्थान के सन्त तुलसीदास जी भी बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं। इनकी रचनाओं में भजन पर जोर दिया गया है। १७ वीं शती के मुस्लिम सन्त 'यारी' की 'रत्नावली' नामक रचना का उसके अध्यात्म तत्त्व निरूपण के कारण महत्त्व है। संत धरणीदास (१७ वीं शती) का नाम भी संत-काव्य-परम्परा में उल्लेखनीय है। सतनामी संप्रदाय के दूलनदास (१८ वीं शती) का महत्त्व अपनी लोकप्रिय निर्गुण भावापन्न रचनाओं के लिए है। १८ वीं शती की चरनदास की शिष्य दयाबाई और सहजोबाई अपनी रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं में सगुणभावापन्न काव्य का विशेष पुट है। ये अपनी गुरुभक्ति और भगवत्प्रेम पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी वाणी में सहजपन, हृदय की सरलता एवं स्वाभाविकता है।

यह परम्परा आधुनिक काल तक बराबर चली आ रही है और आज भी अनेक निर्गुण संप्रदाय और उसके पोषक कवि वर्तमान हैं, पर उनका काव्य पिष्टपेषण होने के कारण महत्त्वहीन है। मध्ययुग की समाप्ति के साथ ही संत काव्य की प्रगतिशीलता जाती रही, अब वह परम्परा बद्ध होकर निष्प्राण हो गया है।

संतों में गतानुगतिकता की मात्रा बढ़ने से संत-काव्य की विशेषताओं का

ह्रास हो गया । इसका प्रभाव हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"१८वीं श० के अन्त तक उसकी क्रान्तिकारी भावना समाप्त हो गई और वह भी अन्य निहित स्वार्थ वाले मठों के समान, अपने ही बनाये हुए बन्धनों में क्रमशः जकड़ता गया । जिन लोगों ने माया को ललकारने का साहस किया था उनके अनुयायी माया के घरौंदों में बन्द हो गये ।............वह क्रमशः क्षीण होता गया और इसीलिए वे ऐसे साहित्य की सृष्टि न कर सके जो मनुष्य को नया आलोक देता और कठिनाइयों और विपत्तियों से जूझने की प्रेरणा देता । यह साहित्य केवल शाब्दिक मायाजाल प्रस्तुत करता है और मनुष्य की स्वतन्त्रता चिन्तन-शक्ति को रुद्ध करता है ।" इस प्रकार १८ वीं शती से ही संतों की वाणी में नूतनता का अभाव एवं गतानुगतिकता का प्रभाव हो गया । इसलिए इनका साहित्य बाणी हो गया । उनकी काव्य-परम्परा का विशेष महत्त्व नहीं रहा । इस ह्रास का कारण पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कबीरदास, दादू इत्यादि के परवर्ती संतों की 'घर जोड़ने की माया' है । अपना नवीन सम्प्रदाय चलाने का उत्साह उन्हें पुरानी रूढ़ियों से जकड़कर उनकी प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी वाणी की परम्परा में एक ऐसी संडाँध पैदा कर देता है कि उसमें सन्तों की मौलिकता, विशेषता, सहजपन इत्यादि के दर्शन भी नहीं होते । द्विवेदी जी के शब्दों में 'उसमें बुझौवल'—जैसी वाणियों का प्रचार बढ़ता गया है ।

निर्गुण सन्त-मत

संतमत का प्राविर्भाव हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है । देश की विचित्र परिस्थितियों ने इस मत को जन्म दिया । सन्तों ने इन विचित्र परिस्थितियों का पूर्ण सामंजस्य करके देश का बड़ा उपकार किया । सन्तों ने उस सामान्य-भक्ति मार्ग की स्थापना की, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच समान रूप से रखा जा सकता था । संत मत में केवल हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म का ही समन्वय नहीं हुआ, वरन् गोरखपन्थियों के हठयोग, वेदान्तियों के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसा-वाद और प्रपत्तिवाद का भी सुन्दर और सफल समन्वय हुआ है । उसमें

सामाजिक समन्वय का भी विशेष महत्त्व है। इस प्रकार के समन्वय द्वारा संत मत ने हिन्दी साहित्य और हिन्दी-भाषी प्रदेश दोनों को गौरवान्वित किया है। इसी कारण संत-मत के सिद्धान्तों का अध्ययन हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संत लोग निर्गुणवादी होने के कारण प्रायः नाम की उपासना करते थे। ये लोग रूढ़िवाद और मिथ्या आडम्बर के विरोधी थे। गुरु को करीब-करीब ईश्वर के समान महत्ता देते थे। 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के अनुसार इनके मत में जाति-पाँति का कोई महत्त्व नहीं था। ये लोग साधारण धर्म तो मानते थे, किन्तु साम्प्रदायिकता या वर्णाश्रम संबंधी विशेष धर्म के पक्ष में न थे। वैयक्तिक साधना पर इन लोगों ने विशेष जोर दिया है।

कबीर इस मत के प्रवर्त्तक थे तथा नानक, रैदास; दादूदयाल मलूकदास आदि इसे आगे बढ़ाने वाले हैं। सन्त मत के सिद्धान्तों का हम नीचे संक्षेप में विवेचन करेंगे।

(१) ईश्वर—संत मत वाले एकेश्वरवादी हैं। ये निराकार रूप की उपासना करने वाले हैं। उनका ईश्वर ऐसा है जो मुसलमान और हिन्दू धर्म में समान रूप से ग्राह्य है। वह संसार के प्रत्येक कण-कण में व्याप्त, ज्योतिस्वरूप, अलख और निरंजन है। उसकी प्राप्ति योग और निर्गुण भक्ति से, जिसमें ज्ञान का प्राधान्य है, सम्भव है। ऐसे ईश्वर की प्राप्ति में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसे सन्त मत वालों ने ईश्वर के समान ही महत्त्व दिया है।

(२) माया—सत्पुरुष से उत्पन्न माया ही सृष्टि की सृजन शक्ति है। यह सत्य भी है और मिथ्या भी, "माया के दुइ रूप हैं, सत्य मिथ्या संसार" संसार को भ्रम में डालने वाली मिथ्या माया का ही कबीर ने अधिक खंडन किया है।

(३) हठयोग—हठयोग का तात्पर्य बलपूर्वक ब्रह्म से मिलन है। यह मिलन शरीर के अङ्गों तथा श्वाँस पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित

संचालन करते हुए एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप का मनन करते हुए आत्मा के समाधिस्थ हो जाने पर होता है। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक परिश्रम के द्वारा ही ब्रह्म की अनुभूति करना हठ्योग का आदर्श है। गोरखनाथ द्वारा चलाये हुए इस हठ्योग का कबीर व अन्य कुछ निर्गुण सन्तों पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी हठ्योग को कबीर ने ईश्वर प्राप्ति का एक साधन माना है।

(४) **सूफीमत** – सूफीमत का भी संत-मत पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध जो सूफीमत वाले मानते हैं तथा प्रेम की पीर का महत्व जो सूफीमत में है प्रायः वही सन्त लोग भी स्वीकार करते हैं। सूफीमत के अनुसार आत्मा-परमात्मा के एकीकरण में शैतान बाधा डालता है और निर्गुण मत के अनुसार माया। खुदा से मिलने के लिए बन्दे को अपनी आत्मा का परिष्कार करना पड़ता है। उसके लिए शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत—चार दशाएँ मानी गई हैं। इस मत का प्रभाव यत्र-तत्र सन्त मत की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है।

(५) **रहस्यवाद**—कबीर का रहस्यवाद अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से बना है। इसमें आत्मा को स्त्री रूप में और परमात्मा को पुरुष रूप में मानकर दोनों का मिलन कराया है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती तब तक आत्मा विरहणी के समान दुःखी रहती है। जब आत्मा परमात्मा से मिल जाती है तब रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति हो जाती है। कबीर के अतिरिक्त सन्त मत के अन्य कवियों ने भी इसी रहस्यवाद पर लिखा है, पर उनमें कबीर की सी अनुभूति की तीव्रता नहीं है।

(६) **रूपक**—सन्तों ने अपने गूढ़ और गम्भीर भावों को रूपक द्वारा प्रकट किया है। कहीं-कहीं ये रूपक बहुत ही अस्पष्ट हो गये हैं। कबीर ने भी इन रूपकों को विशेष कर दो रूपों में बाँधा है। एक उलटबाँसी के रूप में तथा दूसरे आश्चर्यजनक घटनाओं की सृष्टि के लिए। इन दोनों का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। इन रूपकों के सम्बन्ध में एक बात उल्लेख योग्य है; वह यह है कि ये भावना की अभिव्यक्ति में सहायक नहीं होते हैं।

सन्त मत के मूल सिद्धान्तों का विवेचन करने के पश्चात् अब हम उसके आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक आदर्शों का भी उल्लेख करेंगे।

पहले आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों को ही लीजिये। सन्त मत में आत्म-शुद्धि का बड़ा महत्त्व था। वास्तव में हठयोग, वैष्णव भक्ति और सूफीमत इन तीनों भाव-धाराओं में आत्म-शुद्धि की प्रधानता थी और नैतिक आदर्श बहुत कुछ एक से थे केवल उनकी प्राप्ति की विधि में अन्तर था। सन्त मत के आध्यात्मिक और नैतिक आदर्श इस प्रकार थे—

१—**आत्म-संयम**—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और अहन्ता का त्याग (वासनाओं की बलि)।

२—**अपरिग्रह**—सांसारिक पदार्थों के संग्रह का त्याग।

३—**इन्द्रिय-संयम**—निन्द्रा, स्वादिष्ट-आहार, मांसाहार, मादक वस्तु आदि का त्याग, (कामिनी-त्याग)।

४—**मानसिक संयम**—कपट, आशा, तृष्णा, निन्दा और मन की चंचलता का त्याग।

५—**आचार और व्यवहार सम्बन्धी संयम**—दुर्जन-संग-त्याग, तीर्थ-व्रत में आस्था का त्याग, अन्य देवता की पूजा का त्याग तथा वेश-भूषा सम्बन्धी आडम्बर का त्याग। इस निषेधात्मक आत्मनिग्रह के अतिरिक्त सन्त-मत के कुछ विधेयात्मक कर्म भी निर्धारित थे।

अब हम सन्त मत के सामाजिक आदर्शों का विवेचन करेंगे। सन्तों की साधना केवल वैयक्तिक और एकान्तिक साधना नहीं थी। वह समाज को दृष्टि में रखकर चलती थी। समदृष्टि, भेद-भाव का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग थे। सन्तों के लिए ब्राह्मण-अब्राह्मण और हिन्दू-मुसलमान सब बराबर थे। मुसलमानों के प्रवेश ने हिन्दू समाज के लिए कई समस्याएं उत्पन्न कर दी थीं। उनके आक्रमण से बहुत पहले ही हिन्दू समाज-संगठन छिन्न-भिन्न होने लगा था। मुसलमानी सामाजिक संगठन और एकता के सामने उसका टिकना कठिन था। वर्ण-विभाजन ने वर्ग-वर्ग में असन्तोष पैदा कर रखा था। नीच वर्ण के लोग क्षुब्ध हो उठे थे। सन्तों ने

इस संस्था का समूल नाश करना चाहा। चाहे संस्कृति की दृष्टि से यह हेय हो किन्तु तत्कालीन परिस्थिति के कारण यह आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने हीन वर्णों को उच्च वर्णों के स्तर पर लाने की चेष्टा की। उच्च वर्णों ने निम्न वर्ग के भक्तों को तो अपना लिया परन्तु जहाँ तक पूरी जाति का प्रश्न रहा वहाँ वे किसी प्रकार भी अपने दृष्टिकोण को व्यापक न बना सके।

निर्गुण सन्तों की कविता की प्रवृत्तियाँ

प्राचीनकाल से जो निर्गुण ज्ञान-मार्ग की पद्धति चली आ रही थी और उसने पिछले युग में सिद्धों और गोरख-पंथियों की साधना को आत्मसात् कर लिया था वही भक्ति काल में भी चलती रही।

'सन्त मत में भक्ति और साधना की उच्चकोटि की अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि उसमें काव्य उच्चकोटि का नहीं है, तथापि हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा की अच्छी झलक है। संतमत स्वच्छ और नैसर्गिक है, उसमें काव्य की कृत्रिमता नहीं है काव्य की सरलता ही उसकी विशेषता है। संतमत में कबीर, दादू, रैदास इत्यादि के समान कुछ ही कवि उत्कृष्ट हुए हैं पर उनमें भी सरलता है, जो जनता के हृदय की वस्तु है। संत मत के साधक और कवियों ने जो भाव और रस का विस्तार किया है, उसका अपना अलग महत्त्व है। उनकी रचनाओं में उच्च श्रेणी के साधक और कवि का सम्मिलन है।

संत साहित्य में अधिकतर मुक्तक शैली में ही कविताएं उपलब्ध होती हैं। गुरु भक्ति, प्रेम, विरह, चेतावनी आदि भावनाएं अलग अलग समझाई गई हैं। उनकी रचना एक ही शैली में न होकर अनेक प्रकार की शैलियों में हुई है। उनका स्वरूप कहीं दोहों, कहीं पदों और कहीं कवित्त-सवैयों में प्रस्फुटित हुआ है।

संक्षेप में सन्त-साहित्य की प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं—

(१) निर्गुण की उपासना—संत काव्य धारा की मूल भावना निर्गुण की उपासना है। संत कवियों ने भगवान के सगुण और निर्गुण दो रूपों में से निर्गुण का रूप निर्वाचन किया। उनका निर्गुण बौद्ध-साधकों के शून्य से पृथक

है। वह संसार के प्रत्येक कण में व्याप्त है, वही प्रत्येक साँस में है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह केवल अनुभव-गम्य ही है। कबीर ने कहा भी है—

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान॥

संत काव्य में ऐसे ही निर्गुण की साधना का वर्णन है।

(२) रूढ़िवाद और मिथ्याडम्बर का विरोध—संत कवियों ने पुरानी रूढ़ियों और मिथ्या आडम्बरों का घोर विरोध किया है। इसका विशेष कारण यह है कि सन्त मत वज्रयानी सिद्धों और हठयोगियों के सिद्धान्तों से काफी प्रभावित है। इन सिद्धों और योगियों ने व्यर्थ के सामाजिक बन्धनों और आडम्बरों की कटु आलोचना की थी। यह परम्परा सन्तों में मिलती है। कबीर ने तिलक-छापा, माला, रोजा-नमाज, योग की क्रियाएँ आदि को व्यर्थ ठहराया और इनके मानने वालों को फटकारा। उनकी भर्त्सना में चिढ़ या खीझ नहीं, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव है। देखिये—

दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय॥

कनवा फराया जोगी जटवा बढ़ौलें
दाढ़ी बढ़ाया जोगी होय गैलें बकरा
जंगल जाय जाय जोगी धुनिया रमाले
काम जराय जोगी बन गैलें हिजरा।

(३) गुरु की महत्ता—संत कवियों ने गुरु को ईश्वर के बराबर माना है। संत काव्य में गुरु के महत्त्व का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। कबीर ने तो गुरु को गोविन्द से भी बढ़ कर माना है। देखिये—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी वा गुरु की, जिन गोविंद दिया मिलाय॥

(४) जाति-पाँति के भेदभाव का विरोध—संत कवि जाति-पाँति के नियमों के कट्टर विरोधी थे। इनकी दृष्टि में सब मनुष्य बराबर थे तथा भगवद्-भक्ति

का सबको समान अधिकार था। 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' इस सिद्धान्त का द्योतक है। इसका विशेष कारण यही है कि संत लोग शास्त्रज्ञ विद्वान न थे और अधिकतर नीच जाति के होते थे। शुक्लजी के कथनानुसार जाति-पाँति के खण्डन तो स्वयं ही होते थे। कबीर स्वयं जुलाहा थे, रैदास चमार थे। इसके अतिरिक्त संतों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिये एक सामान्य भक्ति-मार्ग की उद्भावना की थी, अतएव यह आवश्यक था कि हिन्दू-धर्म से जाति-पाँति के भेद को दूर किया जाय, जिससे कि वह मुसलमानी धर्म के निकट आ जाय।

(५) वैयक्तिक साधना पर जोर—सन्तों ने वैयक्तिक साधना पर जोर दिया है। उन्होंने बाह्य साधना से ध्यान हटाकर वैयक्तिक और आन्तरिक साधना का ही प्रतिपादन किया है। आत्म-शुद्धि सन्त मत का मूल सिद्धान्त है किन्तु यह वैयक्तिक साधना केवल ऐकांतिक नहीं है, वरन् समाज को भी दृष्टि में रखकर चली है। समदृष्टि, भेद-भाव का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग थे।

(६) रहस्यवादी प्रवृत्ति—सन्त काव्य में हमें भारतीय रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। इस रहस्यवाद का मूल आधार अद्वैतवादी चिन्तन है। कबीर ने कहा है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत् कथहु ग्यानी॥

किन्तु इस रहस्यवाद में सूफीमत की रहस्यवादी प्रवृत्ति की भी झलक है। सन्त कवियों ने आत्मा को स्त्री मानकर परमात्मा रूपी पुरुष से मिलन कराया है—

दुलहिनि गावहु मंगलचार।
हमारे घर आये हो राजा राम भरतार

(७) साधारण धर्म का प्रतिपादन—सन्त कवि साधारण धर्म के मानने वाले थे, किन्तु उन्होंने साम्प्रदायिकता अथवा वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म का विरोध किया है। उन्होंने जिस साधारण धर्म को स्वीकार किया है, वह एक प्रकार से शुद्ध मानव धर्म ही है।

(८) भाषा की सरलता—सन्त कवियों ने सरल और आडम्बरहीन भाषा का प्रयोग किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इनकी भाषा में विभिन्न प्रांतीय बोलियों के शब्दों का भी समावेश हो गया है। इसका कारण यह है कि सन्त कवि अपने मत के प्रचार के लिए भ्रमण किया करते थे, अतः उनकी भाषा पर अनेक प्रान्तों की भाषा की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इन्हीं सब कारणों से इनकी भाषा खिचड़ी या सधुक्कड़ी हो गई है। यह भाषा एक बेमेल खिचड़ी है जिसमें अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, पूर्वी हिन्दी, फारसी, अरबी, संस्कृत, राजस्थानी तथा पंजाबी आदि भाषाओं के शब्द मिलते हैं।

(९) पारिभाषिक शब्दावली का बाहुल्य—सन्त मत के पारिभाषिक शब्दों के विषय में विचार करना भी आवश्यक है। इसमें सन्त-विचारावलि को ठीक-ठीक समझने में सुगमता होती है। सन्तों ने अपनी काव्य-साधना में सूफियों की बहुत सी बातें अपना लीं। इसी कारण उनके काव्य में सूफी पारिभाषिक शब्द बड़ी स्वतन्त्रता से प्रयुक्त हैं। इन पारिभाषिक शब्दों में शून्य, अनहद, निर्गुण और सगुण का महत्त्व सर्वाधिक है। शून्य की कल्पना बौद्धों से ली है।

हठयोगी साधु के लिए अवधूत शब्द का बराबर प्रयोग हुआ है। इन पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनसे काव्य-सौन्दर्य का ह्रास ही हुआ है। कविता का कार्य चित्र उपस्थित करना है वस्तु मात्र का बोध करना विज्ञान का कार्य है। इन पारिभाषिक शब्दों से कोई चित्र उपस्थित नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्त काव्य में कलात्मकता का अभाव है। सन्तों को अपने काव्य द्वारा अपने उद्देश्यों में कितनी सफलता मिली, यह भी विचारणीय है। वे ऊँचे दरजे के साधक थे। उनकी वाणी उनकी आध्यात्मिक साधनाओं का भली भाँति प्रकाशन करती है। आध्यात्मिक मिलन और वियोग के इतने सुन्दर चित्र इतनी सादगी के साथ संसार के किसी साहित्य में नहीं मिलेंगे। उन्होंने जिन शाश्वत, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का संग्रह किया है, वे समाज के लिए उपादेय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्त काव्य में बड़ी विचित्रता है। उसमें वैष्णव नैतिक सिद्धान्त, वैष्णव भक्ति की भावना, औपनैषदिक निर्गुणवाद, बौद्ध साधकों और नाथपन्थियों के पारिभाषिक शब्द सूफी साधकों की साधना का अपूर्व सम्मिलन हुआ है। इनके अतिरिक्त मुसलमान एकेश्वरवादी पैगम्बर-धर्म का मूर्ति-खण्डन और एकेश्वरवाद और हिन्दू-मुस्लिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनका प्रभाव है। वास्तव में निर्गुण सन्त-काव्य-धारा अपने समय का पूरा प्रतिनिधित्व करती है। उसमें बहुत कुछ पुराना है परन्तु उस पुराने को नये रूप में प्रस्तुत किया है, यही उसकी विशेषता है।

निर्गुण सन्त-मत पर भिन्न-भिन्न प्रभाव

निर्गुण सन्त-मत के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और आचार्यों की छाप पड़ी हुई है। इसका विशेष कारण यही है कि सन्त-मत का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब कि समन्वय की बड़ी आवश्यकता थी। इन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सन्त-मत में बड़ा ही सुन्दर तथा सफल समन्वय हुआ है। सन्त-मत ने इन सम्प्रदायों की मुख्य-मुख्य तथा उपयोगी बातों को ग्रहण किया। अब हम सन्त-मत पर जो विभिन्न-सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है उसका उल्लेख करेंगे। सन्त-मत पर जिन-जिन सम्प्रदायों ने प्रभाव डाला है वे निम्न लिखित हैं—

१—सन्त-मत पर मुसलमानी प्रभाव—सन्त-मत पर मुसलमानी प्रभाव तीन रूपों में उपलब्ध होता है।

(अ) राजनीतिक परिस्थितियों के कारण—सन्त-मत का आविर्भाव जिस युग में हुआ उस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी ही विचित्र थीं। मुसलमानों का शासन उत्तर भारत में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने से हिन्दुओं के धर्म तथा संस्कृति पर आघात होने की आशंका थी। उस समय एक ऐसे सामान्य धर्म की स्थापना की आवश्यकता थी जिसमें न तो हिन्दू धर्म का ही

अस्तित्व मिटे और न उनका मुसलमानी धर्म से ही कोई विरोध हो। इसके लिए सन्तों को कुछ मुसलमानी प्रभावों को भी ग्रहण करना पड़ा।

(आ) मूर्ति पूजा की उपेक्षा के कारण—मूर्ति पूजा आदि पूजा की विधियों और बाह्याडम्बरों का तिरस्कार सिद्धों और हठयोगियों दोनों ने किया। इन्हीं की परम्परा के कारण सन्त-मत में बाह्य-विधानों के प्रति घोर उपेक्षा बुद्धि का पूर्ण प्रचार था। मुसलमानों के कारण सन्तों की इस प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार सन्त-मत पर मुसलमानी प्रभाव मूर्ति पूजा के खण्डन के रूप में भी मिलता है।

(इ) सूफी मत के कारण—सन्त-मत पर मुसलमानी प्रभाव सूफी-मत के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। सूफी फकीर संतों से पहले भारतवर्ष में आकर बस गये थे। अतः इन फकीरों का हिन्दू जनता पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। सन्तों ने भी सूफियों से प्रेमवाद ग्रहण किया। वास्तव में इस प्रेमवाद का सन्त-मत में विशेष महत्त्व है। इसका कारण यही है कि बिना प्रेम के सन्त-मत नाथपन्थ की भाँति शुष्क रह जाता। सूफियों के प्रेम-तत्व के ग्रहण से ही संत-मत में रमणीयता आ गई और जनता का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ।

(२) सन्त-मत पर शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव—संत-मत पर शंकर के अद्वैतवाद का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। शंकर के अद्वैतवाद में, जो ईसा की ८वीं सदी में प्रादुर्भूत हुआ, आत्मा और परमात्मा की वस्तुतः एक ही सत्ता है। माया के कारण ही परमात्मा में नाम और रूप का अस्तित्व है। इस माया से छुटकारा पाना ही मानो आत्मा और परमात्मा की फिर एक बार सत्ता स्थापित करना है। आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं, जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना या ज्ञानार्जन द्वारा माया नष्ट हो जाती है तब दोनों भागों का पुनः एकीकरण हो जाता है। सन्त मत के प्रवर्तक कबीर इस बात का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी॥

इसी अद्वैत-भावना का संत मत पर प्रभाव पड़ा है।

३—रामानन्द का प्रभाव—सन्त-मत पर स्वामी रामानन्द के सिद्धान्तों, की बड़ी गहरी छाप है। इसका कारण यही है कि संत मत के प्रवर्तक महात्मा कबीरदास जी रामानन्द जी के शिष्य थे। जैसा कि इन्होंने कहा है—"काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये।" रामानुज के विशिष्टाद्वैत में विष्णु और लक्ष्मी की उपासना की प्रतिष्ठा थी और मूर्ति पूजा, आचार आदि को स्वीकार किया था। रामानन्द भी इसी सम्प्रदाय के थे परन्तु उन्होंने आचार शासन को ढीला कर दिया था, उन्होंने उपासना के स्थान पर प्रेम-लीला-भक्ति की प्रतिष्ठा की। लक्ष्मी-विष्णु के स्थान पर राम सीता को आलम्बन बनाया। परन्तु रामानन्द स्वतन्त्र चित्त थे। उन्होंने अपने शिष्यों को मुक्त छोड़ दिया कि वे राम को चाहे जिस रूप में स्वीकार करें। इसी कारण कबीर ने राम को ऐसे रूप में स्वीकार किया जिसका निर्देश न तो रामानुजाचार्य की परम्परा में मिलता है और न जिस पर स्वामी रामानन्द ने ही प्रकाश डाला था। सन्त मन वालों पर रामानन्द का प्रभाव सबसे अधिक इस बात में पड़ा कि उन्होंने अपने मत में मांस-भक्षण निषेध, वैष्णवी दया आदि को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

४—सन्त मत पर वैष्णवों का प्रभाव—सन्त मत पर वैष्णव भावनाओं का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वैष्णव-भावना की सब से महत्त्वपूर्ण बात व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना और उसकी भक्ति है। सन्त मत वाले निर्गुण के उपासक हैं, किन्तु अनेक पदों में उन्होंने इसी निर्गुण से व्यक्तिगत प्रेम का सम्बन्ध जोड़ लिया है। कभी वे हरि को जननी कहते हैं, कभी अपने को राम की बहुरिया मानते हैं, परन्तु मूल भावना में कोई अन्तर नहीं है। तुलसी की तरह सन्त मत के प्रवर्तक कबीर भी कहते हैं—

जारि आव ऐसा जीवनां राम सूं प्रीति न होई।

वैष्णव धर्म मानने वाले भक्ति को ही सबकुछ मानते हैं, यही उनके मत का सार है। कबीर भी यही मानते हैं। परन्तु इस भक्ति की प्राप्ति में माया बाधक है जो दो प्रकार की है। वैष्णव कवि तुलसी की तरह कबीर माया के दो रूप मानते हैं—

माया है दुइ भाँति की, देखौ ठोंक बजाय।
एक मिलावै राम से, एक नरक लै जाय॥

वैष्णवों के अनुसार इस भक्ति की प्राप्ति के साधन—गुरु भक्ति और नाम कीर्तन है। सन्त मत वालों ने गुरु की भक्ति को बहुत महत्ता दी है। कबीर ने तो उसे गोविन्द से बढ़कर माना है। नाम कीर्तन की महत्ता का प्रतिपादन भी सन्त कवियों ने पर्याप्त किया है। वैष्णव भक्ति का दूसरा अंग इष्टदेव के प्रति रति की भावना है। सन्त मत वालों ने इसका वर्णन स्थान-स्थान पर रहस्यवाद की भावना के अन्तर्गत किया है। सन्त मत पर वैष्णवों के लोकवाद का भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। सन्त मत में जो लोक भावना का प्राधान्य है वह उसकी वैष्णव भावना के ही फलस्वरूप है। सन्तों में जो एकांतिक और वैयक्तिक साधना के साथ-साथ लोकोपकार की प्रवृत्ति मिलती है वह इसी का परिणाम है। संत मत वालों ने इसी प्रकार परम्परागत रूढ़िवाद पर आधारित लोक जीवन के खोखलेपन का निर्देशन किया है।

(५) **सन्त मत पर सिद्धों और हठयोगियों का प्रभाव**—सन्तों पर सिद्धों और हठयोगियों का प्रभाव कई रूपों में पड़ा है। सब से बड़ी बात तो यह है कि सिद्धों और हठयोगियों दोनों ने बाह्य-पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन इत्यादि की निस्सारता बताई और शास्त्रज्ञ विद्वानों को फटकारा। यही परम्परा आगे चलकर सन्तों ने भी अपने ढंग पर जारी रक्खी। सिद्धों और हठयोगियों ने रहस्यदर्शी बन कर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का सन्तों को मार्ग प्रदर्शित किया। उन्होंने सन्तों को घर के भीतर चक्र, नाड़ियाँ शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात और नाद, बिन्दु, सुरति, निरति ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया।

दूसरी बात भाषा सम्बन्धी है। सिद्धों की रचनाओं की भाषा देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है, जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रज मण्डल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा

थी, परन्तु मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिले हुए हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य भाषा का ढाँचा शौरसेनी-प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली का था। इसी भाषा का विकसित स्वरूप सन्तों की सधुक्कड़ी भाषा में मिलता है। सिद्ध कण्हपा की रचना को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो एक बात दृष्टिगोचर होती है। वह यह है कि उनके उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिन्दी है, पर गीतों की भाषा पुरानी बिहारी या पूर्वी बोली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी' और 'रमैनी' में पाते हैं। 'साखी' भाषा तो खड़ी बोली और राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कड़ी' भाषा है, पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूर्वी बोली भी है। सन्त मत पर सिद्धों की अपेक्षा हठयोगियों का अधिक प्रभाव पड़ा है।

कबीरदास का सुधारवादी दृष्टिकोण

जब हम कबीरदास जी के सुधारवादी दृष्टिकोण का विवेचन करते हैं तो उसके लिए हमको उस काल की परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। उस समय की परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं जिनके कारण कबीरदास जी का निर्गुण मत फैलाना सफल हुआ और साथ ही उनको यश भी मिला। हम देखते हैं कि महाराज हम्मीरदेव की मृत्यु के पश्चात् हिन्दुओं की शक्ति दिन प्रति दिन क्षीण होती गई। हिन्दू मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति का सामूहिक रूप से सामना करने में असमर्थ थे। तैमूर के आक्रमण ने देश को उजाड़ कर नैराश्य को चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। लेकिन इतना होने पर भी राजस्थान की वीर राजपूत जाति समय-समय पर स्वतन्त्रता का युद्ध छेड़ती रही और इसी से वहाँ चारण कवियों द्वारा वीर रस की कविताएँ होती रहीं। लेकिन व्यापक रूप से वीर गाथाओं में शिथिलता पड़ गई थी। देश के राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन ढीले पड़ जाने के कारण एक ओर तो हिन्दू जनता अपना ह्रास देख रही थी, और दूसरी ओर विदेशी और विधर्मियों का अभ्युदय। ऐसी अवस्था में आत्म-विश्वास के साथ धर्म और परमात्मा पर से भी उनका विश्वास हट रहा था। यह दशा

उस समय थी जबकि कबीर आदि संत कवियों का जन्म हुआ था। यह हिन्दू जाति के लिए परम सौभाग्य तथा परमात्मा की असीम कृपा की बात समझना चाहिए कि उसी समय दक्षिण भारत से भक्ति की एक प्रबल धारा उत्तर की ओर आई और कबीर आदि सन्तों ने जनता को भक्ति मार्ग की ओर प्रवृत्त कर भक्ति का प्रचार किया। लेकिन यदि हम यह कहें कि सगुण भक्ति का प्रचार क्यों नहीं किया गया, निर्गुण भक्ति का ही प्रचार इतना अधिक प्रभावशाली क्यों कर हुआ तो इसका भी एक कारण था। इस समय प्रत्येक प्रकार की भक्ति के प्रचार के लिए परिस्थिति अनुकूल न थी। इसका विशेष कारण यह है कि विक्रम की ११ वीं शताब्दी में मूर्तियों की अशक्तता बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी। महमूद गजनबी आत्म-रक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखे हुए हिन्दुओं के देखते ही देखते सोमनाथ का मन्दिर नष्ट करके हजारों को तलवार के घाट उतार कर असंख्य धन लेकर अपने देश को रवाना हुआ। गजेन्द्र की एक टेर सुनकर दौड़ आने वाले, ग्राह से उसकी रक्षा करने वाले सगुण भगवान एक बार भी उसकी रक्षा करने के लिये आते हुए दिखाई न दिये। इसलिये उनकी ओर जनता को प्रवृत्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। लोगों को अब सगुण भगवान पर विश्वास न रह गया था। उनकी यह देव मूर्तियाँ केवल मूर्तियाँ ही थीं लेकिन उनमें कोई चमत्कार नहीं रह गया था।

दूसरी ओर योग-प्रधान नाथ पंथ का प्रभाव सारे देश में छाया हुआ था। सूफी फकीर भी अपने प्रेम और उदारता के कारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। इस कारण लोगों ने सगुण भक्ति का उस समय वैसा अनुसरण नहीं किया जैसा कि कबीर आदि सन्त कवियों का किया और अन्त में नामदेव जैसे सगुण भक्त को ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी। सन्त कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति द्वारा भारतीय जनता के हृदय में अपूर्व आशा उत्पन्न की और कुछ समय तक इस जाति को निराशा की अथाह जल राशि के ऊपर अपने हाथ का सहारा देकर रखा। वैसे तो वास्तव में जनता को सच्ची सांत्वना राम भक्ति शाखा से मिली लेकिन फिर भी कबीर

आदि संत महात्माओं का महत्त्व कम नहीं हो जाता। यदि कबीर जनता को भक्ति की ओर अग्रसर न करते तो क्या यह सम्भव था कि लोग आँख मूंद कर सूर और तुलसी को ग्रहण कर लेते? सारांश यह है कि इन सन्त कवियों का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा तक न रह गई थी और उसे मृत्यु या धर्म परिवर्त्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं दीख रहा था। उस समय जनता का विश्वास सगुण उपासना पर से हट गया। हम देखते हैं कि मुसलमान मूर्तिपूजा तथा सगुणोपासना के विरोधी तथा निर्गुण और एकेश्वर ब्रह्म के उपासक थे। अतः कबीर ने ऊँच-नीच और हिन्दू-मुसलमान का भेद दूर कर निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। यह निर्गुण उपासना का मार्ग पूर्ण रूप से हिन्दू जनता को तल्लीन न कर सका लेकिन फिर भी उसने राम, अल्लाह और अलख निरंजन के बाह्य नाम भेदों के भीतर की तात्विक एकता का दर्शन कराके सूर और तुलसी के लिए प्रशस्त मार्ग खोल दिया।

मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव से हिन्दू जाति के निम्न वर्ग में नवीन जाग्रति हुई। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में जाति-पांति तथा छुआछूत का कोई भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब समान हैं। व्यवसाय, आचार-विचार आदि में कोई भेद-भाव न था फिर भी वह जनता को विशेष रूप से आकर्षित न कर सका। जिस प्रकार शंकर के अद्वैतवाद के द्वारा बौद्ध धर्म का पतन हुआ उसी प्रकार भक्ति के प्रताप से योग-मार्ग का प्रभाव भी नष्ट हो रहा था। अतः एक ओर तो अपनी हीन सामाजिक स्थिति से ऊब कर और दूसरी ओर प्राण-रक्षा तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लालच में निम्न वर्ग की जनता के लिए विदेशी धर्म ग्रहण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। ऐसे समय में स्वामी रामानन्दजी ने पूर्ण उदारता के साथ भेद-भाव दूर कर शूद्रों और मुसलमानों के लिए भक्ति-मार्ग खोल दिया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनियाँ, कबीर जुलाहा आदि समाज की निम्न श्रेणी के थे पर उनका नाम आज तक आदर के साथ लिया जाता है।

महात्मा कबीर का जन्म अब तक के अनुसंधानों के आधार पर सं० १४५६ और मृत्यु १५१५ वि० मानी जाती है। ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ

से उत्पन्न हुए तथा मुसलमान परिवार में इनका पालन-पोषण हुआ किन्तु अभी तक इस विषय में निश्चित कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाया। इनके गुरु स्वामी रामानन्द थे। कुछ विद्वान् शेख तकी को भी इनका गुरु मानते हैं। धर्मदास और गोपाल नाम के इनके दो प्रधान शिष्य थे।

महात्मा कबीरदास बहुश्रुत थे। उनको सत्संग के द्वारा वेदान्त उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का यथेष्ठ ज्ञान था। योग की क्रियाओं के विषय में उनको जानकारी थी। उन्होंने इड़ा, पिंगला, शुषुम्ना, षटचक्र आदि का उल्लेख किया है। लेकिन योग को अधिक प्रधानता नहीं दी। उन्होंने केवल हिन्दू और मुसलमान धर्मों का उल्लेख किया है। उन्होंने दोनों को फटकारा है तथा इनको सद्मार्ग पर लाने की चेष्टा की है। जिस प्रकार यूरोप में लूथर के पूर्व १५ वीं शताब्दी में पोप ही धर्म के स्तम्भ समझे जाते थे, उसी प्रकार कबीर से पूर्व धार्मिक ज्ञान पूर्ण रूप से ब्राह्मणों के आश्रित था। साथ ही शासकों की निरंकुश नीति के कारण राजनैतिक असन्तोष की मात्रा भी बहुत बढ़ गई थी। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्ग के प्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं, तथापि भारतीय नवयुग के समाज-सुधारकों में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है, क्योंकि भारतीय धर्म के अन्तर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एवं कर्म-काण्ड तीनों का समावेश है।

कबीरदास हमारे सामने सुधारवादी के रूप में आते हैं। इन्होंने धार्मिक पाखण्डों का विरोध कर सत्यानुमोदन किया। वे जानते थे कि हिन्दू-मुसलमानों के विरोध का कारण उनका अन्ध-विश्वास है। धर्म का मार्ग संसार के कृत्रिम भेद-भावों से रहित है। देखिए—

"कह हिन्दु मोहि राम पियारा, तुर्क कहें रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मुये, मरम न काहू जाना॥"

वास्तव में भारतीय समाज में बन्धुत्व के भाव कबीर के द्वारा व्यक्त किये गये। भक्ति-भाव के आन्दोलन द्वारा भगवान के सामने सम-भाव का आदेश तो रामानन्द ने दिया था, पर जाति-विभाग और ऊँच-नीच के एकीकरण का साहस कबीर के पूर्व किसी ने नहीं किया। सच्चा सुधारक समाज में नये

मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अन्ध-विश्वास में पड़े हुए मनुष्यों को तर्क द्वारा जागृत करना अधिक अच्छा समझता है। कबीर स्वाधीन विचार के व्यक्ति थे। कबीर के सिवा काशी के हिन्दू क्षेत्र में कौन साहस कर सकता था कि यह पूछे कि "जो तुम ब्राह्मननि ज्याये, और राह तुम काहे न आये।" उनका कथन था कि जब काली और सफेद गाय के दूध में कोई अन्तर नहीं तो फिर उस परमात्मा की सृष्टि के जीवों में क्या अन्तर है। इस विषय में कबीर की अनेक उक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। यथा—

"एक हो रक्त से बने हैं को ब्राह्मण को सूद्रा।"
"कोई हिन्दू कोई तुरक कहावें एक जमीं पर रहिए॥"

कबीरदास की यही सम-दृष्टि उनको सार्वभौमिक बना देती है। जाति विभाग के नियम पालन में छुआ-छूत का प्रश्न भी जटिल हो गया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों के अपने-अपने सामाजिक संस्कार थे। धर्म के दार्शनिक तथ्यों की अवहेलना की जा रही थी। धर्म का रूप केवल बाहरी आडम्बरों पर ही निर्भर था। कारण यह था कि पंडितों और मुल्लाओं की प्रधानता एवं उनकी संकुचित विचारधारा के कारण आडम्बर की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। जब कबीर ने देखा तो उन्होंने इस ओर कदम उठाया और उन्होंने यह सब "झूठे का बाना" समझा। और कहा—

सुर नर मुनी निरंजन देवा, सब मिल कीन्ह एक बन्धना।
आप बँधे औरन को बाँधे भवसागर का कीन्ह पयाना॥

बात थी तो सत्य लेकिन रूखी थी। इसमें कुरान, वेद आदि को ढोंग समझा गया है। लेकिन कबीर ने इनको बिलकुल हटाने के बारे में नहीं कहा। लेकिन कहा है कि झूठा वह है जो इनको सोचता-विचारता नहीं। देखिये—

वेद कितेब कहो मत झूठे-झूठा जो न विचारै

कबीरदास ने बाह्य आडम्बरों तथा तीर्थ-व्रत, स्नानादि को व्यर्थ माना है। उन्होंने सूफी मत तथा वैदिक धर्म के अनुकूल ईश्वर की सत्ता सर्वव्यापक मानी है। कोई उसे पूर्व की ओर और कोई पश्चिम की ओर मानता है। कोई नमाज पढ़ता है और कोई घण्टा आदि बजाता है। कबीर ने देखा कि

एकात्मता के पीछे अनेकरूपता का रूपक देकर व्यर्थ का विरोध बढ़ाया गया है। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि महादेव और मुहम्मद में कोई अन्तर नहीं। राम और रहीम पर्यायवाची शब्द हैं। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी उस परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं। देखिए—

"हिन्दू तुरक की एक राह है सब गुरु यहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो सन्तों राम न कहेउ खोदाई॥"

इस प्रकार कबीर ने अपने समय की धार्मिक कुरीतियों को दूर कर पारस्परिक विरोध को मिटाने का सफल प्रयास किया। सरल जीवन, सत्यता, स्पष्ट व्यवहार आदि उनके उपदेश हैं। कबीर का कहना है "इन दोउन राह न पाई" एक बकरी काटता है तो दूसरा गाय। यह पाखण्ड नहीं तो क्या है? कबीर ने दोनों के आडम्बरपूर्ण व्यवहार का विरोध किया। उन्होंने किसी धार्मिक ज्ञान का आश्रय नहीं लिया। उनका कहना था कि—

मैं कहता हूँ आँखिन की देखी तू कहता कागज की लेखी"

इस प्रकार कबीरदास ने उपदेश का कार्य कर देश तथा दोनों जाति का बड़ा उपकार किया। अन्त में हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कह सकते हैं "कबीरदास ऐसे ही मिलनबिन्दु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ पर एक ओर योग मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग; जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना—उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के दोष गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।"

सूफी मत का उद्भव तथा विकास

सूफी मत के उद्भव तथा विकास पर विचार करने से पूर्व हमारे लिए आवश्यक है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति पर भी प्रकाश डाला जाय। सूफी

शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मसजिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था; उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफी कहलाये। दूसरा मत यह है कि निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में (सफ में) खड़े किए जायेंगे वास्तव में उन्हीं को सूफी कहते हैं। तीसरा मत है कि सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं, और सफा होने के कारण उनको सूफी कहते हैं। चौथे दल के अनुसार सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपान्तर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है। पाँचवा मत है कि सूफी शब्द सूफ (सफेद ऊन) से बना है। सूफी सन्त ऊन के कपड़े पहनते थे, इसलिये वे सूफी कहलाए। यह मत अधिकतर विद्वानों द्वारा मान्य समझा जाता है। सूफी का प्रयोग मुस्लिम सन्त या फकीर के लिए ही अब नियत रूप से होने लगा है। इस प्रकार सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत से मत प्रचलित हैं।

इतिहास के आधार पर अध्ययन करने से किसी मत का सच्चा स्वरूप अपने शुद्ध और निखरे रूप में प्रकट होता है और उसके उद्भव तथा विकास का भी ठीक-ठीक पता चल जाता है। सूफीमत इस्लाम धर्म का एक प्रधान अङ्ग माना जाता है। यद्यपि अनेक सूफियों ने अपने को मुहम्मदी मत से अलग रखने की पूरी चेष्टा की है तथापि उनके व्याख्यान में मुहम्मद साहब का पूरा प्रभाव दिखाई देता है परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि सूफी संत कट्टर मुसलमानों से कुछ मुलायम तबियत के हैं। इसी आधार पर कट्टर मुसलमान उन्हें इस्लाम से कुछ भिन्न समझते थे।

मुसलमानों के पतन के बाद मसीहियों का विकास हुआ। सूफियों और मसीही सन्तों में बहुत कुछ साम्य था। परन्तु जैसे कुरान की सहायता से सूफी मत इस्लाम का प्रसाद नहीं सिद्ध हो सकता वैसे ही इंजील के आधार पर उनको मसीह मत का प्रसाद नहीं कहा जा सकता।

कुछ सूफियों का कहना है कि सूफीमत का आदम में बीज-वपन, नूह में अंकुर, इब्राहीम में कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ।

सूफी मत के मूल-स्रोत का पता लगाने के लिए हमें उसके सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना चाहिए। वस्तुतः सूफी मत प्रेम भावना पर स्थित है। बात यह है कि मसीह का मूलमन्त्र विराग है, जो विरति के साथ रति भावना से भी प्लावित है। मसीह की दुलहिनों अथवा भक्त सन्तों ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल में वही रति-भाव है। सूफियों के इस प्रेमवाद का शामी जाति वालों द्वारा बहुत दिनों तक विरोध हुआ। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मसीह के निवृत्ति प्रधान मार्ग में आध्यात्मिक प्रणय का स्वागत हुआ और लौकिक रति अलौकिक रति में परिणत हो गई। यही परम्परा सूफियों ने ग्रहण की। भारत में परमात्मा के साकार स्वरूप को खड़ा कर जिस माधुर्य भाव का प्रचार किया गया उसी का प्रसाद शामी जातियों में निराकार का आलंबन ले मादन-भाव के रूप में हुआ। सूफियों के इस प्रेमवाद के दर्शन मीरा व आंदाल के प्रेम में होते हैं। वास्तव में सूफियों के प्रेम का उदय संसार में प्रचलित देवदास एवं देवदासियों की प्रथा से हुआ और कर्मकाण्डी नबियों के घोर विरोध के कारण उनको परम प्रेम की पदवी मिली।

इस प्रकार सूफी मत के उद्भव के लिए हमें इस्लाम धर्म से पूर्व प्रचलित शामी जाति के धर्म का अध्ययन भी करना पड़ता है। मुहम्मद साहब का प्रादुर्भाव तो बाद में हुआ। मुहम्मद साहब के इस्लाम से शामी जातियों में नवीन रक्त का संचार हुआ। इस्लाम के उदय के पूर्व ही सूफी-मत के सभी अङ्ग पुष्ट हो चले थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व ही सूफीमत का उद्भव तथा विकास हो चुका था। इस प्रकार मुहम्मद साहब के ग्रन्थ में सूफी सिद्धान्त पाये जाते हैं, इसी आधार पर सूफी अपने मत को इस्लाम के अन्तर्गत मानते हैं।

बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में जब सूफी लोग भारत में आये, तब सूफी मत पर अनेक भारतीय प्रभाव पड़े। सूफीमत पर सबसे अधिक प्रभाव भारतीय वेदांत का पड़ा। वेदांत के प्रभाव को लेकर सूफीमत ने अपना स्वतन्त्र विकास किया जिसमें कुरान के सात्विक सिद्धान्तों का विशेष रूप से सम्मिश्रण किया गया। सूफी-मत पर दूसरा भारतीय प्रभाव हठ-योगियों का पड़ा है। सूफियों

ने योगियों से प्राणायाम आदि की शिक्षा ली। अतः सूफीमत पर हठयोगियों के सिद्धान्तों की यत्र तत्र झलक मिलती है।

भारतवर्ष में सूफीमत का प्रवेश कुछ विद्वान ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती से मानते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी इसका श्रेय प्रसिद्ध मल्हुज्वरी को देते हैं। मल्हुज्वरी भारत में विक्रम की १२ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में आये थे। इन्होंने सूफीमत के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के लिए एक ग्रन्थ 'कुश्फुल' महज़ूब' लिखा। इसमें तत्कालीन विविध सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख है। इनमें से प्रमुख १२ का वर्गीकरण करके उनका परिचय भी दिया है। भारत में सूफीमत चार सम्प्रदायों के रूप में प्रचलित हुआ। चार सम्प्रदाय ये हैं—चिश्तिया (१२ वीं श०), सुहर्वर्दिया (१२ वीं श०), काहिरिया (१५वीं शताब्दी) और नक्शबंदिया (१५ वीं शताब्दी)। ये चारों संप्रदाय अपने मूल सिद्धान्तों में एक ही मत के मानने वाले थे किन्तु आचार-विचार में सूक्ष्म अन्तर मिलता है। इस मत की प्रमुख विशेषताएं प्रेम की प्रधानता, सामाजिक समता, मानव तत्त्व का महत्त्व एवं पूर्ण मानव का ईश्वर से अभेद इत्यादि हैं। यह मत अपने धार्मिक दृष्टिकोण में बहुत स्वच्छन्द है।

सूफीमत के सिद्धान्त की इस सम्प्रदाय के कवियों ने लोकप्रिय प्रेमगाथाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति की है। प्रेम काव्य का आरम्भ आदिकाल से ही हो जाता है जब मुल्ला दाऊद ने चन्द्रावत या चन्द्रावती की रचना की। इसके उपरान्त प्रेमकाव्य की परम्परा पल्लवित एवं पुष्पित होती रही किन्तु इसका पूर्ण परिपाक मलिक मोहम्मद जायसी में दिखाई पड़ा। वे सूफी-कवियों में सर्वोत्कृष्ट कवि हैं और उनका 'प्रेम काव्य' सूफी-मत एवं हिन्दी साहित्य दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य है। इनके बाद भी प्रेम काव्य-परम्परा चलती रही। प्रेम-काव्य-धारा के विकास का अध्ययन करने से पूर्व हमें इस मत के सिद्धान्तों का भी विचार कर लेना चाहिये।

सूफी मत के सिद्धान्त

सूफी मत का भारत में प्रवेश मुसलमान साधुओं के साथ हुआ। भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध, मुसलमानी आक्रमण के शताब्दियों पूर्व, योरोपीय

जातियों से स्थापित हो चुका था। व्यापार का मार्ग ईरान से होकर था। अतः इस्लाम-विजय के शताब्दियों पूर्व बौद्ध-धर्म के विचार और वेदान्त ईरान में पहुँच चुके थे। इस्लाम से विजित होने पर भी ईरान की सुसंस्कृत, भावुक और उदार मिट्टी अपने पूर्व विचारों का सर्वथा परित्याग न कर सकी और सूफी कवियों की वाणी में प्रस्फुटित होकर विश्व को रस-मग्न करती रही। इस परम्परा के कवियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक रूप में देखा और ध्वनित किया है। सूफी सन्तों का सम्प्रदाय हिन्दू धर्म से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद के निकट पहुँच जाते हैं। ये लोग सरल और मुलायम तबियत के होते हैं। इस्लाम धर्म से निकल कर और हिन्दू-धर्म से प्रभावित होकर सूफी धर्म इस्लाम और हिन्दू-धर्म का अपूर्व सम्मिलन करता है। जिस प्रकार निर्गुण सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया उसी प्रकार सूफी सन्तों ने सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न किया। वे लोग ईश्वर को अपने प्रेमपात्र के रूप में देखना चाहते हैं। इनके अनुसार आत्मा और परमात्मा के मिलने में शैतान बाधक है। सच्चा गुरु मनुष्य की आत्मा का उस परमात्मा से मिलन करा सकता है। सूफी सन्तों ने हिन्दुओं के घरों की प्रेम गाथाओं को लेकर अपने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की। मलिक मोहम्मद जायसी इस शाखा के प्रधान कवि थे। कुतवन, मझन, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवियों का नाम भी इस परम्परा में लिया जाता है। कुछ हिंदू कवियों जैसे दामों, हरिराज, मोहनदास आदि ने भी प्रेममार्गी परम्परा को अपनाया। सूफी मत के सिद्धान्तों का हम नीचे संक्षेप में विवेचन करेंगे :—

१—ईश्वर—सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है कि जिसका नाम हक़ है। आत्मा और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा उसके सामने अपने को बंदे के रूप में प्रस्तुत करती है, जैसा कि इस्लाम धर्म में भी है और बन्दा प्रेम के द्वारा उस ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। खुदा तक पहुँचने के लिए बन्दे को चार दशाएँ—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत पार करनी पड़ती हैं। मारिफत में रूह 'बका' या जीवन प्राप्त करने के लिये फना हो जाती है। इस 'फना' होने में उसका प्रेम ही सहायक है। इस प्रकार 'बका' होकर

आत्मा में ही परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनलहक' (मैं ही ईश्वर हूँ) सार्थक हो जाता है। प्रेम में चूर होकर आत्मा इस आध्यात्मिक यात्रा को पार करके ईश्वर में शराब-पानी की तरह मिल जाती है। सूफी संतों का ईश्वर सृष्टि का कर्ता, अलख, अनादि, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, सर्वव्यापी, अनन्त और अवर्णनीय होने पर भी उनका प्रियतम है। इन लोगों के विश्वास के अनुसार जीव ब्रह्ममय है और संसार नश्वर है। सूफियों के ईश्वर के सम्बन्ध में एक बात विशेष महत्त्व की है, वह यह है कि इनके ईश्वर की प्राप्ति का एक साधन है और वह साधन 'प्रेम' है।

२—प्रेम—सूफी मत के फकीर 'प्रेम' को ही ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते हैं; यही कारण है कि सूफी मतावलम्बियों का काव्य प्रेमगाथाओं के रूप में उपलब्ध होता है। वह प्रेम निस्वार्थ है। सूफी फकीर इस प्रेम के नशे में मस्त होकर परमात्मा में लौ लगा लेते हैं। उन्हें शरीर आदि बाह्य संसार की बातों का कुछ ज्ञान नहीं रहता है। सूफी मत के इस 'प्रेम' के सम्बन्ध में एक बात और है, वह यह है कि सूफी लोगों ने ईश्वर को स्त्री के रूप में माना है, अतः भक्त उस स्त्री (प्रियतमा) की प्रसन्नता के लिए बहुत प्रयत्न करता है, और उसके हाथ की शराब पीने के लिए तरसता है। वह उससे प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर उसके सम्मुख एक दैवी स्त्री के रूप में उपस्थित होता है।

३—शैतान और पीर—शंकर मत के अनुसार आत्मा परमात्मा के मिलन में माया बाधक है। सूफीमत वाले बन्दे और ईश्वर के सम्मिलन में एक बाधक तो मानते हैं, पर वह माया के स्थान पर शैतान की कल्पना करते हैं। शैतान साधक को उसके पथ से विचलित कर देता है। पद्मावत में रत्नसेन को विचलित करने वाला राघव चेतन है, जिसे जायसी ने शैतान के रूप में चित्रित किया है। इस शैतान से बचने के लिए सूफियों ने एक पीर (गुरु) की आवश्यकता का निर्देश किया है। इसलिए सूफीमत में पीर का बड़ा सम्मान है। पीर ही ऐसा शक्तिशाली है जो साधक (बन्दे) को शैतान से बचा सकता है।

४—जीव—कुरान में ब्रह्म-जीव का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का है। उसमें अल्लाह और मुहम्मद का सम्बन्ध स्पष्ट है। अल्लाह सर्वोपरि है तथा

मुहम्मद उसका रसूल है। सूफियों ने वेदान्तियों की तरह 'जीव' ही को ब्रह्म माना है। आदमी अल्लाह का प्रतिरूप है। मूलतः अल्लाह और बन्दे में कोई अन्तर नहीं है। सूफियों पर अद्वैतवादियों का काफी प्रभाव पड़ा है, पर वह किस रूप में पड़ा है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु साधना पक्ष में वह वेदान्त के केवलाद्वैत के बहुत निकट है, यद्यपि वेदान्त ज्ञानाश्रित और सूफीमत भावाश्रित है।

५—**सृष्टि**—सूफियों की दृष्टि में सृष्टि का उपादान कारण 'रूह' है। 'रूह' का अर्थ अलौकिक शक्ति है, जो इन्सान में भी अंश रूप में स्थित है। इन्सान की रूह का शरीर से जो सम्बन्ध है वही 'रूह' का सृष्टि से है। ईश्वर ने अपनी सत्ता को सर्वप्रथम रूह का रूप दिया, जिससे सृष्टि, फरिश्तों और कल्बं की उत्पत्ति हुई। सूफियों के विचार में सृष्टि के सारे उपकरण अल्लाह के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की झलक हैं। सूफी सृष्टि में प्रतिबिम्बित अल्लाह के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसमें तन्मय हो जाता है और इस प्रकार हक तक पहुँच जाता है। संक्षेप में सूफियों के मतानुसार सृष्टि वह दर्पण है जिसमें अल्लाह के आत्मदर्शन की कामना पूरी होती है। इस दर्पण में अल्लाह का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही इन्सान है।

६—**अन-अल-हक्क**—वस्तुतः अल्लाह और इन्सान एक ही 'तत्त्व' के बने हैं। कुछ सूफी कवि कहते हैं कि परमसत्ता में जीव का सर्वथा लोप हो जाता है, कुछ अंशतः मानते हैं। सूफियों की साधना यही है कि वे 'अन-अल हक्क' (मैं ब्रह्म हूँ) को स्वयं अनुभव कर सकें। अतः साधना की आवश्यकता पड़ती है, 'जो विरह की साधना' है। सूफी दिन-रात उस 'महा-मिलन' की आकुलता का अनुभव करना चाहते हैं जो अन्ततः जीव ब्रह्म को एक कर देगी।

सूफी कवियों की परम्परा

प्रेम काव्यों का आरम्भ अलाउद्दीन के समय में मुल्ला दाऊद की नूरक और चन्दा नामक प्रेम-कथा से होता है। पद्मावत की प्रस्तावना में मलिक मुहम्मद जायसी अपने से प्राचीन कुछ और प्रेम-कथाओं का भी उल्लेख करते हैं। देखिये :—

विक्रम धंसा प्रेम के बारा । सपनावति कहं गएउ पतारा ।
मधू पाछ मुगुधावति लागी । गगन पूर होयगा बैरागी ।।
राजकुंवर कंचनपुर गएउ । मिरगावति कहं जोगी भएऊ ।
साध कुंवर खंडरावति जोगू । मधुमालति कर कीन्ह बियोगू ।।
प्रेमावति कहं सुरसरि साधा । ऊषा लागि अनिरुधि बर बाँधा ।।

इस उद्धरण के अनुसार सम्भवतः जायसी के पूर्व प्रेम-काव्य पर कुछ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे—'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'खण्डरावती', 'मधुमालती' और 'प्रेमावती' ।

मुल्ला दाउद सूफी परम्परा के सबसे प्राचीन कवि हैं, रज्जन का उद्भव मुल्ला दाऊद के बाद हुआ। ये सूफी साधू और फारसी हिन्दी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे । इनकी 'प्रेमवन जीव निरंजन' हिन्दी की विख्यात रचना है। जायसी ने अपने पूर्व प्रेम-कथा कहने वालों का उल्लेख करते हुए 'प्रेमावती कहं सुर सरि साधा में' जिस प्रेमवती का संकेत किया है, वह सम्भवतः इसी 'प्रेमवन जीव निरंजन' की नायिका है ।

सन् १५०१ में कुतबन शेख ने मृगावती नाम की प्रेमकथा अवधी भाषा में लिखी जो दोहे और चौपाइयों में है । यह सूफी साहित्य का प्रथम ग्रंथ है, जिसके द्वारा सूफीमत का हिन्दी-साहित्य में प्रवेश हुआ । परन्तु हिन्दी साहित्य में सूफी साहित्य का पूर्ण परिपाक जायसी में देखा जा सकता है। कुतबन के बाद मंझन की 'मधुमालती' नाम की प्रेम-गाथा भी मिलती है। मंझन ने अपनी रचना में एक विशेषता की है कि अपनी प्रेम-कथा में नायक-नायिका के साथ उपनायक व उपनायिका की कल्पना की है। इसकी भाषा अवधी है । मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना विशद एवं वर्णन भी विस्तृत तथा हृदय पर प्रभाव डालने वाले हैं ।

इसके बाद सूफी परम्परा के प्रमुख और श्रेष्ठ कवि मलिक मोहम्मद जायसी इस क्षेत्र में आये । वे सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे तथा शेर-शाह के काल में इस क्षेत्र में आये । इनके तीन ग्रन्थ हैं—पद्मावत, अखरावट और आखरी कलाम । मालिक मुहम्मद जायसी की परम्परा तथा अन्य सब

प्रेममार्गी कवियों की प्रेम परम्परा में अन्तर है जहाँ अन्य प्रेममार्गी सन्तों ने केवल कल्पित कथाओं का ही आश्रय लिया है वहाँ जायसी ने उसमें इतिहास का भी थोड़ा सा मिश्रण कर दिया है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध में व्यक्तिपक्ष है परन्तु उत्तरार्द्ध में कवि प्रेमियों के व्यक्ति पक्ष से हटकर लोक पक्ष पर आ गया है। इसके सिवाय उसने अलाउद्दीन और पद्मिनी का ऐतिहासिक आख्यान उसमें जोड़ दिया है, इस कारण जायसी का पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से प्रथक हो गया है। प्रबन्ध की दृष्टि से भी वह औरों से बढ़कर है। अन्य सूफी कवि जहाँ प्रेम, श्रद्धा, भक्ति तथा कारुण भावों ही को व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी ने लोक-दृष्टि से समन्वित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, ओज आदि भाव प्रदर्शित किये हैं। इस कारण से उसमें प्रबन्धत्व की अपेक्षा सामग्री अधिक हो गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवित्व गुण और भाषा की दृष्टि से जायसी में अन्य सूफी सन्तों से श्रेष्ठता है।

जायसी के बाद जलालुद्दीन का नाम आता है। इनका 'जमाल पच्चीसी' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ मिलता है। इनकी कविता साधारण श्रेणी की होती थी। उन्होंने दोहे और कवित्त और छप्पय में रचना की है।

उनके बाद अहमद का उद्भव हुआ है। आपके दोहे, सोरठे बहुत ही चट-कीले तथा रसीले हैं। 'शिवसिंह-सरोज' ग्रंथ के अनुसार इनका मत सूफी अर्थात प्रेम-मार्गियों से मिलता-जुलता था।

इनके बाद उसमान इस क्षेत्र में आये। आपने जहाँगीर बादशाह के शासन-काल में 'चित्रावली' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक के प्रारम्भ में सूफी-सम्प्रदाय के कवियों की परम्परा के अनुसार आपने भी ईश-स्तुति, पैगम्बर और खली-फाओं, बादशाह जहाँगीर तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा की है। आपने अपनी 'चित्रावली' की रचना जायसी के पदमावत के ढङ्ग पर की है। 'चित्रावली' के दोहे चौपाईयों का क्रम भी ठीक उसी प्रकार है। उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी की ही तरह नगर, सरोवर, दान-महिमा आदि का वर्णन 'चित्रावली' में है। एक नई बात है कि इनके जोगी अंगरेजों को भी देख आये थे।

इनके बाद शेखनबी का समय आता है। इन्होंने 'ज्ञान-दीप' नामक एक आख्यान काव्य लिखा है, जिसमें राजा 'ज्ञानदीप' और रानी 'देवयानी' की कथा वर्णित है।

जटमल ने 'गोरा बादल की बात' और 'प्रेमलता-चौपाई' नामक दो ग्रंथ लिखे हैं। उनकी और भी फुटकल रचनाएं हैं। इनकी भाषा में पंजाबीपन है पर काव्य-सौष्ठव अधिक है।

इनके बाद प्रेमी नामक सूफी सन्त का समय आता है। इनकी रचना 'प्रेम परकास' की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। उसकी भाषा खड़ी बोली मिश्रित है तथा प्रेम विरह का सुन्दर वर्णन है।

इनके बाद कासिम शाह ने 'हंस जवाहिर' नाम की कहानी लिखी है। जिसमें 'हंस' और 'जवाहर' की कथा है। कहानी के आरम्भ में वन्दना जायसी-कृत पद्मावत के ढङ्ग की है।

इनके अतिरिक्त नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती' नामक आख्यान काव्य लिखा। इन्होंने चौपाई के बीच में दोहे न रखकर बरवै रखे हैं। फाजिलशाह ने 'प्रेम रतन' और आसी ने वैराग्य, विरह और प्रेम का सुन्दर वर्णन किया है।

इधर खड़ी बोली में भी प्रेमाश्रयी रचनाएं हुई हैं। कुछ कवियों ने खड़ी बोली में विदेशी छन्दों में भी प्रेममार्गी कविता की है। कुतुबशाह, मुहम्मदअली तथा मुहम्मद कुतुबशाह ने भी खड़ी बोली में रचनाएं की हैं। इसी समय में और कवि भी हुए हैं, जिनकी रचनाओं में कुछ ऐसी प्रेम कथाएं भी हैं जैसे पद्मावती, मृगावती आदि। परन्तु वे फारसी छन्दों में खड़ी बोली में लिखी हुई हैं। इनमें इब्नुनिशाती की 'फूलबान' और तहसीनुद्दीन की 'किस्सए-कामरूप की कला' ऐसी ही रचनाएं हैं। मौलाना वजीद का गद्य-ग्रंथ 'सब रस' ऐसी ही प्रेम कहानी लेकर लिखा गया है। नसरती की 'मसनवी' 'गुलशने इश्क' में मनोहर और मालती के प्रेम का वर्णन है। हाशिमी की 'यूसुफ जुलेखा' भी ऐसी ही प्रेमकथाओं को लेकर चलती है। इधर हाल ही में प्रतापगढ़ के ख्वाजा अहमद ने नूरजहां नामक काव्य सन् १६०५ में लिखा। इसमें ईरान के मालिक शाह के पुत्र खुरशेदशाह और खुतन नगर की राजकुमारी नूरजहां का

प्रेम प्रसंग वर्णित है। आधुनिक प्रेमगाथा के कवि शेख रहीम ने सन् १९१५ में 'भाषा प्रेम रस' की रचना की। इसमें उन्होंने भारतीय प्रेमगाथा को काव्यबद्ध किया है। इसके बाद कवि नसीर ने सन् १९१७ में 'प्रेमदर्पण' नामक प्रेम काव्य में एक प्राचीन कथानक को काव्य-बद्ध किया। इस प्रकार सूफी प्रेम काव्य की परम्परा १४वीं श० से आधुनिककाल तक बराबर चलती रही है।

यहाँ हिन्दी साहित्य की अन्य प्रकार की प्रेमगाथाओं की चर्चा भी अनुपयुक्त न होगी। सूफी प्रेम-काव्य के अतिरिक्त भी अनेक प्रेमगाथाएं पद्य और गद्य दोनों में ही रची गईं। इन प्रेमगाथाओं को दो श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं—एक तो वे सन्तों और भक्तों की रचनाएं जिनमें आध्यात्मिक एवं संप्रदायगत धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार है। इस श्रेणी में १६ वीं श० के सन्त धरणीदास की 'प्रेमप्रगास' और १७ वीं श० के सन्त दुखहरन की 'पुहुपावती', अष्टछाप के नन्ददास की 'रूपमंजरी' इत्यादि प्रेम-कहानियों पर आश्रित काव्य आते हैं। इसके अतिरिक्त पुराणों की अति प्रचलित नलदमयन्ती, कृष्ण रुक्मिणि इत्यादि की प्रेमगाथाएं भी काव्य निबद्ध हुईं। दूसरी श्रेणी के वे लौकिक प्रेम काव्य हैं जो आज प्रक्षेप होते होते वृहदाकार हो गए हैं—जैसे ढोला मारूरा दूहा। यह १६वीं श० के कुशललाभ कवि की रचना है। इसमें ढोला और मारव या मारू की प्रेम कहानी को बड़े ही मार्मिक एवं सरस भाषा में वर्णन किया है। इसी कवि की लिखी हुई एक और प्रेमगाथा 'माधवानल-काम-कन्दला' है। इसके अतिरिक्त कुछ लौकिक प्रेमगाथाएं और भी बनीं जैसे कुतुब-सतक, सोरठा रा दूहा, कनक मंजरी (संवत् १६२०) मैनासत (संवत् १७२४), मदन सतक (संवत् १७२४), जलाए गहाणी री बात (संवत् १७५३), इत्यादि। १९वीं शताब्दी की राजस्थान और गुजरात की कुछ प्रेम-गाथाएं गद्य में भी मिलती हैं जैसे बात संगह (संवत् १८२३), बीजल विजोगरा री कथा (संवत् १८२६), रावल लखणसेन री बात (संवत् १८४७), राणै खेतै री बात (संवत् १८४७); ऊमादे भटियारी री बात (संवत् १८४७), सोहाणी री बात (संवत् १८४७)।

सूफी प्रेमकाव्य और लौकिक प्रेम-काव्य या सन्तों और भक्तों के प्रेम काव्य में थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि सूफियों के प्रेम कथानकों का वास्तविक

उद्देश्य किन्हीं सांसारिक व्यक्तियों की प्रेम चर्चा द्वारा इश्क हकीकी के सिद्धान्त को दर्शाना है। इस प्रकार इनके प्रेम काव्य कथा-रूपक की श्रेणी में आते हैं।

प्रेम काव्य की परम्परा का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम सूफी प्रेम काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे।

सूफी प्रेम काव्य की प्रवृत्तियां

भारत में सूफी धर्म का प्रवेश ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ। यह धारा इस देश में मुसलमान साधुओं के साथ आई। उसका उद्गम स्थान ईरान की संस्कृत, कोमल और भावुक कल्पना में अरब के धर्म विजेताओं का लाया हुआ इस्लाम धर्म है जो आगे चलकर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से कोमलतम और दार्शनिक स्वरूप धारण कर गया। इस परम्परा के कवियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक रूप में देखा है। सूफी कवि उस निर्गुण निराकार ईश्वर की उपासना करते थे जो अनन्त प्रेम का भण्डार है। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण सूफी कवियों ने लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से ईश्वर के प्रेम की अभिव्यंजना की है। उनके ऐतिहासिक लौकिक प्रेमाख्यानों में ऐतिहासिकता का अभाव है क्योंकि वे इनका प्रयोग अलौकिक प्रेम को व्यक्त करने के लिए करते थे। सूफी कवियों के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि ये प्रेमाख्यान अधिकांशतः हिन्दू समाज से लिए गये हैं और यह हिन्दू जीवन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने के लिए हुआ। जिस प्रकार ज्ञानमार्गी सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया था उसी प्रकार प्रेम-मार्गी सूफी कवियों ने हिन्दुओं से सांस्कृतिक समझौता करने का प्रयत्न किया जो उनके प्रेमाख्यानों के रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

सूफी कवियों की प्रेम गाथाओं में निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं—

१—प्रेममार्गी कवियों की प्रेम गाथाएँ भारतीय-चरित-काव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग की हैं। इन प्रेम गाथाओं में फारसी की मसनवी पद्धति के अनुसार कथारम्भ के पूर्व ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा तथा आत्म-परिचय आदि मिलता है। सूफीमत के प्रमुख कवि जायसी ने अपने पद्मावत में सर्वप्रथम

ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, गुरु वन्दना, तत्कालीन बादशाह शेरशाह सूरी की प्रशंसा तथा आत्मपरिचय दिया है।

इसके अतिरिक्त सूफी कवियों ने भारतीय कथाओं में व्यवहृत कथानक रूढ़ियों का भी व्यवहार किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं, जैसे—चित्र दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना, इत्यादि।" द्विवेदी जी ने सूफी काव्य में व्यवहृत कुछ ईरानी साहित्य की कथानक रूढ़ियों का भी वर्णन किया है; जैसे प्रेम-व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ, राजकुमारी का प्रेमी को गिरफ्तार करा लेना इत्यादि।

२—प्रेमगाथाओं के रचयिता प्रायः सभी मुसलमान हैं। इन लोगों को हिन्दू धर्म का भी सामान्य ज्ञान था, जिसका परिचय इनकी काव्य रचनाओं से मिलता है। इन्हें हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का, हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन आदि का सामान्य ज्ञान था। यही कारण है कि इनकी प्रेमगाथाओं में हिन्दुओं के घरों का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन मिलता है। जायसी के पद्मावत में पद्मावती के विवाह के अवसर पर जो ज्योनार का वर्णन हुआ है, उसमे जायसी के हिन्दू-धर्म के ज्ञान का परिचय मिलता है।

३—सूफी कवियों की प्रेमगाथाएँ अधिकांशतः हिन्दुओं के घरों की कथाएँ हैं। ये परम्परा से चली आती प्रचलित कहानियाँ हैं, जिनमें आधा इतिहास और आधी कल्पना का मिश्रण करके काव्य का ढाँचा खड़ा किया गया है। प्रेममार्गी कवियों ने इतिहास की वहीं तक रक्षा की है जहाँ तक वह उनके साध्य अलौकिक की अभिव्यक्ति करता है। सूफी-मत का प्रेम-अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। अतएव इन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेम-गाथाओं को लेकर काव्य रचना की और उसके द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

४—सूफी कवियों की ये प्रेम-गाथाएं लौकिक प्रेमाख्यानों द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने के लिये हुई हैं। यही कारण है कि इन कवियों ने इन परम्परा से चली आती प्रचलित प्रेमगाथाओं में कल्पना का पूर्ण समावेश किया है। ये कवि अलौकिक प्रेम की व्यंजना करना चाहते थे। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण ही सूफी कवियों ने अलौकिक प्रेम की व्यंजना लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से की है। साथ ही जहाँ अलौकिक प्रेम-व्यंजना में प्रेम-गाथा का कोई ऐतिहासिक तथ्य बाधक हुआ है तो उसका निवारण किया है और कल्पना के मिश्रण से अर्द्ध ऐतिहासिक गाथा को काव्य रूप में प्रस्तुत किया है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। आत्मा 'बन्दे' के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है, और बन्दा प्रेम के सूत्र में परमात्मा की प्राप्ति में संलग्न होता है। कवियों की प्रेम गाथाओं में जो अलौकिक प्रेम है उसमें जीवात्मा का परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम और साधक के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन है। सूफी सन्तों के अनुसार आत्मा-परमात्मा के मिलन में अवरोध शैतान है, जिसको दूर करके गुरु की सहायता से साधक ईश्वर की प्राप्ति करता है। इसी प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन प्रेम-गाथाओं का प्रतिपाद्य विषय है।

५—प्रेम-मार्गियों के काव्य ग्रन्थों की भाषा भी प्रायः एक ही प्रकार की है। यह भाषा अवध प्रान्त की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केन्द्र अवध प्रान्त था, अतः इनकी काव्य भाषा अवधी ही है।

६—छन्दों के प्रयोग में सूफी कवियों में समानता पाई जाती है। प्रायः सभी प्रेममार्गी कवियों ने दोहों और चौपाइयों में ही ग्रन्थ की रचना की है। ये छन्द अवधी भाषा के लिए इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने मानस में इसी छन्द का प्रयोग किया है। वास्तव में जायसी से ही तुलसीदास ने इन छन्दों की परम्परा ग्रहण की थी। प्रेम मार्गी शाखा के प्रमुख कवि जायसी ने दोहा-चौपाई पद्धति का इतना सुन्दर प्रयोग किया है कि वे हिन्दी में इस पद्धति के प्रवर्तक माने जाते हैं।

७—प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशी और भारतीय दोनों शैलियों की छाप भी दृष्टिगोचर होती है। जायसी

ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, गुरु वन्दना, तत्कालीन बादशाह शेरशाह सूरी की प्रशंसा तथा आत्मपरिचय दिया है।

इसके अतिरिक्त सूफी कवियों ने भारतीय कथाओं में व्यवहृत कथानक रूढ़ियों का भी व्यवहार किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं, जैसे—चित्र दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना, इत्यादि।" द्विवेदी जी ने सूफी काव्य में व्यवहृत कुछ ईरानी साहित्य की कथानक रूढ़ियों का भी वर्णन किया है; जैसे प्रेम-व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ, राजकुमारी का प्रेमी को गिरफ्तार करा लेना इत्यादि।

२—प्रेमगाथाओं के रचयिता प्रायः सभी मुसलमान हैं। इन लोगों को हिन्दू धर्म का भी सामान्य ज्ञान था, जिसका परिचय इनकी काव्य रचनाओं से मिलता है। इन्हें हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का, हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन आदि का सामान्य ज्ञान था। यही कारण है कि इनकी प्रेमगाथाओं में हिन्दुओं के घरों का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन मिलता है। जायसी के पद्मावत में पद्मावती के विवाह के अवसर पर जो ज्यौनार का वर्णन हुआ है, उसमें जायसी के हिन्दू-धर्म के ज्ञान का परिचय मिलता है।

३—सूफी कवियों की प्रेमगाथाएँ अधिकांशतः हिन्दुओं के घरों की कथाएँ है। ये परम्परा से चली आती प्रचलित कहानियाँ हैं, जिनमें आधा इतिहास और आधी कल्पना का मिश्रण करके काव्य का ढाँचा खड़ा किया गया है। प्रेममार्गी कवियों ने इतिहास की वहीं तक रक्षा की है जहाँ तक वह उनके साध्य अलौकिक की अभिव्यक्ति करता है। सूफी-मत का प्रेम-अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। अतएव इन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेम-गाथाओं को लेकर काव्य रचना की ओर उसके द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

४—सूफी कवियों की ये प्रेम-गाथाएं लौकिक प्रेमाख्यानों द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने के लिये हुई हैं। यही कारण है कि इन कवियों ने इन परम्परा से चली आती प्रचलित प्रेमगाथाओं में कल्पना का पूर्ण समावेश किया है। ये कवि अलौकिक प्रेम की व्यंजना करना चाहते थे। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण ही सूफी कवियों ने अलौकिक प्रेम की व्यंजना लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से की है। साथ ही जहाँ अलौकिक प्रेम-व्यंजना में प्रेम-गाथा का कोई ऐतिहासिक तथ्य बाधक हुआ है तो उसका निवारण किया है और कल्पना के मिश्रण से अर्द्ध ऐतिहासिक गाथा को काव्य रूप में प्रस्तुत किया है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। आत्मा 'बन्दे' के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है, और बन्दा प्रेम के सूत्र में परमात्मा की प्राप्ति में संलग्न होता है। कवियों की प्रेम गाथाओं में जो अलौकिक प्रेम है उसमें जीवात्मा का परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम और साधक के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन है। सूफी सन्तों के अनुसार आत्मा-परमात्मा के मिलन में अवरोध शैतान है, जिसको दूर करके गुरु की सहायता से साधक ईश्वर की प्राप्ति करता है। इसी प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन प्रेम-गाथाओं का प्रतिपाद्य विषय है।

५—प्रेम-मार्गियों के काव्य ग्रन्थों की भाषा भी प्रायः एक ही प्रकार की है। यह भाषा अवध प्रान्त की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केन्द्र अवध प्रान्त था, अतः इनकी काव्य भाषा अवधी ही है।

६—छन्दों के प्रयोग में सूफी कवियों में समानता पाई जाती है। प्रायः सभी प्रेममार्गी कवियों ने दोहों और चौपाइयों में ही ग्रन्थ की रचना की है। ये छन्द अवधी भाषा के लिए इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने मानस में इसी छन्द का प्रयोग किया है। वास्तव में जायसी से ही तुलसीदास ने इन छन्दों की परम्परा ग्रहण की थी। प्रेम मार्गी शाखा के प्रमुख कवि जायसी ने दोहा-चौपाई पद्धति का इतना सुन्दर प्रयोग किया है कि वे हिन्दी में इस पद्धति के प्रवर्तक माने जाते हैं।

७—प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशी और भारतीय दोनों शैलियों की छाप भी दृष्टिगोचर होती है। जायसी

ने फारस की शैली के अनुसार नायक को प्रेम में विह्वल तथा प्रेम-पात्र की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय धर्म के अनुसार तो आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पुरुष मानकर पत्नी रूपी आत्मा को पुरुष रूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील माना जाता है। परन्तु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। गोपिकाओं का यह प्रेम भी आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रेम समझा जाता है। सूफी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारम्भ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाने के बाद उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखलाया। जायसी ने अपने पद्मावत में पद्मावती के सतीत्व तथा उत्कृष्ट पति-प्रेम आदि के दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है।

८—इसी प्रकार माया के स्थान पर साधक को पथ भ्रष्ट करने वाले शैतान की कल्पना भी भारतीय है, जिसको प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यान में स्थान दिया है।

९—प्रेममार्गी कवियों के काव्य-ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने किसी विशेष सम्प्रदाय का खण्डन-मण्डन नहीं किया है। उन्होंने तो अपने भावों को सरल रूप में प्रतिपादित करके मनुष्य हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। सूफी कट्टर मुसलमानों की अपेक्षा अधिक मुलायम तबियत के और सरल स्वभाव के थे। इसी कारण से उन्होंने उपदेश को व्यक्त करने में आडम्बर का प्रदर्शन नहीं किया।

१०—सूफी प्रेममार्गी कवियों के ग्रन्थ अधिकतर प्रबन्ध शैली में ही लिखे गये थे, अतः उनमें कथानक की रमणीयता के साथ ही सम्बन्ध-निर्वाह भी सुव्यवस्थित हुआ है। प्रेममार्गी कवियों का वस्तु वर्णन अच्छा नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि उन्हें तो अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति करनी थी, अतएव वस्तु वर्णन या कथा का प्रवाह उनके लिए उसी सीमा तक महत्त्व रखता था जहाँ तक उनके उस प्रेम के अभिव्यंजन में वह सहायक या उपयोगी होती।

११—सूफी कवि अपने प्रबन्ध-काव्यों में नायक के चरित्र-चित्रण को बड़ा महत्व देते हैं क्योंकि वही उनकी सम्पूर्ण सिद्धि का (अर्थात् प्रेममार्ग के प्रचार का) साधक है और वही जनता को आकर्षित कर प्रेममार्ग से परिचित कराता है। इसलिए सूफी-कवि अपने नायक को विभिन्न परिस्थितियों, महान् कठिनाइयों से निकाल कर अन्त तक निबाह ले जाते हैं। उन्हें पात्र के चरित्र के विकास एवं निर्वाह के अतिरिक्त उसे अपने आदर्शों के अनुरूप बनाने के लिए पूर्णतया सजग रहना पड़ता है। जायसी ने पद्मावत में रत्नसेन को विविध कठिनाइयों (समुद्र में तूफान इत्यादि) से निकालकर पद्मावती की प्राप्ति में सफल दिखाया है। पद्मावत के रत्नसेन की मिलनातुरता में आध्यात्मिक पक्ष में साधक का अपनी प्रियतमा (परमात्मा) से मिलन के लिए व्याकुल होना स्पष्ट ही है

१२—सूफियों के प्रेम काव्य में उक्त प्रबन्ध शैली के अतिरिक्त कुछ मुक्तक शैली पर लिखी गई रचनाएँ भी मिलती है। मुक्तक शैली में लिखने वाले सर्वप्रथम अमीर खुसरो हैं। मुक्तक शैली में पद, दोहे झूलने, कुण्डलियाँ, भजन और चौपाई इत्यादि छन्दों का व्यवहार हुआ है। प्रेम काव्य के दोहे अपना अलग महत्त्व रखते हैं। इन दोनों में बड़ा तीव व्यंग्य एवं चेतावनी है। ये दोहे बड़े मंजे हुए हैं, कथन शैली की सजीवता और भाषा की सफाई के कारण ये और भी महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

१३—हिन्दी के सूफी कवियों की मानव-हृदय के बड़े सूक्ष्म भावों तक पहुंच दिखाई पड़ती है। उनके 'रति' तथा 'शोक' आदि के वर्णन अधिक भावपूर्ण हुए हैं। सूफी कवियों की भाव-व्यंजना अपना विशेष महत्त्व रखती है।

१४—सूफी मत का उद्भव इस्लाम से ही हुआ था, परन्तु उस पर बाहरी प्रभाव भी पड़े। प्रेममार्गी कवियों की रचनाओं में हम इन प्रभावों की छाप देखते हैं। सूफी मत पर भारतीय अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जो प्रेमपूर्ण वैष्णव धर्म शाक्तों और शैवों के विरोध में खड़ा हुआ उसमें अहिंसा आदि पर विशेष जोर दिया गया था। सूफियों ने वैष्णव धर्म की यह दीक्षा ग्रहण की थी और वे अहिंसावादी बन गए थे। उपनिषदों के अन्य अनेक वादों, जैसे प्रतिबिम्बवाद के अनुसार नाना-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, का

जायसी आदि सूफी कवियों पर प्रभाव पड़ा है। जायसी ने अपने 'पद्मावत' में कई स्थानों पर प्रतिविम्ववाद से अपना मत-साम्य दिखलाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय पंचभूतों में से आकाश को न मानकर उन्होंने चार ही तत्व माने हैं। इसी प्रकार पतंजलि द्वारा निरूपित योग की क्रियाओं को हठयोगियों आदि ने जिस रूप में ग्रहण किया था उसी रूप में सूफी कवियों ने भी इनको ग्रहण किया है।

१५—सूफी कवियों के काव्य में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर तथा सरल व्याख्या हुई है। सन्त कवियों का रहस्यवाद तो बड़ा ही शुष्क तथा नीरस है। उसमें शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। उसमें "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" के सिद्धान्त को ही आधार माना है। इस कारण उसमें जगत का बहिष्कार होने से रागात्मक अनुभूति का नितांत अभाव मिलता है। किन्तु सूफियों के रहस्यवाद में अद्वैतवादी भावना आधार-शिला के रूप में होते हुए भी हृदय की मधुर भावनाओं का बड़ा महत्त्व है। सूफियों ने जगत को सत्य मानकर रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर तथा भावात्मक अभिव्यक्ति की है। उन्होंने प्रेम कथानकों के द्वारा अव्यक्त सत्ता को व्यक्त रूप में प्रगट किया है।

सूफी मत पर प्रभाव

यों तो सूफी मत पर नास्टिक, मानी और नव अफलातूनी, यहूदी और मसीह आदि मतों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में जो सूफी मत के दर्शन होते हैं उस पर वस्तुतः भारतीयता का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यहूदी और मसीही मत तो सूफियों के पूर्वजों के मत जाने जाते हैं, और नास्टिक, मानी और नव अफलातूनी मतों का प्रभाव भी सूफियों की आस्था पर पड़ा है। सूफी मत के सिद्धान्तों में तथा उनके उद्‌भव तथा विकास के विवेचन में हम कुछ हद तक इन प्रभावों का विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम सूफी मत पर भारतीयता के प्रभाव का विश्लेषण करेंगे।

सूफीमत पर बौद्धधर्म और वेदांत का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। कुछ लोग तो सूफीमत को (जो भारत में मिलता है) वेदांत का मधुर रूपांतर ही मानते हैं।

यह इतिहास सिद्ध तथ्य है कि मसीह के बहुत पहले से ही शामी जातियों के प्रान्त और उसके आस-पास के अन्य प्रान्तों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध रहा था। सूफी मत का उदय भी इन्हीं प्रान्तों में हुआ था। बौद्ध धर्म का प्रचार सब जगह एक संघ की सत्ता कायम हो जाने के कारण बहुत अधिक हुआ। सूफी मत का उदय जिन प्रान्तों में हुआ, बौद्ध लोग वहाँ भी सद्धर्म के प्रचारार्थ गए थे। ईसामसीह के सम्बन्ध में भी एक बात यह है कि उन पर भारतीय बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा है, चाहे वे भारत न भी आये हों। बाइबिल में यह प्रभाव अहिंसा वृति के अध्याय में देखा जा सकता है। साथ ही नास्टिक बुद्ध का पर्यायवाची शब्द जान पड़ता है, और यह तो इतिहास सिद्ध है कि नास्टिक मत की परम्परा के किसी "अब" को सूफियों ने अपना गुरु माना है। निदान नास्टिक मत के प्रभाव में भारत का भी भाग है। फलतः पर्याप्त रूप में भारत ने सूफीमत को प्रभावित किया और सूफियों का एक नाम नास्टिक भी हो गया है। नास्टिकों से अधिक मानीमत वालों का प्रभाव सूफी मत और इस्लाम दोनों पर पड़ा है। इस मत का प्रवर्तक 'मानी' बौद्ध-मत का ज्ञाता था। इस प्रकार हमें पुष्ट प्रमाणों के आधार पर कहना पड़ता है कि नास्टिक तथा मानीमत के द्वारा भी सूफी मत पर भारत का पूरा-पूरा प्रभाव सिद्ध हो जाता है।

नव अफलातूनी के सम्बन्ध में भी यही बात है। वह भी भारत का ऋणी है। भारत के सम्पर्क में आ जाने से यूनानी दर्शन में भी पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है। बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रायः सभी विदेशी मतों पर पड़ा है। भारतीय दर्शन के आधार पर ही अफलातून मत का 'प्रेम' तथा पंथ पुष्ट हुआ। इस्लाम वालों ने इन्हीं भारतीय प्रभावों के कारण सूफीमत को वक्र दृष्टि से देखा है और उसे 'अमुसलमानी' कहा है।

सीरिया में भी भारतीय संस्कृति के चिन्ह विद्यमान हैं, जिनसे मालूम पड़ता है कि वहाँ के दार्शनिक भी भारतीय दर्शन से बहुत-कुछ ग्रहण कर चुके हैं। इसका पक्का प्रमाण मिलता है कि सीरिया के बौद्ध भिक्षुकों ने भी प्रारंभ में फकीरी चोला धारण किया। जो लोग सूफी मत को पूर्णतः इस्लाम से निकला मानते हैं, या प्रभावित मानते हैं, उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस्लाम

पर भी भारतीयता का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कुछ मुसलमान विद्वानों ने यह स्वीकार भी किया है कि कुरान पर उपनिषदों का प्रभाव पड़ा है। अल्लाह की सर्वव्यापकता और अन्तर्यामी आदि होने का जो वर्णन कुरान में मिलता है, वह भारतीय उपनिषदों से प्रभावित है, क्योंकि यह भावना शामी जाति में दूसरे रूप में पाई जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिम में भी भारतीय संस्कारों का प्रचार था। मुस्लिम साहित्य में मसीह संतों के साथ जो 'अुआर' का विधान मिलता है वह इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे कभी आर्य धर्मालम्बी थे और धर्म परिवर्तन के बाद भी प्रचीन संस्कारों की परम्परा को मानते थे। इस प्रकार सूफी वेदान्त से प्रभावित हुए। इसी प्रकार ईरान प्रभृति प्रान्तों में महायान शाखा का बोलबाला था जिसमें धीरे-धीरे बहुत कुछ गुह्यता और भक्ति का योग हो गया था। महायान के भीतर जो सहजयान आदि अनेक यान चल पड़े थे उन्हीं से सूफियों का विशेष परिचय हुआ। बुद्ध को सूफियों ने किस दृष्टि से देखा इसका पता सूफियों के इस सिद्धांत से चल जाता है—"बुत के बदले में कोई ले तो खुदा देते हैं"। अर्थात् सूफी बुत के लिए खुदा को अलग डाल देते हैं। मिस्र के जुन्नून के आधार पर भी सूफी मत पर भारतीय प्रभाव सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार सूफीमत में 'ईसानुल कामिल' की प्रतिष्ठा है, जो हमारे यहाँ के पुरुषोत्तम अथवा पूर्णरूप की इस्लामी प्रतिध्वनि है, और इस बात की स्पष्ट घोषणा है कि सूफी मत भारत का पक्का ऋणी है। भारत आज भी सूफियों का प्रमुख आश्रय है।

निदान हम देखते हैं कि सूफीमत पर भारतीय दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

सूफी काव्य-प[रम्प]रा में जायसी का स्थान

प्रेममार्गी-सूफी-काव्य-परम्परा में जायसी का प्रमुख स्थान है। जायसी का प्रेम काव्य अन्य सब प्रेममार्गी कवियों से स्पष्टतः भिन्नता रखता है। जहाँ अन्य प्रेममार्गी सन्तों ने केवल कल्पित प्रेम कथाओं का ही आश्रय लिया है, वहाँ जायसी ने पद्मावत की प्रेम-कथा में कल्पना के साथ ऐतिहासिकता का

भी मिश्रण किया है । इसी कारण जायसी का पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से भिन्न ही है । यह तो काव्य-विषय की दृष्टि से हुआ, साथ ही काव्य कौशल की दृष्टि से भी जायसी प्रेममार्गी शाखा के कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अन्य सूफी कवि जहाँ प्रेम, करुणा, भक्ति तथा कोमल भावों को ही व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी का भावपक्ष लोक-भावना से समन्वित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, शोक आदि के वर्णनों से पूर्ण है। इस दृष्टि से जायसी अन्य सूफी कवियों से श्रेष्ठ हैं।

हिंदी सूफियों की प्रेमगाथाओं की परम्परा में मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत सबसे महत्त्वपूर्ण है। पद्मावत में सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कथा पद्मावती और चित्तौड़गढ़ के राजा रतनसेन की प्रेम कथा है। हीरामन तोते से पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर राजा विरह-व्याकुल हो जाता है और रानी नागमती तथा राजपाट को छोड़कर योगी बनकर सिंहल द्वीप को चल देता है। अनेक बाधाओं के बाद शिवजी की कृपा से वह पद्मावती को प्राप्त करता है। चित्तौड़गढ़ लौटने पर अपने दरबार के राघवचेतन नामक एक पण्डित से वाद-विवाद में झगड़ा होने पर क्रोध में उसे देश निकाला देता है। राघवचेतन अलाउद्दीन को, पद्मावती के रूप की प्रशंसा कर, चित्तौड़गढ़ पर चढ़ाई करने को उकसाता है, जिससे रतनसेन कैद होता है। अन्त में पद्मावती के चातुर्य और गोरा और बादल की वीरता से रतनसेन छूट जाता है, पर कुम्भलनेर के राजा देशपाल से, जिसने पद्मावती को रतनसेन की कैद के वक्त फुसलाने का प्रयत्न किया, लड़ते-लड़ते मारा जाता है। अन्त में दोनों रानियाँ शव के साथ सती हो जाती हैं।

यद्यपि इस कहानी में पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है तथापि जायसी ने इन दोनों का ऐसा मिश्रण किया है कि उनके प्रबन्ध-सौष्ठव पर आश्चर्य होता है। दूसरी बड़ी विशेषता इस कहानी में यह है कि इसमें भौतिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना हुई है। जायसी के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति है। इनके रहस्यवाद की आधार शिला भारतीय 'वेदांत की अद्वैत भावना' है। फिर भी उसमें कुछ विदेशी प्रभाव स्पष्ट है और वह है परमात्मा को प्रिया के रूप में

देखना और जगत के समस्त रूपों को उसकी छाया से उद्भासित मानना। साधक प्रेमी उस प्रिया परमात्मा की खोज में निकल पड़ता है, वह उसके हाथ का प्याला पीने के लिए तड़फता रहता है, उससे एकाकार हो जाना चाहता है। आत्मा परमात्मा के बीच जायसी ने मेघ और समुद्र के पानी का सा अन्तर माना है।। वस्तुतः दोनों एक ही तत्त्व हैं किन्तु पृथक् रूप में हैं इसलिए प्रेमी की मिलनातुरता प्रधान है। उसका बड़ा महत्त्व है। इसे सूफी कवि 'प्रेम की पीर' कहते हैं। जायसी ने पद्मावत में राजा रत्नसेन की पद्मावती के विरह की दशा का वर्णन करके इस अलौकिक 'प्रेम की पीर' का संकेत किया है। इस विरह साधना की चार अवस्था हैं, अन्तिम 'मारिफत' है जिसमें बन्दे और खुदा का मिलन शराब और पानी की तरह हो जाता है।

संयोग और वियोग शृङ्गार दोनों का वर्णन जायसी ने अत्यन्त सुन्दर किया है। विरह का वर्णन तो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग आदि हिन्दू धर्म की बातों का समावेश है, जिससे मालूम पड़ता है कि जायसी बहुश्रुत थे। जायसी का यह ग्रन्थ ठेठ अवधी भाषा में लिखा हुआ है। इसमें दोहा-चौपाई पद्धति को अपनाया गया है। अलंकारों का प्रयोग भावोत्कर्ष के लिए हुआ है। इसमें लोक-जीवन की शिक्षाप्रद सूक्तियों, भौतिक तत्त्वों, मुहावरों और किंवदन्तियों का प्राधान्य है। जायसी इन लोक जीवन की प्रिय वस्तुओं से परचित होने के साथ ही स्वयं भी बड़े वाग्पटु थे। जायसी ने मसनवी शैली से प्रभावित होकर कल्पना के प्राचुर्य को अपने काव्य में स्थान दिया है।

जायसी की रचनाओं पर विशद रूप से विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूफी प्रेम-काव्य परम्परा का पूर्ण परिपाक यदि किसी सूफी कवि में मिल सकता है तो वे जायसी ही हैं। वे एक विशेष वर्ग के कवि हैं। उन्होंने इस्लामी सूफीधारा का वेदान्त, और योगनिष्ठ भारतीय रूप उपस्थित किया है। जो कुछ उन्होंने उपस्थित किया है वह उनका अपना है, मौलिक है और शास्त्र-ज्ञान के माध्यम के फलस्वरूप न होकर स्वयं की अनुभूति के माध्यम से उन्हें प्राप्त हुआ है। वेदान्त और योग जायसी के समय की दो महत्त्वपूर्ण धाराएँ थीं। एक तीसरी धारा भक्तिवाद की थी। पद्मावत में राम

और कृष्ण की पौराणिक कथाओं के जो निर्देश हैं, उनसे यह स्पष्ट ही है कि जायसी इन पौराणिक महापुरुषों से पूर्णरूपेण परिचित थे। जायसी ने वेदान्त मिश्रित तथा सूफीमत से समन्वित एक सामान्य प्रेम-मार्ग की खोज की। जायसी को यह श्रेय है कि उन्होंने विदेशी सूफी विचारधारा को भारतीय दार्शनिक विचारों से समन्वित करके उसे अपने युग के अनुरूप नया रूप दिया है। प्रेम की पीर को मानव हृदय में जगा देने की उनमें अद्भुत क्षमता है। इसी कारण जायसी अपनी प्रत्येक चौपाई में बोलते हुए ज्ञात होते हैं। सूफी भक्ति काव्य में 'प्रेम की पीर' का जो महत्त्व है इसका जायसी ने बड़े सुन्दर ढंग से अपने काव्यों में प्रतिपादन किया है। उन्हें इतिहास, भूगोल, ज्योतिषशास्त्र, हठयोग आदि का थोड़ा बहुत ज्ञान था। धर्म के क्षेत्र में उनकी दृष्टि बड़ी उदार है। वे किसी धर्म का खण्डन-मण्डन नहीं करते हैं। उनकी उदार प्रवृत्ति, उनके हृदय की कोमलता और उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने धर्म का (सूफीमत का) और अपने समय का सफल कवि सिद्ध करती है। उनका स्थान हिन्दी के सूफी कवियों में सर्वोपरि है। प्रेम काव्य की कुतबन, मंझन आदि से चली आती हुई परम्परा को जायसी ने पुष्ट किया और उसको चरम विकास की स्थिति तक पहुँचाया।

सन्त एवं सूफी काव्यों की प्रवृत्तियों की तुलना

साम्य—

(१) दोनों काव्यों में गुरु को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। गुरु ही साधक को ईश्वर तक पहुँचाने में साधक है! शैतान अथवा माया के व्याघातों से गुरु की कृपा से ही बचाव होता है। गुरु ही मुक्ति प्राप्ति का समवायी हेतु है। गुरु बिन होहि न ग्यान' और ग्यान के बिना मुक्ति असंभव है।

(२) दोनों काव्यों में प्रेम का उच्च स्थान प्रतिपादित किया गया है। सन्तों के यहां प्रेम व्यक्तिगत साधना में व्यवहृत है जबकि सूफियों में लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यञ्जना है। सूफीमत में प्रेम मुख्य है और सन्तों में गौण।

(३) दोनों साधक हैं। दोनों पर हठयोग, भारतीय अद्वैतवाद, वैष्णवी

अहिंसा का समान रूप से प्रभाव है। दोनों ही निराकार ईश्वर को मानते हैं। जाति-पाँति, ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं।

(४) माया या शैतान दोनों ही साधना-पथ में बाधक हैं! सन्तों ने माया को कनक-कामिनी कहा है, महाठगिनी माना है। प्रेम की दृढ़ता के लिए सूफियों ने शैतान की आवश्यकता को स्वीकार किया है।

(५) दोनों ही अव्यक्त सत्ता की प्राप्ति का संकेत करते हैं। दोनों ही रहस्यवादी हैं। दोनों के द्वारा रहस्यमय का मिलन प्रेम से संभव है। आचार्य शुक्ल के अनुसार ' "सूफियों का रहस्यवाद शुद्ध भावात्मक कोटि में आता है जबकि सन्तों का रहस्यवाद साधनात्मक कोटि में, क्योंकि उसमें विविध यौगिक प्रक्रियायों का उल्लेख है।"

(६) दोनों ने विरह का उन्मुक्त गान गाया है। दोनों में एक तीव्र कसकन एवं वेदना है। सूफियों का विरह तो विश्वव्यापी है। जगत् विरहियों के साथ सहानुभूति करता दिखाई देता है। परन्तु सन्तों ने जगत् को मिथ्या माना है। विरह वर्णन में प्रकृति की उपेक्षा है। उनका विरह व्यक्तिगत बनकर रह गया है।

वैषम्य—

(१) सन्तों की प्रेम पद्धति विशुद्ध रूप से भारतीय है; इन्होंने आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष माना है। सूफियों ने परमात्मा को स्त्री और आत्मा को पुरुष रूप में स्वीकार किया है। सूफियों का प्रेरणा स्रोत फारस ही है।

(२) सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता धार्मिक एकता के आधार पर पूर्ण करने की चेष्टा की। और सूफियों ने सांस्कृतिक एकता द्वारा। शुक्लजी के शब्दों में "कबीर में केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी वह जायसी ने पूरी की।"

(३) सन्तों ने सामाजिक सुधारों एवं धार्मिक एकता के लिए खंडनात्मक पक्ष को ग्रहण किया। सूफी खंडन-मंडन से दूर थे। बल्कि इन्होंने हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों को ही अपने काव्य का विषय बनाया।

(४) सन्त अक्खड़ एवं अहं भावना से युक्त थे। सूफियों में सरलता एवं विनम्रता थी।

(५) सन्तों ने मुक्तक काव्य को ही प्रधानता दी जबकि सूफी कवियों ने प्रबन्ध काव्यों के द्वारा भावाभिव्यक्ति की ! सन्त पहले सन्त हैं फिर कवि, सूफी पहले कवि हैं फिर और कुछ।

(६) सन्तों की भाषा सधुक्कड़ी या खिचड़ी स्वीकार की गई। सभी प्रान्तों की भाषाओं का सम्मिश्रण है। जब की सूफियों की भाषा अवधी है जो लोक प्रचलित है।

(७) सन्तों ने अपने साधना पक्ष में ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया है जबकि सूफियों ने प्रेम को।

(८) सन्तों का ईश्वर घटघट-वासी है। सत्य है। जगत् मिथ्या ! अतः प्रकृति इनके क्षेत्र में उदासीन है। सूफियों ने ईश्वर को प्रेम स्वरूप माना है जो प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। इसीलिए सूफियों के काव्य में प्रकृति का रागात्मक वर्णन हुआ है।

(९) सन्तों पर सिद्धों और नाथों का विकट रूप से प्रभाव था। यही प्रभाव उनके काव्य को सूफियों की अपेक्षा दुरूह बना गया है। सन्तों की उलट-बाँसियां लोहे के चने हैं ! यद्यपि नाथों का प्रभाव सूफियों पर भी पड़ा मगर अपेक्षाकृत बहुत कम !

(१०) सन्त केवल साधक है। कवि रूप तो गौण है। जबकि सूफी पहले कवि हैं बाद में साधक। सूफियों की साधना सहज और सरल है। सन्त काव्य में परिवर्तन और परिवहन हुआ, जबकि सूफी काव्यों में यह बात अपेक्षाकृत कम है।

सगुण मत का उद्भव तथा विकास

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में जो रचनाएँ हुईं, उन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़े हैं। निर्गुण उपासक सन्तों की रचनाओं में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का और प्रेममार्गी निर्गुण उपासकों में प्रेम का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। सगुण भगवान के उपासक भक्त कवियों के हृदयों से जो वाणी इस काल

में निसृत हुई, उसमें उन्होंने अपने हृदय का रस घोला है। उनकी कविताओं में हृदय की शुद्ध भक्ति भावना का परिचय मिलता है। यह भक्ति भावना वैष्णव धर्म से उद्भूत हुई थी, जिसका सम्बन्ध भागवत धर्म से है। सगुण मतवाद को मुख्यतः दो पुस्तकों ने प्रभावित किया है—भागवत और वाल्मीकि रामायण। अन्य अनेक स्मार्त-ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है, परन्तु भागवत का प्रभाव अधिक पड़ा है। भागवत के कृष्ण के समकक्ष ही तुलसी ने राम की प्रतिष्ठा की और अनेक सिद्धान्त भागवत से लिये हैं। यही नहीं उनका काव्य भी उससे प्रभावित है। एक अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है और वह यह है कि जहाँ भागवत में माधुर्य-भाव की प्रधानता है वहां तुलसी ने दास्य भाव को अपनाया है। भागवत के भगवान कृष्ण परमेश्वर हैं, अनादि हैं, सच्चिदानन्द हैं, समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति, अवस्थिति तथा प्रलय के कारण हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति से भी परे विष्णु ब्रह्म के आदि रूप हैं। यही वैष्णव धर्म की चरम भावना है।

बौद्ध-मत और जैन-मत के समान ही वैष्णव मत की भावना धार्मिक सुधार से सम्बन्ध रखती है। उसका उद्भव ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गया था। इसी का परिवर्द्धित रूप भागवत् या पांचरात्र धर्म है। नारायण की भावना के मिश्रण से यह धर्म और भी विस्तृत हो गया। जब ८ वीं शताब्दी में शंकर के अद्वैतवाद का जन्म हुआ तो यह धर्म उसके सम्पर्क में आया। वैष्णव धर्म में भक्ति का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके कारण अद्वैतमत के मायावाद से इसका संघर्ष हुआ। आगे चलकर इसका रूप कुछ अधिक विकसित हुआ और यह रूप रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में प्रदर्शित हुआ। आगे चलकर निम्बार्क ने इसमें विष्णु रूप के स्थान पर कृष्ण रूप की भावना को अधिक महत्व दिया और उसमें राधा के रूप को भी जोड़ दिया। तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने इस भावना को और अधिक विकसित किया तथा द्वैतवाद का प्रचार करके विष्णु के महत्व का प्रतिपादन किया। रामानन्द ने दूसरी ओर विष्णु रूप के स्थान पर राम रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया तथा भक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने कृष्ण और राधा का प्रेमात्मक निरूपण करके उनके रूप-सौन्दर्य पक्ष का महत्त्व

प्रतिपादित किया। बंगाल में महाप्रभु चैतन्य ने कृष्ण-भक्ति में भी बाल कृष्ण की भावना पर जोर दिया।

नामदेव और तुकाराम नाम के सगुण सन्तों ने निम्बार्क के राधा कृष्ण को न मानकर विष्णु के विट्ठल या विठोबा नाम की उद्भावना करके उनकी उपासना और शास्त्रीय भक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित किया।

दक्षिण से वैष्णव धर्म के प्रचार की लहर उत्तर-भारत में आई। इस धर्म का प्रचार करने में चार महान् आचार्यों का कार्य स्तुत्य है। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्क। इनके बाद कुछ अन्य आचार्यों ने भी वैष्णव धर्म को उन्नत किया। इन आचार्यों में रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य प्रमुख थे। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। इन सभी आचार्यों में निम्नलिखित सामान्य भावनाएँ मिलती हैं—

१—"जाति-पांति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" सिद्धान्तों के अनुसार ये सभी आचार्य भक्ति के लिए जाति का बन्धन नहीं मानते थे। यद्यपि ब्राह्मण जाति सभी जातियों से श्रेष्ठ है, पर शूद्र होने से ही कोई भगवद्-भक्ति के अधिकार से च्युत नहीं हो जाता। ये आचार्य वैसे जाति की श्रेष्ठता का महत्त्व प्रतिपादित करते थे, किन्तु भक्ति का सभी को समान अधिकार मानते थे।

२—**अद्वैतवाद से ब्रह्म का निरूपण**—किसी न किसी रूप में अवश्य भिन्न है। रामानुज ने शंकर के मायावाद या अद्वैतवाद का खंडन कर जीव की स्थिति में सत्य की भावना उपस्थित की। इसी प्रकार मध्वाचार्य ने यद्यपि जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से ही मानी है, किन्तु ब्रह्म को स्वतन्त्र और जीव को परतन्त्र माना है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों के सिद्धान्त भी अद्वैतवाद से भिन्न हैं।

३—**गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है**—उसका सम्मान संसार की सभी वस्तुओं से अधिक है। तुलसी और सूर इन्हीं आचार्यों की शिष्य परम्परा में थे। उन्होंने गुरु को बड़ी महत्ता दी है। इन आचार्यों ने गुरु को सच्चा मार्ग प्रदर्शक माना है, और उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है।

४—**भक्ति का चरम उद्देश्य**—गोलोक अथवा वैकुण्ठ प्राप्ति है। ये

आचार्य ईश्वर की भक्ति की चरम परिणति मोक्ष में मानते हैं। इनकी ईश्वर-भक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए है।

रामानुजाचार्य ने केवल विष्णु या नारायण की भक्ति और ज्ञान पर ही जोर दिया है। उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु रूप के स्थान पर राम रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया। शेष तीन आचार्य निम्बार्क; मध्व और विष्णुस्वामी ने विष्णु रूप के स्थान पर कृष्ण की भावना को अपनाया। उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। रामानुज की भक्ति में चिन्तन और ज्ञान का विशेष स्थान है। अन्य तीन आचार्यों ने ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने श्रवण, कीर्तन; स्मरण, अर्चन, वन्दन और आत्म-निवेदन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। उनकी भक्ति पूर्णरूपेण प्रेम पर आधारित है। इस प्रकार रामानुज अपने सिद्धान्तों में ज्ञान और भक्ति का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, अन्य आचार्य केवल आत्म-समर्पणमय भक्ति को महत्त्व देते हैं। इस प्रकार सगुण मत का विकास होता गया। इसके साथ ही जन-साधारण की भाषा भी अपनायी जाने लगी। भक्ति युग के प्रारम्भ का साहित्यिक वातावरण अस्तव्यस्त था किंतु इस युग में भक्ति की धारा का रूप प्रधानता प्राप्त कर रहा था।

सगुण मत के सिद्धान्त

भक्ति काल के सगुण धर्म का प्रचार करने में चार महान आचार्यों ने सहयोग दिया। वे थे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्क। इनके पश्चात् कुछ आचार्य और हुए जिन्होंने वैष्णव धर्म को व्यापक बनाया। इनमें रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य प्रमुख हैं। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत; मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। मध्य-युग के सगुण भाव से भजन करने वाले भक्तों की बात ठीक-ठीक समझने के लिये उनके शास्त्रीय मतवाद को जानना आवश्यक है। सगुण भक्तों का उपजीव्य ग्रन्थ भागवत पुराण रहा है। सगुण धर्म का प्रचार करने वाले आचार्यों ने अपने मत की पुष्टि के लिए इसी के वचन उद्धृत किये हैं। इस महापुराण ने समस्त भारतीय चिन्ता को बहुत दूर तक प्रभावित

किया है। इस भागवत पुराण के अनुसार वैकुंठ आदि धर्मों में भगवान तीन रूप से निवास करते हैं— स्वयंरूप, तदेकात्मरूप और आवेशरूप। कृष्ण और राम स्वयंरूप हैं। मत्स्य, वाराह आदि लीलावतार तदेकात्मरूप और नारद; शेष, सनक आदि आवेश रूप हैं। संक्षेप में सगुण मत के सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१—**सगुणोपासना**—ब्रह्म के दो रूप हैं, निर्गुण और सगुण। इनमें निर्गुण रूप सगुण रूप की अपेक्षा दुर्लभ है। इसलिए सगुण भगवान के सुगम, और फिर भी अगम, चरित्र को सुनकर भक्त लोग उनमें अनुरक्त होते हैं। तुलसीदास ने उत्तरकांड में कहा भी है :—

> निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुण जान नहिं कोइ।
> सुगम अगम नाना चरित, सुनि-मुनि-मन भ्रम होई॥

इस प्रकार जो भगवान अगुण, अरूप; अलख और अजर हैं वही भगवान् भक्त के प्रेमवश सगुण रूप धारण करते हैं। सगुण रूप की महत्ता के प्रतिपादन में एक स्थान पर भागवत् में लिखा भी है "हे विभो, यद्यपि निर्गुण और सगुण दोनों ही तुम्हीं हो, तो भी विशुद्ध चित्त द्वारा तुम्हारे निर्विकार रूपहीन विज्ञान-वस्तु के रूप में अगुण ब्रह्म की महिमा कदाचित समझ में आ भी जाय तो भी इस विश्व के लिए अवतीर्ण तुम्हारे इस सगुण रूप की गुणावली गिनने में कौन समर्थ होगा ? जो अति निपुण हैं वे भी यदि दीर्घकाल तक गिनें तो पृथ्वी के परमाणु, आकाश के हिमकण और सूर्यादि की किरणें गिन सकते हैं, पर वे भी तुम्हारे सगुण रूप के गुणों की गणना नहीं कर सकते।" इस प्रकार सभी सगुण भक्तों ने भगवान के सगुण रूप की उपासना को अधिक प्रश्रय दिया है।

२—**अवतार**—सगुण भक्त भगवान के अवतार की कल्पना करते हैं। भगवान का अवतार मुख्यतः भक्तों के लिए ही होता है। गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है; अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब मैं अपने आपको मनुष्य रूप में सृष्ट करता हूं। इस प्रकार सभी सगुण सन्त भगवान के मनुष्य रूप में अवतार लेने की बात को मानते हैं। अवतार का

मुख्य हेतु भक्तों के लिए लीला का विस्तार करना ही है। यह लीला दो प्रकार की—प्रकट और अप्रकट—होती है। सगुण भक्तों ने भगवान की प्रकट लीला का ही मान किया है। वृन्दावन में भगवान गोपियों के साथ नित्य लीला में रत हैं यह सगुण भक्तों की मान्यता है।

३—भगवान की लीला—भगवान की लीला माधुरी चार प्रकार की है। ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीड़ा-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी। भागवत में भगवान की वेणु-माधुरी का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। भगवान की वेणु-लीला को उसमें अचिन्त्य बताया गया है। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने इस वेणु-निनाद का वर्णन विस्तृत रूप से किया है। भगवान की क्रीड़ा-माधुरी में गोपीलीला सर्वश्रेष्ठ है। भगवान की विग्रह-माधुरी या रूप-माधुरी का वर्णन सभी सगुण भक्तों ने किया है। सभी मनुष्य इस रूप-माधुरी के दर्शन से मुग्ध होते हैं। इसी प्रकार ऐश्वर्य-माधुरी में भगवान के ईश्वर-रस की प्रधानता है।

४—भक्ति का रूप—भक्ति के दो रूप हैं—रागानुगा और वैधी। तुलसीदास ने कहा है कि भगवान अखण्ड ज्ञान-स्वरूप हैं और जीव मायावश अज्ञानी। जीव मायावश और भगवान स्ववश हैं। जो भक्त भगवान के प्रति रागात्मक सम्बन्ध रखते हैं उनकी भक्ति को रागानुगा भक्ति कहते हैं। रागानुगा भक्ति में तन्मयता को अधिक स्थान मिला है। वह ऐकान्तिक भक्ति है जो इष्टदेव के सिवा और किसी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं देखती। वह 'विषया-शक्ति' का ही एक रूप है तथा इस भक्ति के अधिकारी केवल ब्रजवासी ही हैं। वैधी-भक्ति में भक्त की कर्त्तव्य बुद्धि सदैव जाग्रत रहती है और वह अन्त तक विधि नियमों का पालन करता जाता है। परन्तु रागानुगा-भक्ति में भी बन्धन है। जब तक भक्त तन्मयता की अवस्था को नहीं पहुँच जाता तब तक यह बन्धन निषेध इस प्रकार है :—

१—हरि विमुख लोगों का संग त्याग।

२—शिष्य, संगी, भृत्य आदि द्वारा किया हुआ अनुबन्ध।

३—महारम्भ का उद्यम।

४—नाना ग्रंथ कलाओं और वाद्यों का अभ्यास।

५—कृपणता ।

६—शोकादि के वशीभूत होना ।

७—अन्य देवता के प्रति अवज्ञा ।

८—जीवों को उद्विग्न करना ।

९—सेवापराध अर्थात् यत्न का अभाव, अवज्ञा, निष्ठा का अभाव आदि ।

१०—नामापराध—अर्थात् साधुनिन्दा, शिव और विष्णु का पृथकत्व-चिन्तन, गुरु अवज्ञा, देवादि निन्दा, नाम महात्म्य के प्रति अनास्था, हरि नाम की नाना विधि अर्थ कल्पना, नाम, जप, और अन्य शुभ कर्मों की तुलना करना, अश्रद्धालु को नामोपदेश, नाम के प्रति अप्रीति ।

वैध-भक्ति की तीन अवस्थाएँ होती हैं—श्रद्धावान, नैष्ठिक और रुचि युक्त । ये लोग दो मूल तत्व और पाँच अङ्गों को स्वीकार करते हैं । दो मूल तत्व हैं—

१—भगवान ही एकमात्र जीवों का स्मर्तव्य है और जो कर्म भगवान के स्मरण में सहायक हैं, भक्त के लिए वही उचित हैं ।

२—भगवान को भूल जाना अमंगल है और इसमें सहायक सभी कर्म त्याज्य हैं ।

वैध भक्ति के पाँच अङ्ग इस प्रकार हैं—

१—भगवान की मूर्तियों की सेवा ।

२—कथा-सत्संग ।

३—साधु संग ।

४—नाम कीर्तन और

५—व्रज में वास करना ।

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार कहे गये हैं—ओ३म्‌महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजाशक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति; परमविरहासक्ति ।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य, ये पाँचों भगवत प्रेम की पूर्ण अवस्थाएँ हैं । यह प्रेम क्रम से उदय होता है—

१—श्रद्धा की उत्पत्ति ।
२—साधु संग ।
३—भजन क्रिया ।
४—अर्थ-निवृत्ति ।
५—निष्ठा ।
६—रुचि ।
७—आसक्ति प्रभाव और फिर पूर्ण प्रेम का उदय ।

५—भगवान का स्वरूप—भगवान के तीन रूप हैं। क्षमावान रूप, शरणागत-वत्सलरूप और करुणायतन रूप । इन्हीं स्वरूपों के द्वारा भगवान भक्त के करोड़ों पातकों को क्षमा करके उसे मोक्ष देते हैं ।

६—मोक्ष—सगुण भक्तों की भक्ति का चरम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। भक्त लोग भगवान की भक्ति में लीन होकर अन्त:मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। उनकी सगुण भक्ति के अनुसार भगवान सगुण अवतार लेकर भक्तों के दु:ख को दूर करते हैं तथा अन्त में भक्ति से प्रसन्न होकर गोलोकवास या वैकुण्ठवास देते हैं। यही इनकी भक्ति की चरम परिणति है ।

रामभक्तिशाखा का उद्भव तथा विकास

वैष्णव भक्ति में रामोपासना का अस्तित्व कृष्णोपासना से अधिक प्राचीन है। ईसा की १४ वीं शताब्दी के मध्यकाल में रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्री सम्प्रदाय की गद्दी के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द थे, उन्होंने अपने अन्त समय में स्वामी रामानन्द को इस सम्प्रदाय में दीक्षित किया। यही रामानन्द रामभक्तिशाखा के संस्थापक हैं। वैसे तो रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के राम को नारायण और विष्णु का रूप माना जाता था किन्तु राम के दाशरथी रूप को प्रमुखता देने के कारण स्वामी रामानन्द ही इस शाखा के संस्थापक ठहरते हैं। यही रामानन्द उत्तरी भारत में भक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द ।' दक्षिण के आलवार सन्तों में भक्ति का बहुत कुछ विकास हो चुका था और वहीं से भक्ति की लहर उत्तर भारत में पहुँची। इस भक्ति की लहर को उत्तर में लाने वाले रामानन्द का महत्त्व

इस कारण भी बढ़ जाता है कि इनके शिष्य सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के उपासक थे। वस्तुतः उत्तर भारत में भक्ति के महान आन्दोलन को चलाने का सारा श्रेय इन्हीं रामानन्द को है। भक्तमाल में इनके बारह शिष्यों का वर्णन मिलता है। ये इस प्रकार हैं—अनंतानन्द, सुखानन्द सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द; पीपा, कबीर, सेना, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी।

रामानन्द यद्यपि रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में थे तथापि तत्व दृष्टि से वे उनसे पूर्णतया पृथक थे। रामानन्द-सम्प्रदाय में राम और सीता ही एकमात्र परमाराध्य हैं किन्तु रामानुज के सम्प्रदाय में सभी अवतारों की उपासना प्रचलित है। रामानुज के सम्प्रदाय का नाम श्री वैष्णव सम्प्रदाय है तो रामानन्द के सम्प्रदाय का श्री सम्प्रदाय। रामानुज का भाष्य श्री भाष्य है तो रामानन्द का आनन्द भाष्य। इसी प्रकार मंत्र भी भिन्न हैं। रामानुजीय मंत्र 'ओ३म् नमोनारायण' है और रामानन्दीय मन्त्र 'ओं रामायनमः' है। इस प्रकार रामानन्द ने भगवान के विष्णु रूप के स्थान पर राम रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया। इन्होंने वैष्णव धर्म में तीन बड़े सुधार किये—एक, भक्ति मार्ग में जाति-भेद की संकीर्णता मिटाई और स्वयं ने कई छोटी समझी जाने वाली जातियों के लोगों को शिष्य बनाया। दूसरे इन्होंने संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में अपने मत का प्रचार किया। इस प्रकार १५ वीं श० के बाद सचमुच का लोकभाषा का साहित्य बना। कुछ विद्वान तो हिन्दी साहित्य का सच्चा स्वरूप इसी साहित्य में देखते हैं और यहीं से हिंदी की सुघर परम्परा का स्वरूप विवेचन करते हैं। लोक प्रचलित भाषा एवं काव्य रूपों को प्रधानता देकर रामानन्द ने भक्ति साहित्य को नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। रामानन्द ने तीसरा सुधार काव्य के विषय में किया। उन्होंने लोकमर्यादामूलक सदाचार पूर्ण रामभक्ति के महत्व को बढ़ाया और हिन्दी का आश्रयदाताओं की छत्रछाया एवं प्रशस्ति में रचा जाने वाला साहित्य नवीन आदर्श से चालित हुआ। इनकी प्रेरणा पाकर हिन्दी काव्य में जीवन का निश्चित लक्ष्य एवं आदर्श प्रतिष्ठित हुआ और इस आदर्श का आलम्बन मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का चरित्र बना।

रामानन्द के कुछ समकालीन सन्त जैसे सन्त नामदेव और त्रिलोचन महाराष्ट्र में रामचरित का गान कर रहे थे। उत्तर भारत में तुलसी के पूर्व सदन और बेनी ने भी इस उपासना को बढ़ाया !

रामचरित को हिन्दी काव्य में उपस्थित करने वाला सबसे पहला कवि भूपति माना जाता है। उन्होंने राम-कथा दोहा-चौपाई में बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में लिखी। इसके बाद पन्द्रहवीं शती में मुनिलाल ने भी रामकथा पर एक ग्रन्थ रीतिशास्त्रानुसार लिखा। इसके बाद भी सम्भवतः कुछ राम-काव्य रचा गया हो, किन्तु उसका अभी तक कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इसके बाद राम-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास (१६ वीं श० का पूर्वार्द्ध) का समय आता है। इन्हीं ने रामानन्द की लोकसत्ता का सच्चा संघटन किया और रामचरितमानस की रचना करके हिन्दी साहित्य और हिन्दू समाज में युगान्तर उपस्थित किया। इसलिए जहाँ साहित्यिक दृष्टि से तुलसी हिन्दी के उत्कृष्ट महाकवि हैं वहाँ वे हिन्दू समाज के उत्थापक एवं रक्षक भी है। आज का हिन्दू धर्म तुलसी का हिन्दू धर्म ही है। रामभक्ति शाखा का पूर्ण परिपाक तुलसीदास के राम काव्य में हुआ है। तुलसी के बाद रामभक्ति-काव्य का थोड़ा-बहुत विकास तो हुआ किन्तु उसका नाम एवं प्रभाव तुलसी की लोकप्रियता एवं प्रभाव के सम्मुख बिल्कुल दब गया। यहाँ तक कि आगे चल कर १९ वीं श० में रामभक्ति की सामाजिक मर्यादा के भाव को कृष्ण भक्ति के माधुर्य भाव ने दबा दिया। अब हम रामकाव्य-धारा का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

तुलसीदास के समकालीन एवं कृष्ण भक्ति धारा के महान् कवि सूरदास ने भी रामभक्ति-विषयक कुछ पदों की रचना की है। इनके रामकाव्य का एक बहुत सुन्दर संकलन गीता प्रेस गोरखपुर से कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुआ है। सूरदास का रामभक्ति-काव्य-शाखा में विशेष महत्त्व है। इनके पदों में राम की माधुरी एवम् शील वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। राम की बाललीला का वर्णन भी सुन्दर बन पड़ा है।

रामभक्ति शाखा साहित्य में कृष्णदास पयहारी के शिष्य स्वामी अग्रदास की रचनाओं का भी महत्त्व है। इनका समय सन् १५७६ ई० के आसपास है।

इनके लिखे हुये चार काव्य ग्रन्थ मिलते हैं—हितोपदेश उपखाण बावनी, ध्यान मंजरी, रामध्यान मंजरी, कुंडलिया। इनकी कविता बड़ी ललित एवं सरस भाषा में है। इन्होंने राम के माधुर्य पूर्ण स्वरूप का परिचय दिया है।

अग्रदास के शिष्य नाभादास (सं० १६५७) अपने 'भक्तमाल' के लिए प्रसिद्ध हैं। भक्तमाल में इन्होंने साम्प्रदायिकता त्याग कर अनेक महात्माओं की जीवनी एवं कीर्ति वर्णित की है। इसमें पूरा जीवनवृत्त न देकर लेखक ने केवल भक्तों की महिमा सूचक बातें दी हैं। इसका उद्देश्य जनता में भक्तों के प्रति पूज्य बुद्धि का संचार करना था। इन्होंने रामभक्ति विषयक अवधी भाषा में कविता की है। इनके पदों का छोटासा संग्रह मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने राम के जीवन से सम्बन्धित दो 'अष्टयाम' भी बनाये। नाभादास के बाद रामचरित वर्णन करने वाले कवियों में केशवदास का स्थान महत्वपूर्ण है। ये यद्यपि शृङ्गारकाल में ही उल्लेखनीय हैं किन्तु रामभक्ति-काव्य-धारा के प्रसंग में इनकी 'रामचन्द्रिका' विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस महाकाव्य में हमें 'हनुमन्नाटक' एवं 'प्रसन्नराघव' की शैली के उत्कृष्ट सम्वाद मिलते हैं। १६ वीं शताब्दी में उक्त नाटकों का राम-साहित्य में महत्त्व बढ़ गया था। इस महाकाव्य की शैली में हमें केशवदास की आचार्यत्व की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इसमें छन्द-परिवर्तन; चमत्कार एवं अलंकार-संयोजन-चमत्कार दर्शनीय है। यह काव्य रीति शास्त्र की आधारशिला पर वर्णित रामचरित काव्य है।

सेनापति—(जन्म सं० १६४६)—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ कवित्त रत्नाकर है, जिसमें पाँच तरंग हैं। प्रथम तीन तरंगों में क्रमशः श्लेष, शृंगार एवं ऋतु वर्णन है। चौथी पाँचवी तरंगों में क्रमशः रामायण और राम रसायन का वर्णन है। राम कथा का वर्णन भक्ति और पांडित्यपूर्ण है। इससे इनकी उत्कृष्ट भक्ति भावना एवं कवित्व शक्ति का परिचय मिलता है।

प्राणचन्द चौहान और हृदयराम—इन दोनों कवियों ने नाटकीय शैली में रामचरित वर्णन किया है। प्राणचन्द और हृदयराम ने क्रमशः रामायण और हनुमन्नाटक की रचना की है। हृदयराम की रचना अधिक प्रौढ़ है।

रामभक्ति मार्ग में हनुमान भक्ति का विशेष महत्त्व रहा है। स्वामी रामानन्द कृत हनुमान स्तुति, तुलसीकृत हनुमान वन्दना, चालीसा एवं हनुमान बाहुक प्रसिद्ध हैं। रायमल्ल पांडे का 'हनुमान चरित' भी इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयत्न है। इसके बाद धीरे-धीरे रामकाव्य में कृष्णभक्ति के ऐकान्तिक एवं मधुर भाव का प्रवेश और मर्यादा का लोप होने लगा। १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। सन् १७०३ में अयोध्या के महन्त रामप्रियशरण ने 'सीतायन' लिखा। लगभग सन् १७५४ में प्रेमसखी नामक भक्त ने 'जानकी राम का नखशिख', 'होरी छंदादि प्रबन्ध' इत्यादि राम की माधुर्य-लीला पूर्ण काव्य ग्रन्थों की रचना की। इसी समय के लगभग अयोध्या के जानकी रसिकशरण ने 'अवधी सागर' में राम और सीता की अष्टयाम लीला, रास एवं विहार आदि का सरस वर्णन किया। कुछ समय बाद रामायत सखि सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक 'कृपानिवास' हुए जिन्होंने राम-भक्ति शाखा में कृष्णभक्ति की मधुरोपासना (सखि रूप में) को सखी-सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। इनके ग्रंथ ये हैं—भावना पच्चीसी; समय प्रबन्ध (अष्टयाम लीला), माधुरी प्रकाश (राम और सीता के अंग, प्रत्यंग के शोभा का वर्णन) जानकी सहस्रनाम। इनके कुछ मधुर भाव सम्बन्धी पद बड़े अश्लील हैं। इनकी पदावली के एक दो पद उदाहरण-स्वरूप यहाँ दे रहे हैं —

(१) नीबी करषत बरजति प्यारी।
रससंपट संपुट कर जोरत, पद परसत पुनि लै बलिहारी॥

(२) पिय हँसि रस रसकंचुकि खोलैं।
चमकि न वारति पानि लाड़िलो, मुरक मुरक मुख बोलैं॥

इन पदों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि धीरे-धीरे रामभक्ति पर भी कृष्णभक्ति की लीला माधुरी, प्रेममाधुरी इत्यादि का प्रभाव पड़ने लगा था।

सन् १७६० के लगभग बीजक के प्रसिद्ध टीकाकार रीवां नरेश रघुराज-सिंह (जन्म १७३५) ने रामोपासना का प्रतिपादन करते हुए काव्य ग्रंथ लिखे। इनका 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक बहुत प्रसिद्ध है। इसमें इन्होंने रामायण

के पात्रों के नाम बदल दिये हैं। दूसरी विशेष बात इसमें ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग है।

रामभक्तिशाखा में शृङ्गारी भावनाओं का विशेष प्रचार करने वालों में रसिक सम्प्रदायान्तर्गत 'स्वसुखी शाखा' के प्रवर्तक रामचरणदास का नाम महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने पति-पत्नी-भाव की उपासना चलाई। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "स्त्री वेष धारण करके पति लाल साहब (यह खिताब राम को दिया गया है) से मिलने के लिए सोलह शृङ्गार करना, सीता की भावना सपत्नी रूप में करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए।" इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—दृष्टांत-बोधिका, कवितावली-रामायण, पदावली, रामचरित और रस मालिका।

१९वीं शताब्दी के जीवाराम ने उक्त 'स्वसुखीमत' में कुछ फेरफार करके 'तत्सुखी शाखा' का प्रवर्तन किया। इनका भक्त नाम युगलप्रिया था। इनकी दो रचनाएं हैं—पदावली और अष्टयाम। इसी प्रकार युगलानन्यशरण, बालअली जू, जनकराज किशोरीशरण इत्यादि भक्तों ने अष्टयाम इत्यादि मधुर भाव-विषयक रामकाव्य का सृजन किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि १९वीं शताब्दी में रामकाव्य की प्रवृत्ति मधुर-भाव की थी। उसमें राम और जानकी की अष्टयाम लीलाओं और गूढ़-प्रेम रहस्य का महत्त्व बढ़ गया था। बीसवीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय के कुछ अच्छे भक्त हुए। इनमें जानकीवर शरण, रामवल्लभ शरण, सियालाल शरण इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इधर आधुनिककाल में खड़ी बोली के कुछ उत्कृष्ट कवियों ने रामचरित विषयक रचनाएं कीं किन्तु अब दृष्टिकोण बिलकुल बदल गया है। आधुनिक काल में रामचरित विषयक रचनाओं में और प्राचीन रामभक्ति शाखा में दृष्टिकोण-भेद के कारण पर्याप्त अन्तर है। आधुनिक काल के कवियों में रामचरित उपाध्याय, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त एवं निराला का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

सारांश यह है कि रामकाव्य का जो महान् उत्कर्ष तुलसीदास के रामचरित-मानस में दिखाई पड़ता है वह उनके महत् प्रभाव के कारण परवर्ती रामकाव्य

में दिखाई नहीं पड़ता। गोस्वामी जी के मानस के आलोक में परवर्ती रामभक्त कवियों की रचनाएं फीकी जान पड़ती हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "गोस्वामी जी के पीछे भी कई लोगों ने रामायणें लिखीं पर वे गोस्वामी जी की रचनाओं के सामने प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामी जी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि रामभक्ति की और रचनाएं उसके सामने ठहर न सकीं।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "तुलसीदास के अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशाली साहित्य के आगे परवर्ती काल में भी सभी काव्य-प्रयत्न फीके पड़ गए। रामचरित को लेकर लिखे गए काव्य तो उस गौरव तक पहुँच ही न सके। रामभक्ति के अन्यान्य कवि भावी साहित्य को किसी प्रकार से चालित या प्रवाहित करने में समर्थ न हो सके।"

इस प्रकार रामभक्ति शाखा में तुलसीदास का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे एक प्रकार से रामभक्ति शाखा के एकमात्र उत्कृष्ट कवि एवं संस्थापक ठहरते हैं।

लोकनायक तुलसी की समन्वय भावना

महात्मा बुद्ध के बाद भारत के सबसे बड़े लोकनायक महात्मा तुलसीदास थे। लोक नायक उस महान् व्यक्ति को कह सकते हैं जो समाज के मनोविज्ञान को समझकर प्राचीनता का संस्कार करके एवं नवीन दृष्टिकोण से उसमें उचित सुधार करके जाति-गत संस्कृति का उत्थान करता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियां; साधनाएं, जातियां, आचारनिष्ठा और विचार पद्धतियां प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वय-कारी थे।" इस प्रकार तुलसी अपनी समन्वय साधना के कारण उस युग के लोकनायक थे। तुलसी में प्रगतिशीलता थी जिससे वे परिस्थितियों के अनुकूल नवीन दृष्टिकोण अपनाकर प्राचीनता का संस्कार कर सके। अब हम तुलसी की समन्वय भावना के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

तुलसी के राम सर्वशक्तिमान, सौन्दर्य की मूर्ति एवं शील के अवतार हैं। वे मर्यादा पुरुषोतम हैं। उनके इस स्वरूप का विशेष महत्व है। तुलसी ने कहा है—

जब जब होहिं धरम की हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं सकल सज्जन भव पीरा ॥

अर्थात जब जब समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होकर उसकी गति रुद्ध होती है तब तब किसी एक महापुरुष का आविर्भाव होता है और वह गति-रुद्धता मिटा कर पारस्परिक सहयोग एवं समानता का वातावरण बनाता है। रामराज्य भी इसी दिशा में एक कदम है। महाभारत के कृष्ण ने महाभारत का संचालन कर प्रतिकूल शक्तियों का उन्मूलन किया और ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकता स्थापित की। कालान्तर में कर्म काण्ड की हिंसा में प्रमुखता एवं ज्ञान और भक्ति का ह्रास होने पर बुद्ध अवतरित हुए और अहिंसा, शांति, मैत्री एवं प्रेम का एक महान् वातावरण तैयार हुआ जिसे हम बुद्धकाल कह सकते हैं। किन्तु बौद्ध-धर्म भी आठवीं शताब्दी से कर्मकांड के जाल में फंसता गया। फिर क्या था, वज्रयान और महायान महासुखवाद की वाममार्गी साधना को लेकर चले और समाज में दुराचार एवं अव्यवस्था फैलाने लगे। जगद्गुरु शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में अद्वैत के सिद्धान्त से एक बार पुनः क्रांति की। बाद में गोस्वामी तुलसीदास ने उच्च-आदर्शहीन एवं विलासिता में निमग्न समाज का उत्थान करने के लिए मर्यादा पुरुषोतम राम के चरित्र को मानस में उतारा। उन्होंने विशृङ्खल समाज को मर्यादा के बन्धन में बांध कर समन्वय की भावना उत्पन्न की और लोक धर्म का नवीन संस्कार किया।

तुलसी ने तत्कालीन बौद्ध सिद्धों एवं नाथ योगियों की चमत्कारपूर्ण साधना का खंडन करके राम के लोक संग्रही स्वरूप की स्थापना की। राम के इस रूप में उन्होंने समन्वय की विराट चेष्टा की है। राम के महत् चरित्र में उन्होंने लोक और शास्त्र का समन्वय दिखलाया है। तत्कालीन समाज में शैवों, वैष्णवों, और पुष्टिमार्गी तीनों में परस्पर घोर विरोध था। तुलसीदास ने वैष्णव धर्म को इतने व्यापक रूप में प्रस्तुत किया कि उसमें उक्त तीनों संप्रदायवादी

एक-रूपता देखने लगे। मानस में तुलसी के इस प्रयत्न की झाँकी देखी जा सकती है। राम कहते हैं—

शिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न भावा।
संकर विमुख भगति यह मोरी। सो नारकीय मूढ़ मति थोरी।

इसी प्रकार उन्होंने वैष्णवों और शाक्तों का सामंजस्य प्रदर्शित किया है—

नहि तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहीं जाना।
भव-भव-विभव पराभव कारिनि। विस्व विमोहनि स्ववस बिहारिनि॥

पुष्टिमार्गी 'अनुग्रह' का महत्त्व भी दर्शनीय है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहि भगत भगत उर चन्दन॥

यह तो हुई तुलसी की तत्कालीन धार्मिक वातावरण एवं उसमें समन्वय स्थापित करने की बात, अभी इसका एक पक्ष और है। उस युग में निर्गुण और सगुण उपासना का भी विरोध चल रहा था। सगुण में स्मार्त आचार-विचारों का महत्त्व था और भक्ति का प्राधान्य था। उधर निर्गुण संत साधकों ने धर्म को अत्यन्त सस्ता बना दिया था और गाँवों में कुओं पर भी अद्वैतवाद की चर्चा होती थी; किन्तु उस ज्ञान की कोरी कथनी में भाव-मूढ़ता एवं चिंतन का अभाव था। तुलसीदास ने ज्ञान और भक्ति के विरोध को मिटा कर वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी। ज्ञान भी मान्य है किन्तु भक्ति की अवहेलना करके नहीं। इसी प्रकार भक्ति का भी ज्ञान से विरोध नहीं है। दोनों में केवल दृष्टिकोण का थोड़ा सा अन्तर है। राम कहते हैं—

सुनि मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तह राखै जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिल बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।
जानहि मोर बल निज बल नाहीं। दुहु कहुँ काम क्रोध रिपु आहीं॥
यह बिचारि पण्डित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहि तजहीं॥

इतना ही नहीं तुलसी ने तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदायवाद में बाह्याडम्बर

की प्रधानता देखकर हृदय की स्वच्छता पर जोर दिया। राम ने सन्तों के जो लक्षण बताये हैं उसके मूल में हृदय की स्वच्छता है। यही तो निर्गुण सन्त कह रहे थे किन्तु उनका लक्ष्य केवल खंडन एवं प्रतिक्रिया था। तुलसी का लक्ष्य बाह्याडम्बर को व्यर्थ दिखाकर हृदय की शुचिता पर जोर देना था—

निर्मल मन सोई जन मोहि भावा। मोहि न कपट छल छिद्र सुहावा॥

यही उस समय की धार्मिक स्थिति की मांग थी।

तुलसीदास धार्मिक नेता ही नहीं वरन् महान् समाजसुधारक भी थे। उन्होंने अपने समय की राजनीति की गन्दगी को दूर करने का प्रयत्न किया। समाज के सम्मुख राजनीति के महान् आदर्श प्रस्तुत किए और रामराज्य की कल्पना द्वारा एक नवीन आशा को झलक दिखाई। मुसलमानी राजनीति से हिन्दू जाति अत्यन्त पीड़ित थी। तुलसी ने खल विनाशक राम के शक्तिशाली जीवन द्वारा लोकशिक्षा का पाठ पढ़ाया। किस प्रकार अत्याचार का घड़ा भरने पर फूटता है, और अत्याचार के युग के विरुद्ध विद्रोह होता है और शान्ति का युग आता है, यह मानस में देखने को मिलता है। राजा का आदर्श प्रजा पालन एवं दुष्टों का विनाश है। रामराज्य एक आदर्श राज्य की कल्पना है।

तुलसी ने समाज की मर्यादा का भी वर्णन किया है। इसीलिए लोक जीवन में जितने विविध प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं—पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-भाई, राजा-प्रजा, सास-बहू, पति-पत्नी इत्यादि सभी की मर्यादा का वर्णन राम के महाकाव्यात्मक विस्तृत जीवन के अनेक प्रसंगों के माध्यम से किया। यह सब करने की उस समय आवश्यकता थी क्योंकि पुरानी रूढ़ियों एवं सामाजिक मर्यादा के प्रति विद्रोह के स्वर सुनाई पड़ रहे थे। तुलसी ने मानस में कहा भी है—

बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नरनारी॥
द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥

उस युग में ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न साधन बतलाये जाते थे। इन साधनों के प्रतिपादक सिद्धान्तों की भी बहुलता थी। विभिन्न दर्शनों के जाल में

जनता उलझी हुई थी। तुलसी ने इन विविध दर्शनों को भ्रम बतलाया है। उन्होंने द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत तीनों सिद्धान्तों को भ्रम कहा है—

तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै।

उनके ब्रह्म की मर्यादा विशिष्टाद्वैत से ही निर्मित है—

सीया-राममय सब जग जानी। करौ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

तुलसी पूर्णतया समन्वयवादी थे। उन्होंने काव्य की भाषा-शैली पर भी समन्वय की छाप लगा दी। उन्होंने अपने समय की तथा पूर्व प्रचलित सभी काव्य पद्धतियों को राममय करने का सफल प्रयत्न किया। सूफियों की दोहा चौपाई पद्धति, चन्द के छप्पय, तोमर इत्यादि, कबीर के दोहे और पद, रहीम के बरवै, गंग आदि की कवित्त सवैया पद्धति एवं मंगल काव्यों की पद्धति को ही नहीं वरन जनता में प्रचलित सोहर, नहछू, गीत आदि तक को उन्होंने रामकाव्यमय कर दिया। इस प्रकार उन्होंने काव्य की प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों शैलियों को अपनाया। उन्होंने तत्कालीन कृष्ण-काव्य की ब्रज-भाषा और प्रेमकाव्यों की अवधी भाषा दोनों का प्रयोग करके अपने समन्वय-वादी दृष्टिकोण का परिचय दिया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसीदास के व्यक्तित्व के तत्वों का वर्णन इस प्रकार किया है—"अत्यन्त विनम्रभाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व के प्रधान तत्व हैं।" इन दो पंक्तियों में लोकनायक तुलसीदास का व्यक्तित्व ही नहीं उनकी समन्वय साधना भी स्पष्ट झलकती है।

हिन्दी-राम-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

ऊपर हमने हिन्दी-राम-काव्य-धारा का उद्भव एवं विकास का संक्षिप्त अध्ययन किया। हिन्दी-राम-काव्य के प्रमुख कवि प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास हैं। प्रधानतः उनके काव्य तथा अन्य राममार्गी-भक्त कवियों के काव्य का अध्ययन करने पर निम्नलिखित प्रमुख प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं—

१—राम-काव्य का मुख्य विषय रामचरित है। इसमें विष्णु के राम-रूप की भक्ति का प्रतिपादन मिलता है। तुलसी ने राम को पूर्ण ब्रह्म माना है।

तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम एवं शक्ति-शील और सौन्दर्य के निधान-स्वरूप का सुन्दर चित्रण किया है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "राजनीति की जटिल परिस्थितियों में धर्म की भावना किस प्रकार अपना उत्थान कर सकती है यह राम-काव्य ने स्पष्ट कर दिया।" राम-काव्य का महत्त्व इसी महत् कार्य से स्पष्ट है।

२—राम-काव्य में वैष्णव धर्म के आदर्शों की पूर्ण प्रतिष्ठा है। इसमें वैष्णव धर्म के आदर्शों के द्वारा सेवक-सेव्य भाव की उपासना पर जोर दिया गया है—

सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

३—राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की अलग-अलग महत्ता स्पष्ट करके भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया है। राम-भक्त-कवि जीवन का परम लक्ष्य भक्ति को मानते हैं। इस जीवन से परे एक जीवन है उसका सुख इसी जीवन के कर्मों के द्वारा सम्भव है। तुलसी कहते हैं—

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

—मानस (उत्तरकाण्ड)

इस जीवन में सब प्रकार का साफल्य प्राप्त करने के लिए भक्ति ही सुलभ साधन है। राम-भक्ति को ही तुलसी सम्पूर्ण जीवन-परिधि का केन्द्र-बिन्दु मान कर चले हैं। राम से उनकी वन-यात्रा में ऋषि, मुनि क्या माँगते हैं, देखिए—

जोगु जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥

—अरण्यकाण्ड।

४—राम-काव्य में प्रायः मर्यादा की झलक मिलती है। इसी कारण शृङ्गार और विशेषकर संयोग शृङ्गार का इसमें पूर्ण परिपाक नहीं हुआ। किन्तु यह बात तुलसी जैसे मर्यादा शील कवियों के लिये ही ठीक बैठती है। १८वीं शती से राम-काव्य में माधुर्य भावना का पुट धीरे-धीरे बढ़ना दिखाई

पड़ता है। यह कृष्ण-काव्य की माधुर्यमयी-उपासना-विषयक रचनाओं का प्रभाव है। इसलिए रामायत सखि सम्प्रदाय में 'अष्टयाम', 'नखशिख' इत्यादि के वर्णन मिलते हैं। वैसे राम-काव्य में नव रसों का प्रयोग है; क्योंकि राम-कथा इतनी व्यापक है कि उसमें सम्पूर्ण भावों का अपूर्व संयोग हो जाता है। तुलसी के मानस में मानव जीवन की विविध परिस्थितियों एवं भावनाओं का बड़ा मार्मिक चित्रण है। यह महाकाव्य है अतः इसमें स्वभावतः नव रसों का निरूपण मिलता है; किन्तु दास्य-भाव की भक्ति का आदर्श होने के कारण निर्वेद-जन्य शान्त-रस ही प्रधान रस है। हास्य रस का राम-काव्य में प्रायः अभाव ही मिलता है।

५—राम-काव्य में सभी प्रकार की रचना-शैलियों का प्रयोग किया गया है। इसमें श्रव्य-काव्य के साथ-साथ दृश्य-काव्य भी पाया जाता है। राम-काव्य में प्रबन्ध काव्य के साथ मुक्तक रचनाओं का अपूर्व सामंजस्य मिलता है जैसे तुलसीदास का रामचरितमानस और विनय पत्रिका। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोस्वामी जी के दस काव्यरूप गिनाये हैं—

१—दोहा चौपाई वाले चरित काव्य।

२—कवित्त-सवैया

३—दोहों में अध्यात्म और धर्म-नीति के उपदेश।

४—बरवै छन्द।

५—सोहर छन्द।

६—विनय के पद।

७—लीला के पद।

८—वीरकाव्यों के लिये उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति।

९—दोहों में सगुन विचार।

१०—मंगल-काव्य।

इनके अतिरिक्त अन्य राम काव्य धारा के कवियों ने कई नवीन काव्य-रूपों का प्रयोग किया है।

हृदयराम और प्राणचन्द चौहान ने रामकथा को दृश्य काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। रीति शास्त्र के आचार्य केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में विभिन्न छन्दों में रामकथा लिखी। मानस में संस्कृत के श्लोक एवं वर्णवृत्त छन्दों में भी रचना मिलती है। कुण्डलियाँ छन्द का भी राम-काव्य में प्रयोग मिलता है। फिर भी दोहा-चौपाई में ही राम काव्य का उत्कृष्ट रूप 'मानस' में मिलता है। इस पद्धति में प्रबन्धात्मकता का निर्वाह बड़ा सुन्दर हुआ है। मुक्तक शैली में विनय पत्रिका के गेय पद आदर्श हैं।

६—राम काव्य की रचना प्रधानतः अवधी भाषा में हुई है। तुलसी ने मानस के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों जैसे विनयपत्रिका इत्यादि में ब्रजभाषा का प्रयोग भी किया है। केशव की रामचन्द्रिका ब्रजभाषा में ही है। इस प्रकार रामकाव्य का सृजन ब्रज और अवधी दोनों ही भाषाओं में हुआ है। रामकाव्य की भाषा की विशेषता उसका परिमार्जित रूप है। उक्त दो भाषाओं में कुछ अन्य प्रादेशिक भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। ऐसी भाषाओं में बुन्देली, भोजपुरी मुख्य हैं।

राम-साहित्य का आगे विकास क्यों न हो सका ?

रामकाव्य में लोक धर्म के प्रति इतना व्यापक दृष्टिकोण रहते हुए भी उसका आगे विकास क्यों न हुआ जब कि लोक धर्म से विमुख कृष्णकाव्य इतना लोकप्रिय हुआ, यह बड़े आश्चर्य का विषय है। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह एक खटकने वाली बात है कि जिस साहित्य में तुलसी जैसे प्रतिभाशाली कवि और 'रामचरितमानस' जैसे सुन्दर ग्रन्थ की रचना हुई हो उसका विकास आगे के लिए रुक गया। इसका विशेष कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ हैं। उस समय की स्थिति ही ऐसी थी कि राम-काव्य को कृष्णकाव्य के सम्मुख नत-मस्तक होना पड़ा। जिन-जिन कारणों से राम काव्य की धारा अवरुद्ध हुई वे निम्नलिखित हैं—

१—राम साहित्य की गम्भीरता और मर्यादा—

राम-काव्य के विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा उसकी गम्भीरता और मर्यादा ने उपस्थित की। राम-काव्य में गुरुता और नैतिकता के उच्च स्तर

के कारण उसका जनसाधारण के हृदय से बन्धन टूट गया। मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने के लिए रागात्मक तत्त्व की आवश्यकता होती है जिसका तुलसीदास के बाद राम-काव्यकारों की रचनाओं में नितांत अभाव मिलता है। इन कवियों ने राम के मर्यादापुरुषोत्तम रूप का तो चित्रण किया, किन्तु उनके मधुर व्यक्तित्व को एकदम भुला दिया।

इस मधुर-व्यक्तित्व की अवहेलना का दूसरा कारण यह भी है कि राम का चरित्र ही केवल लोक-संग्रह का संघटित रूप है तथा उसमें कृष्ण-चरित्र की भाँति मधुरता और कोमलता के लिए कोई स्थान नहीं है। केवल तुलसीदास ही राम-भक्ति शाखा में ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से राम के लोककल्याणकारी तथा लोकरंजक दोनों रूपों का समन्वय अपने 'रामचरित-मानस' में किया। उसके बाद के कवि इस बात का निर्वाह न कर सके। इस प्रकार राम-काव्य अपने गाम्भीर्य और मर्यादावाद के कारण तुलसीदास के पश्चात् विकसित नहीं हुआ।

२—तुलसीदास का अद्वितीय काव्य-कौशल—

रामभक्ति काव्य का विकास रुक जाने का दूसरा कारण गोस्वामी तुलसीदास का अद्वितीय काव्य-कौशल है। रामभक्ति की कविता गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों से इतनी ऊँची उठ गई कि उसके पीछे के रामभक्त कवियों की अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। गोस्वामी जी के आलोक के सामने अन्य कवि प्रभावहीन पड़ जाते हैं। उनके काव्य-कौशल के आगे अन्य कवियों को रामकथा के वर्णन करने का साहस ही न हुआ। इसके अतिरिक्त तुलसीदास में राम-काव्य का चरम विकास दीख पड़ने से जनता की चित्त-वृत्ति तुलसीदास को छोड़कर अन्य कवियों की रचनाओं में रमी ही नहीं। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास का काव्य-कौशल रामभक्ति-काव्य के विकास में बाधक सिद्ध हुआ है। हम यह कह सकते हैं कि तुलसी ने राम काव्य को चरम विकास की अवस्था पर पहुँचा दिया था इसलिए अन्य उत्कृष्ट कवियों ने उस पर लेखनी उठाना ठीक न समझा।

३—तत्कालीन परिस्थितियाँ—

रामभक्ति-शाखा के काव्य के विकास में तत्कालीन परिस्थितियाँ भी बाधक

सिद्ध हुईं। उस समय की जनता की वृत्ति बहुत कुछ भगवान के मधुर रूप की ओर ही उन्मुख होती जा रही थी। राम-काव्य में भगवान के लोकरक्षक रूप को ही महत्ता दी है तथा लोकरंजक रूप का गौण स्थान है। इसी प्रकार राम-काव्य जनता की चित्तवृत्ति को संतुष्ट न करने के कारण विकसित नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त उस समय की जनता का ध्यान तुलसी के रामचरितमानस ने इस प्रकार आकृष्ट कर लिया कि अन्य रामभक्त कवियों की रचनाएँ उन्हें आकर्षित न कर सकीं।

४—कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता—

कृष्ण-काव्य अपनी प्रेमाभक्ति के प्रचार के कारण जनता की चित्तवृत्ति के अनुकूल था। इसमें सामाजिक मर्यादाओं का इतना बन्धन नहीं था। इसलिए जनता की सरस चित्तवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए राम-काव्य उपयुक्त नहीं था। कृष्ण-चरित में कुछ ऐसी विशेषता थी, जन-मन रंजन का कुछ ऐसा गुण था कि राम-काव्य का प्रभाव दब गया। इस प्रकार कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता राम-काव्य धारा के विकास में बाधक सिद्ध हुई।

५—अवधी भाषा के स्थान पर ब्रजभाषा का आना—

तुलसीदास ने रामचरितमानस का सृजन अवधी भाषा में करके उसे राममय बना दिया। इसलिए अवधी भाषा ही रामकाव्य के लिए अपनी भाषा हो गई। किन्तु, कृष्ण चरित्र के महत्त्व के साथ ब्रजभाषा का भी महत्त्व बढ़ा। धीरे-धीरे हिन्दी प्रदेश में ब्रजभाषा प्रधान हो गई और अवधी का महत्त्व घट गया। अवधी भाषा, जो रामकाव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त थी, अब साहित्यिक भाषा न रही। इसका रामकाव्य के विकास पर भी प्रभाव पड़ा। ब्रजभाषा में जो थोड़ा सा रामकाव्य लिखा भी गया वह इतना उच्चकोटि का नहीं बन सका जितना अवधी भाषा में था। इस प्रकार जब अवधी साहित्यासन से अपदस्थ हो गई तो रामकाव्य का प्रवाह भी क्षीण हो गया।

कृष्ण-भक्ति शाखा का उद्भव तथा विकास

जिस प्रकार रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर राम-भक्ति का प्रचार किया उसी प्रकार

निम्बार्क, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति 'भगवत पुराण' से ली गई है जिससे ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का ही अधिक महत्त्व है, आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है। ऋग्वेद संहिता में श्रीकृष्ण का नाम कई स्थलों पर आया है। यजुर्वेद में भी कृष्णकेसी नामक असुर को मारने वाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद में भी एक कृष्ण का उल्लेख है जिन्हें ऋषि अंगरिस का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा गया है। इसके पश्चात् वासुदेव धर्म के उत्थान के साथ वासुदेव के पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई जो एक ऐतिहासिक पुरुष, द्वारका के राजा तथा महाभारत कराने वाले समझे जाते थे। वैदिक कृष्ण और उपनिषद के कृष्ण ने इसका योग हुआ और कदाचित इस प्रकार महाभारत के ज्ञानी और योद्धा कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। पंतजलि के समय में वासुदेव धर्म के पुनरुत्थान के कारण महाभारत के कृष्ण को परम भागवत मान लिया गया और उन्हें वैदिक देवता विष्णु और नारायण से मिला दिया गया।

निम्बार्क मे पहले भागवत पुराण के आधार पर माधव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परन्तु इसमें अद्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना को ही स्थान दिया गया है। ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में कृष्ण भक्ति का जो प्रचार हुआ उसमें वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की स्थापना की वहाँ भक्ति के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग चलाया। शुद्धाद्वैत तथा पुष्टि मार्ग के योग से उन्होंने श्रीकृष्ण को ब्रह्म मानकर उन्हीं की कृपा पर जीव के सत् चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप की कल्पना की। शंकराचार्य ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यवहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य ने बात उलट कर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बनाया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा और प्रेम-लक्षणा भक्ति को ही अपनाया।

इन्होंने कृष्ण को परब्रह्म और दिव्यगुण सम्पन्न 'पुरुषोत्तम' माना है। उनके लोक को वैकुण्ठ माना है, जिसका गोलोक एक खण्ड है। इसके अन्तर्गत

वृन्दावन, यमुना, गोवर्धन, निकुंज आदि सभी आते हैं और इनमें कृष्णजी अलक्ष भाव से गोचारण, रास क्रीड़ा किया करते हैं। इस नित्य क्रीड़ा स्थल में यदि जीव प्रविष्ट हो पाता है तो वह मोक्ष प्राप्त करता है। जीव का इसमें प्रविष्ट होना भगवदनुग्रह से होता है। इस भगवदनुग्रह को ही वे पोषण या पुष्टि मानते थे। वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का बहुत अधिक प्रचार किया और उसे शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया।

वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय के अनेक वैष्णव दीक्षित हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। इसमें अष्टछाप के कवि बहुत प्रसिद्ध हैं जिसकी स्थापना वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने की थी। उसी अष्टछाप में सूरदास, नन्ददास, आदि व्रजभाषा और कृष्ण-भक्ति के श्रेष्ट कवि थे। वल्लभाचार्य की गद्दी व्रजभूमि में थी जहाँ से उन्होंने कृष्ण भक्ति का खूब प्रचार किया। रामानुजाचार्य के समान वल्लभाचार्य ने भी भारत में बहुत मे भागों में पर्याप्त पर्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। कृष्ण भक्ति के प्रचार में अन्य सम्प्रदाय के कृष्ण भक्तों ने भी बहुत योग दिया। श्रीवल्लभाचार्य से प्रभावित होकर जिन कवियों ने श्रीकृष्ण भक्ति पर रचना की उनमें सूरदास का प्रमुख स्थान है। भक्त कवि सूरदास ने कृष्ण-भक्ति के प्रचार में अपूर्व सहयोग दिया। सूरदास के बाद भी यह परंपरा चलती रही।

वल्लभाचार्य के सिद्धान्त

श्री वल्लभाचार्य ने सांसारिक दुःख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध कराने के लिए जीव को कृष्ण-सेवा का उपदेश दिया है। जब तक सांसारिक दुःख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध नहीं होता, तब तक जीव को दिव्य-प्रेम की सिद्धि भी प्राप्त नहीं हो सकती। उस सिद्धि को प्राप्त किये बिना श्रुतियों की गति दुर्लभ है, अतः निरन्तर कृष्ण-सेवा करना ही प्रेम जिज्ञासु जीवों के लिए एकमात्र कर्तव्य कहा गया है।

वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। ये ब्रह्म में दो अचिन्त्य शक्तियाँ मानते हैं—एक आविर्भाव की और दूसरी तिरोभाव की। उसके

सत, चित और आनन्द तीन स्वरूप हैं। वह अपनी शक्ति द्वारा जगत के रूप में परिणत भी हो जाता है और परे भी रहता है। वह अपने स्वरूप का कहीं आविर्भाव और कहीं तिरोभाव किए रहता है। जीव के रूप में उसका सत् और चित् आविर्भूत रहता है और आनन्द तिरोभूत। जड़ में सत् ही आविर्भूत रहता है शेष दोनों तिरोभूत। इस प्रकार उन्होंने शंकर अद्वैत के मायावाद को शुद्ध करके अपने मत का प्रतिपादन किया। अतः इनका मत शुद्धाद्वैत कहलाया।

जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य जी का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है उसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में उनका साधना मार्ग 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। दार्शनिक सिद्धान्त के लिए वल्लभाचार्य चाहे विष्णुस्वामी के ऋणी रहे हों, किन्तु अपने साधन-वर्ग की व्यवस्था स्वयं उनकी वस्तु है। वल्लभाचार्य का मत है कि 'पुष्टिमार्ग भावना के अनुग्रह से ही साध्य है।' पुष्टिमार्ग के सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिराय जी ने 'पुष्टिमार्ग लक्षणानि' नामक लेख में पुष्टिमार्ग का इस प्रकार परिचय दिया है—

"जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण के स्वरूप प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। और जिस मार्ग में सर्व-सिद्धियों का हेतु भगवान का अनुग्रह ही है, जहाँ देह में अनेक सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवत्-विरह-अवस्था में भगवान की लीला के अनुभव मात्र में संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान को समर्पण है, वह पुष्टि मार्ग कहलाता है।"

पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों की सम्यक् निष्पत्ति के लिए हमें वल्लभाचार्य के कृष्ण, आत्मा, प्रकृति और मुक्ति सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कर लेनी चाहिए।

कृष्ण—वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं। वही संसार का पालन-पोषण और संहार करते हैं। वही सृष्टि का उपादान कारण तथा स्वयं सच्चिदा-

नन्द स्वरूप हैं। उन्हीं से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति हुई। जीव में कृष्ण के सत और चित् गुणों का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु आनन्द-तत्त्व का तिरोभाव रहता है। इसी प्रकार जड़-प्रकृति में केवल सत-तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ और चित और आनन्द का तिरोभाव रहता है। वास्तव में तीनों तत्त्व की यही भिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। यही त्रिगुणात्मक ब्रह्म कृष्ण हैं जो अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस संसार के रूप में प्रगट होते हैं। जन-साधारण के ग्रहण करने के लिए वल्लभाचार्य ने कृष्ण के गोलोक की कल्पना की जिसमें वे राधिका और भक्त आत्माएँ रूपी गोपियों के साथ निवास करते हैं। भक्तों को लीला का आनन्द देने के लिए ही वे पृथ्वी पर अवतार लेते हैं तथा भक्त ही गोपी, ग्वाल, नन्द, यशोदा का रूप ग्रहण कर लेते हैं और कृष्ण और राधा की लीला का आनन्द उठाते हैं। यही वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तों का धार्मिक पक्ष है।

आत्मा—वल्लभाचार्य के अनुसार आत्मा का आविर्भाव परमात्मा के आनन्द गुण के तिरोभूत होने से हुआ। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही हैं क्योंकि ब्रह्म जीव का उपादान कारण भी है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है। जीव और ब्रह्म में इतना ही अन्तर है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं।

प्रकृति—जीव के समान प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति है। प्रकृति तत्व का विकास ब्रह्म के आनन्द और सत् के तत्वों के तिरोभाव से हुआ। गोलोक की अवतारणा ब्रज के रूप में पृथ्वी पर करके वल्लभाचार्य ने प्रकृति को साधारण जड़ सत्ता से कहीं ऊपर उठा दिया है।

आत्मा—वल्लभाचार्य के अनुसार आत्मा तीन प्रकार की है—

१—मुक्तियोगिन ।

२—नित्यसंसारिन ।

३—तमोयोगिन ।

नित्य संसारिन आत्मा की मुक्ति नहीं होती। वह अनन्तकाल तक आवागमन के चक्कर में पड़ी रहती है; तमोयोगिन आत्मायें इनसे भी निकृष्ट हैं। मुक्तियोगिन आत्मायें ही मुक्ति को प्राप्त करती हैं।

मुक्तियोग्य आत्मायें परब्रह्म के अनुग्रह से ही मुक्ति प्राप्त करती हैं, इसी भगवद् अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य ने पुष्टि रक्खा।

वल्लभाचार्य ने मुक्ति के दो मार्ग माने हैं। एक ज्ञान और साधन का मार्ग जिसे मर्यादा मार्ग कहा है और दूसरा अनुग्रह का मार्ग जिसे पुष्टि मार्ग कहा है और जो मर्यादा मार्ग से भी श्रेष्ठ है। पुष्टि मार्ग से प्राप्त मुक्ति की अपेक्षा मर्यादा मार्ग से प्राप्त मुक्ति निम्नकोटि की भी है। उनके अनुसार भक्ति और अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। इसके लिए अधिक साधन की भी आवश्यकता नहीं। भक्त को परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करना चाहिए और उसके अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी चाहिए। पुष्टि द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के बाद जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाती है और उसकी लीला में भाग लेने लगती है।

वल्लभाचार्य ने पुष्टि चार प्रकार की बताई है—

१—प्रवाह पुष्टि।

२—मर्यादा पुष्टि।

३—पुष्टि पुष्टि।

४—शुद्ध पुष्टि।

प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। मर्यादा पुष्टि के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना हृदय खींच लेता है और श्रीकृष्ण के गुणगान और कीर्तन द्वारा भक्ति की साधना करता है। इस प्रकार प्रवाह पुष्टि और मर्यादा पुष्टि, पुष्टि की निम्न श्रेणियां हैं, जिसमें भक्त भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। पुष्टि पुष्टि में भगवान के प्रति प्रेम करने का भक्त को व्यसन सा हो जाता है। वह श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है किन्तु साधना बनी रहती है और इस प्रकार भक्त और भगवान दोनों क्रियाशील रहते हैं। सब से ऊँची श्रेणी की पुष्टि शुद्ध पुष्टि है जो वल्लभाचार्य और उनके सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य थी। इसमें भक्त अपने भगवान पर पूर्णतः आश्रित रहता है। वह भगवान का कृपापात्र बनकर अनुग्रह प्राप्त करता है, उसके गुण-गीत गाता

और मस्त रहता है। इस अनुग्रह के प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओं से अपनः तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीला-भूमि बन जाता है। गोप, गोपी, कदम्ब और राधा-कृष्ण उसके आराध्य ही नहीं वरन् अत्यन्त निकट की वस्तुएँ हो जाती हैं। वह वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, आमनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, और अन्त में परम विरहासक्ति को प्राप्त होता है। शरीर छोड़ने पर वह गोलोक में निवास करता है और इस प्रकार उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

सांसारिक दुःख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध कराने के लिए वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि की व्यवस्था की है। इस सेवा के दो भेद हैं—क्रियात्मक और दूसरा भावात्मक। क्रियात्मक सेवा शरीर और द्रव्य से होती है, जिससे जीव की अहंता-ममता नष्ट होकर भक्ति की दृढ़ता होती है। भावात्मक सेवा मानसी है। इसकी सिद्धि भी क्रियात्मक सेवा द्वारा एकादश इन्द्रियों और मन के विनियोग होने के अनन्तर ही हो सकती है। इस प्रकार पुष्टि मार्गीय सेवा में क्रियात्मक सेवा पर अधिक जोर दिया है। यही कारण है कि वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता है। इनके नाम क्रम से ये हैं—

(१) मंगल (२) शृङ्गार (३) ग्वाल (४) राजभोग (५) उत्थान (६) भोग (७) संध्या आरती (८) शयन।

इन आठ नैमित्तिक कर्मों द्वारा प्रातःकाल से सायंकाल तक श्रीकृष्ण की भक्ति में मन लगा रहता है। वर्षोत्सव की सेवा-विधि में श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सव, षट् ऋतुओं के उत्सव, लोक-व्यवहार और वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं।

कृष्ण काव्यधारा

राम-काव्य की तरह कृष्ण-काव्य की परम्परा भी चली आती थी। राम में देवत्व की स्थापना कृष्ण में उसी तरह की भावना की स्थापना के साथ ही हुई थी। परन्तु कृष्ण चरित शीघ्र लोकप्रिय हो गया। श्रीमद्भागवत की

रचना ने कृष्ण-भक्ति को एक ऐसा आकर्षक रूप दिया कि शीघ्र ही इसके साहित्य की परम्परा चल पड़ी। हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ विद्यापति से माना गया है, किन्तु विद्यापति पर 'गीतगोविन्द' के रचयिता महाकवि जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से मानना चाहिये। कृष्ण-भक्ति शाखा का विकास प्रायः मुक्तक के ही रूप में हुआ है। विद्यापति का सम्पूर्ण काव्य गीत-काव्य है। विद्यापति शैव थे, अतः उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे अवश्य ही भक्ति से ओत-प्रोत हैं। किन्तु कृष्ण और राधा सम्बन्धी उनके जो पद मिलते हैं उनमें वासना का ही वर्णन है। इस क्षेत्र में जयदेव के शृङ्गार ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत प्रखर है। राधा-कृष्ण को साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में लिया गया है, कृष्ण की सख्य भाव में उपासना की गई और राधा का जो प्रेम-वर्णित है वह भौतिक और वासनामय है। इनकी पदावली की भाषा मैथिली है। महाप्रभु चैतन्य द्वारा विद्यापति का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य धारा के मुख्य अधिष्ठाता सूर हैं। कृष्ण-काव्य में लीला गान की जो परम्परा है उसमें कवियों के हृदय की सरसता एवं प्रेम उमड़ा पड़ता है। यह कृष्ण की लीलाओं का विषय ही कुछ ऐसा है। इसीलिए राम के अनन्य भक्त तुलसी ने भी कृष्ण की मधुर लीला गान करने का लोभ संवरण नहीं किया और कृष्ण-गीतावली में कृष्ण की बाल-लीला के सुन्दर स्वरूपों को अपने हृदय के प्रेमरस एवं कवित्व रस में ढालकर प्रस्तुत किया। तुलसी की कृष्ण-विषयक कविता कृष्ण-लीला की लोकप्रियता एवं हृदयाकर्षक माधुर्य की प्रतीक है। कृष्ण मधुरिम-साम्राज्य हैं।

ब्रजभाषा में कृष्ण काव्य की रचना का समस्त श्रेय वल्लभाचार्य को है, जिनके द्वारा प्रचारित पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-साहित्य की रचना की। पुष्टि मार्ग के प्रभाव में आकर अनेक भक्त कवि भगवान की लीला गाने में मस्त हो गये। वे प्रतिदिन गोवर्धन में श्रीनाथजी के मन्दिर में कृष्ण जी के नैमित्तिक कर्मों पर मधुर पद बनाकर

राधा-कृष्ण के चरित्र का गान करते थे। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन कवियों में से सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की स्थापना की।

हिन्दी साहित्य में काव्य सौन्दर्य का अथाह सागर भरने वाले महाकवि सूरदास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख थे। सूरदास के काव्य के दो पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं, भक्ति पक्ष और काव्य पक्ष। सूर काव्य का विषय गोपाल कृष्ण की व्रजलीला है। इस लीला के अतिरिक्त अन्य अवतारों आदि का जो वर्णन हुआ है उसमें भक्त सूरदास के दर्शन नहीं होते न उनके कवि हृदय की ही झलक मिलती है। सूरदास के विनय के पद यद्यपि उनके हृदय की भक्ति-भावना को व्यक्त करते हैं तथापि उनमें काव्य सौन्दर्य का अभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के कृष्ण-लीला के सम्बन्ध में जो पद हैं उनमें सूर के भक्त और कवि हृदय की सुन्दर झाँकी मिलती है।

सूर साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका विषय अलौकिक होते हुए भी वह इतना सामान्य है कि साधारण बुद्धि और हृदय वाला व्यक्ति भी उससे सहज में आनन्द पा सकता है। सूर के समस्त चित्र मानवीय और सामान्य हैं। यशोदा माँ, नन्द पिता, कृष्ण पुत्र, सखा और विलास-प्रिय प्रेमी हैं। गोपियाँ अनन्य प्रेम की अधिकारिणी प्रेमिकाएँ हैं। राधा चंचल, अल्हड़ किशोरी, विलास-चतुरा नायिका है, प्रोषितपतिका है और अन्त में सामान्य भार्या है जो अपने पति से अनन्य रूप से प्रेम करती है। अपने चरित्रों की इसी सामान्यता के कारण सूर-साहित्य प्रत्येक मनुष्य के हृदय को छूता है। वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भक्ति और पूजा की प्रतिष्ठा करके धार्मिक साहित्य के लिए एक नए प्रसंग की सृष्टि की थी। भगवान कृष्ण की बाल लीलाओं का जितना स्वाभाविक और सरस वर्णन सूर अपनी बन्द आँखों से कर सके उतना हिन्दी का कोई अन्य कवि न कर सका। सूरदास का वात्सल्य रस का वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। सूर का शृङ्गार वर्णन भी केवल कवि परम्परा का पालन-मात्र न होकर जीवन की सजीवता व पूर्णता की अभिव्यक्ति करता है। गोपियों का विरह वर्णन तो अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। उसमें गोपियों के सरल हृदय के प्रेमजनित विरहोद्गारों का बड़ा स्वाभाविक और

रोचक ढंग से वर्णन हुआ है। सूर का भ्रमर-गीत वियोग शृङ्गार का ही उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं है वरन् उसमें सगुण और निर्गुण का भी काव्यमय विवेचन है। सूर ने साहित्यिक व्रजभाषा में अपने काव्य का सृजन किया है। आपका व्रजभाषा में काव्य का प्रयोग अपना विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने एक इतः पूर्व काव्य में अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर एवं आकर्षक बना दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की कविता का सारा राग-विराग, प्रेम प्रतीत, भजन भाव इसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ। सूर ने गीत पदों में हृदयस्थ भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना की है। इसी कारण उनके गीत अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के शेष सात सत्कवियों में **कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास, और नन्ददास**, सम्मिलित थे। इनमें सभी सुकवि थे, किन्तु सूरदास और नन्ददास विशिष्ट थे।

कुम्भनदास—का 'संतन कहा सीकरी सों काम' उनकी संसार से विरक्ति का द्योतक है। वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति पर इनकी फुटकल कवितायें मिलती हैं। भक्त कवि होने के साथ ही ये उच्चकोटि के गायक थे। इनकी कविता बड़ी भावमयी और रसभरी है।

परमानन्ददास—सूर के बाद कृष्ण-भक्त कवियों में इनका ही वात्सल्य रस का सुन्दर और सजीव निरूपण हुआ है। प्रेम का वर्णन भी आपका बड़ा सुन्दर हुआ है। ये तन्मयता और भक्ति की विह्वलता में बड़े ही सरस और भावपूर्ण पद गाया करते थे।

कृष्णदास—इनकी कविता, सूरदास और नन्ददास को छोड़कर 'अष्टछाप' में सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। इन्होंने श्री राधाकृष्ण के विशुद्ध शृङ्गार का गेय पदों द्वारा बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है।

नन्ददास—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद इन्हीं का वैशिष्ट्य है। इनके दो ग्रन्थ 'रास पंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य में भक्ति भावना की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। काव्य-कला की

दृष्टि से इनका महत्त्व इस उक्ति से सिद्ध हो जाता है—"और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।"

छीतस्वामी—आपके गीत पद सरस और प्रेमानुभूति मिश्रित हैं। इनकी विशेषता ब्रज-भूमि के प्रति आसक्ति की अभिव्यक्ति है।

गोविन्दस्वामी—आप भक्त कवि होने के साथ उच्चकोटि के गायक थे। अतएव आपके पदों में संगीत का विशेष प्रवाह है।

चतुर्भुजदास—कुम्भनदास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनके भक्ति और शृङ्गार के पद बड़े सुन्दर हैं। भाषा सरल तथा सुव्यवस्थित है।

अष्टछाप के कवियों का विस्तार से वर्णन हम आगे करेंगे। बल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त चार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के कृष्णभक्त कवि अधिक प्रसिद्ध हैं। ये चार सम्प्रदाय इस प्रकार हैं—

१—राधा-बल्लभीय सम्प्रदाय।

२—गौड़ीय सम्प्रदाय।

३—टट्टी सम्प्रदाय।

४—निम्बार्क सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों ने बड़े-बड़े रसिक और भावुक कवियों को जन्म दिया है। उनमें से हम कुछ प्रमुख कवियों का विवेचन आगे करेंगे।

मीराबाई—उक्त सम्प्रदायों का विवेचन करने के पूर्व हम हिन्दी की कृष्ण-भक्ति धारा की प्रसिद्ध भक्त-कवि मीराबाई के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लें। कर्नल टॉड के अनुसार ये महाराणा कुम्भा की स्त्री थीं किन्तु प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता गौरीशंकर हीरानन्द ओझा को यह बात इतिहास सम्मत नहीं जान पड़ती। इनके पदों में 'मेड़तणी' शब्द के प्रयोग से भी इनका समय महाराणा कुम्भा के उपरान्त ठहरता है। उनके पदों में रैदास का गुरु के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु इन पदों को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः, जैसा प्रसिद्ध है, मीराबाई ने सगुणोपासक जीव गोस्वामी से दीक्षा ली थी।

मीरा के गीतों का कृष्ण-भक्ति काव्य में विशेष स्थान है। इन्होंने कृष्ण-लीलाओं का क्रमानुसार विस्तृत वर्णन नहीं किया है अपितु दीनता से अपने हृदय की समस्त भावनाओं को अपूर्व भक्ति-सूत्र में पिरोकर विरह-पुष्प संयुत वरमाल को गिरधरलाल के कण्ठ में सुशोभित किया है। उन्होंने माधुर्य भाव मे अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित किया और स्वयं कृष्ण की विरहिणी बनकर अपने आराध्य कृष्ण से प्रणय-भिक्षा मांगी है। विरह की गम्भीरता से मीरा के गीति-काव्य की उत्कृष्टता नापी जा सकती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मीराबाई के कवित्व को इन शब्दों में सराहा है—"मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्म-समर्पण का भाव है। इसके माधुर्य ने हिन्दी-भाषी क्षेत्र के बाहर के भी सहृदयों को आकृष्ट और प्रभावित किया है। माधुर्यभाव के अन्यान्य भक्त-कवियों की भांति मीरा का प्रेम निवेदन और विरह व्याकुलता अभिमानाश्रित और अध्यंतरित नहीं है बल्कि सहज और साक्षात् सम्बन्धित है। इसलिए इनके पदों में जिस तेजी की अनुभूति प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह सहृदय को स्पंदित और चालित करती है और अपने रंग में रंग डालती है।" मीरा के कुछ पद राजस्थानी में हैं और कुछ शुद्ध ब्रजभाषा में। जो पद इन्होंने लिखे हैं वे तन्मयता से भरे हुए हैं। इनकी 'पीर' में निजीपन होने के कारण तीव्रानुभूति का परिचय मिलता है।

गोस्वामी हितहरिवंश—(जन्म सं० १५३०) ये राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने कृष्ण से अधिक राधा को महत्त्व दिया है। नाभादास जी ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—

> श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकत कोउ जानि है।
> श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
> कुंज केलि दम्पटी तहाँ की करत खवासी।
> सरवस महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
> विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।
> श्री व्यास सुवन पथ अनुसरं सोई भले पहिचानि हैं।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय की आचारपद्धति का इस छप्पय में उल्लेख हुआ है। मुख्य बातें ये हैं—(१) राधाजी के चरणों का महत्त्व एवं प्राधान्य (२) कुंज के लिए दम्पति की खवासी अर्थात् सखी भाव (३) महाप्रसाद सर्वस्व है (४) विधि निषेध का त्याग (५) अनन्य दास्य भाव।

हितहरिवंश जी बड़े उच्चकोटि के कवि थे। इन्होंने आध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार राधाकृष्ण का विशुद्ध शृङ्गार वर्णन किया है। आपकी रचना बड़ी सरस है।

गदाधर भट्ट—इनका सम्बन्ध गौड़ीया सम्प्रदाय से था। गौड़ीया सम्प्रदाय का प्रवर्तन महाप्रभु चैतन्य ने किया था। भट्ट जी महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। भक्तमाल में इनका परिचय दिया हुआ है। उसमें यह स्पष्ट वर्णित है—

> भागवत सुधा बरसै बदन, काहु को नाहिन दुखद।
> गुण निकर गदाधर, भट्ट अति सबहि न को लागै सुखद।

इनका रचनाकाल संवत् १८५० से माना है। यह संस्कृत के महान् पंडित थे, फिर भी ब्रजभाषा में बड़ी सरस कविता करते थे। इनकी भाषा में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य और परिमार्जित, सुन्दर, सरस तथा सारगर्भित भाषा का प्रयोग हुआ है। इनके पदों में साहित्यिक सौष्ठव के साथ अनुराग, भक्ति और त्याग की मात्रा अधिक है। तुलसीदास के समान इन्होंने भी संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृतगर्भित भाषा-कविता की भी रचना की है।

स्वामी हरिदास—इन्होंने निम्बार्कमतान्तर्गत टट्टी सम्प्रदाय की स्थापना की थी। यह गायन विद्या में बड़े प्रवीण थे। ये प्रसिद्ध गायक 'बैजू बावरे' के गुरु माने जाते हैं। इनका गाना सुनने के लिए अकबर और तानसेन भी आया करते थे। इसीलिए इनकी कविता में संगीत का चमत्कार अधिक है। इनके द्वारा सखि सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ। आज भी निधियन में इनके मन्दिर पर सखि सम्प्रदाय के उत्सव होते हैं। इनका कविताकाल सन् १६०० से १६१० ठहरता है। इनके पदों के तीन-चार संग्रह मिलते हैं, कोई विशिष्ट ग्रन्थ नहीं है।

श्री भट्ट—ये निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे। निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान केशव काश्मीरी जी से इन्होंने दीक्षा ली थी। इनका काल सम्वत् १६१५-१६२५ तक माना जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में परमप्रभु की वैधी भक्ति की स्थापना हुई। इस सम्प्रदाय में भगवान पुरुषोत्तम रूप (श्री सर्वेश्वर) की उपासना प्रचलित थी; रसरूप की नहीं। किन्तु श्री भट्ट जी चैतन्य आदि महापुरुषों से प्रभावित होकर कृष्ण जी की रसरूप-उपासना की ओर आकृष्ट हुए और 'युगल शतक'; 'आदि बानी' नामक पुस्तक में उत्कृष्ट मधुर रस की धारा प्रवाहित की। इनकी कविता में तन्मयता का भाव विशेष है। ऐसा कहा जाता है कि ये जब तन्मय होकर पद गाते थे तब कभी-कभी इन्हें 'स्याम' की झलक प्रत्यक्ष मिल जाती थी।

उपरोक्त चारों सम्प्रदायों के प्रमुख कवियों का संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् अब हम अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का उल्लेख करेंगे।

सूरदास मदनमोहन—(अकबर के समकालीन) इन्होंने बड़े सरस पदों की रचना की है। ये गौड़ीय सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनकी बहुत सी कवितायें सूरदास की कविताओं में ऐसी घुल-मिल गई हैं कि पृथक नहीं की जा सकतीं। इनके कुछ फुटकल पद मिलते हैं।

हरिराम व्यास—ये राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश के शिष्य थे। इनकी राधा विषयक कविता बड़ी मनोहारी है। ये कृष्ण की रासलीला के बड़े प्रेमी थे और इन्हीं लीलाओं के पद बनाकर सुनाया करते थे। ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति-विषयक इनके बहुत से पद और साखियां प्राप्त हुई हैं। इनकी 'रास-पंचाध्यायी' को लोगों ने भूल से सूरसागर में मिला दिया है। ये संस्कृत के अच्छे पण्डित थे।

ध्रुवदास—ये स्वप्न में हितहरिवंशजी के शिष्य बने। इनकी प्रेमाभक्ति विषयक रचना विविध छन्दों में प्राप्त होती है। ये प्रेम लतिका के रसिक थे। इनके बनाए ४० ग्रन्थ बताए जाते हैं। इन्होंने नाभाजी के भक्तमाल के अनुकरण पर 'भक्तनामावली' नाम की महत्त्वपूर्ण रचना लिखी। इनका काव्य रचनाकाल १७ वीं शताब्दी है।

नरोत्तमदास—(सन् १५४५ ई०) 'सुदामाचरित्र' के प्रसिद्ध कवि नरोत्तमदास अपनी सरस एवं प्रेम-व्यंग्योक्तिप्रधान रचना के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। ये ब्रजभाषा के बड़े लोकप्रिय कवि हैं।

अन्य शृङ्गारकालीन कृष्णोपासक कवियों में नागरीदास, अलबेली अलिजी, बाबा हितवृन्दावनदास, भगवत् रसिक, ललितकिशोरी, सहचरिशरण इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ कुछ अकबर के दरबार के एवं मुसलमान कृष्ण भक्त कवियों का उल्लेख भी आवश्यक है। अकबर दरबारी के कवियों में रहीम, गंग, बीरबल, टोडरमल इत्यादि मुख्य हैं। रसखान का नाम कृष्ण-भक्त कवियों में विशिष्ट है। इनकी दो रचनायें 'सुजान रसखान' और 'प्रेम-वाटिका' प्राप्त हुई हैं जिनमें भक्त के हृदय की भावुकता, प्रेमाभक्ति की अनन्यता एवं आत्म समर्पण, अखण्ड विश्वास और अपूर्व निष्ठा के दर्शन होते हैं। स्त्री कृष्ण-भक्त कवयित्रियों में मीरा के अतिरिक्त प्रवीणराय, कुंवरिबाई, साईं, रसिकबिहारी, प्रतापकुंवरि, सुन्दरिकुंवरि, रत्नकुंवरि, प्रभृति ने भी कृष्ण भक्ति विषयक कुछ काव्य की रचना की है। मुसलमान महिलाओं में 'ताज' और 'शेख' नाम की महिलाओं की कृष्ण विषयक कविता बड़ी सरस और भावपूर्ण है। निर्गुण सन्तमत की उपासिका दयाबाई और सहजोबाई के कृष्ण-भक्ति विषयक पद भक्तिपूर्ण हृदयों के स्वच्छ उद्‌गार हैं।

शृङ्गारकाल की रीतिमुक्त धारा के महान् कवि आनन्दघन का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। ये उन्मत्त प्रेम के कवि हैं। ये प्रेम के महान् कवि हैं। इनकी रचनाओं में श्रीकृष्ण के लिए 'सुजान' शब्द रखा गया है। प्रेम के उलाहनों की, व्यंग्योक्तियों की तथा तन्मयता की इनकी कविता में बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इनका विशद परिचय शृङ्गारकाल की रीतिमुक्त धारा में देंगे। यों तो शृङ्गारकाल में कृष्ण विषयक कविता बहुत हुई है किन्तु भक्तिकाल की कृष्ण-विषयक कविता में उससे मौलिक अन्तर है। दोनों की प्रेरणा भिन्न है। अतः उनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है। आधुनिक काल में भी कृष्ण-भक्ति विषयक कुछ रचनायें हुई हैं। किन्तु उनकी प्रेरणा का स्वरूप भिन्न है, अतः उनका भी हम यहाँ उल्लेख नहीं करेंगे।

कृष्णकाव्य की परम्परा का अध्ययन करने के पश्चात् हम इसके गुण-दोष का भी संक्षेप में विवेचन करेंगे। यह साहित्य प्रेमाभक्ति का साहित्य है जिसमें सूखे तत्ववाद एवं वेदान्त का घोर विरोध मिलता है। प्रायः आज भी राधा के उपासक भक्तों में और वेदान्तियों में झड़प हो जाती है। ये प्रेमाभक्ति के उपासक एकान्तिक एवं लोक-जीवन से पृथक भक्ति को लेकर चलते हैं। 'कृपालु' जैसे राधा के भक्त आज भी समाज में राधा-राधा की रट लगाकर कुमारियों के साथ विचरते हैं और कृष्ण की प्रेमाभक्ति की पुकार लगाते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कृष्णभक्ति साहित्य का सबसे बड़ा गुण इसके प्रेमतत्व निरूपण को बताया है जिसमें शुष्कतत्ववादी एवं प्रेमहीन कथनी नहीं है। यह साहित्य, द्विवेदीजी के शब्दों में—"मनुष्य की सरसता उद्बुद्ध करता है, उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिद्ध बनाता रहता है।" किन्तु इस प्रेम-साधना में एकान्तिकता है जो "भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान के अनन्यगामी प्रेम की शरण में ले जाती है। यही उसका दोष है, क्योंकि जीवन केवल प्रेमनिष्ठा तक ही सीमित नहीं, यह केवल उसका एक पक्ष है।"[१] इस प्रकार माधुर्य भाव का अतिक्रमण ही कृष्णभक्ति-काव्य का दोष है।

यहाँ कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदायों का उल्लेख भी अनुपयुक्त न होगा। कृष्ण भक्ति के मुख्य सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—

१—**दत्तात्रेय सम्प्रदाय**—दत्तात्रेय इस मत के प्रवर्तक हैं तथा कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। गीता ही इस मत की धर्म पुस्तक है। इसका प्रचार महाराष्ट्र में अधिक हुआ।

२—**माधव सम्प्रदाय**—ये मध्वाचार्य की परम्परा में चला। इनकी धार्मिक पुस्तक 'भक्ति रत्नावली' है। संकीर्तन एवं नगर कीर्तन इस सम्प्रदाय में भक्ति के मुख्य साधन माने गए हैं।

३—**विष्णु स्वामी सम्प्रदाय**—इस मत का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत है। आगे जाकर वल्लभाचार्य के प्रभाव से यह सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग में मिल गया।

१—हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २१४

४—निम्बार्क सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय का विशेष इतिहास ज्ञात नहीं है। केशव काश्मीरी, श्री भट्ट और हरिव्यास इस सम्प्रदाय के प्रमुख भक्त कवि हुए हैं। इनमें चैतन्य का संकीर्तन भाव भी मिलता है। ये द्वैताद्वैत मत के मानने वाले हैं।

५—चैतन्य अथवा गौड़ीय सम्प्रदाय—चैतन्य सम्प्रदाय में जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के पदों का विशेष महत्त्व है। चैतन्य महाप्रभु की कीर्तन-तन्मयता प्रसिद्ध है। गदाधर भट्ट इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। इस सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत मत मान्य है।

६—बल्लभ का पुष्टि मार्ग—इसमें कृष्ण के अनुग्रह-स्वरूप का महत्त्व है और भक्ति का नाम पुष्टि है। ये विष्णु स्वामी के शुद्धाद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं। इस सम्प्रदाय के आठ प्रसिद्ध कवि अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रजभाषा और कृष्ण काव्य के सर्वोत्तम महाकवि सूरदास इसी मत के मानने वाले थे।

७—राधाबल्लभी सम्प्रदाय—इसके प्रवर्तक हितहरिवंश थे। इन्होंने कृष्ण से अधिक राधा को महत्त्व दिया। इस मत में विधि निषेध का त्याग और अनन्य दास्य-भाव मिलता है। इस मत में राधा का सर्वश्रेष्ठ स्थान माना गया है।

८—हरिदासी टट्टी सम्प्रदाय—इसके प्रवर्तक प्रसिद्ध गायनाचार्य स्वामी हरिदास हैं। इस मत में बहुत से चैतन्यमत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। टट्टी संस्थान की परम्परा में ही सहचरिशरणजी नाम के भक्त कवि हुए हैं। आगे चलकर इसी सम्प्रदाय में सखी भाव की उपासना का महत्त्व बढ़ा और इस सम्प्रदाय के दीक्षित भक्त स्त्रियों की भाँति तीन दिन अलग भी बैठने लगे। इन लोगों ने स्त्री को आत्म-समर्पण का प्रत्यक्ष विग्रह मानकर ही सखिभाव की उपासना को महत्त्व दिया।

हिन्दी-कृष्ण काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

कृष्ण-काव्य धारा का विकास देखने के उपरान्त अब हम इस धारा की मुख्य प्रवृत्तियों का संक्षेप में वर्णन करेंगे। कृष्णकाव्य धारा की मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

१—कृष्ण-काव्य का प्रमुख विषय कृष्ण की लीलाओं का गान है। इन लीलाओं में कवियों का ध्यान मुख्यतः कृष्ण के बाल और किशोर जीवन की ओर ही गया है। वस्तुतः कृष्ण भक्ति-शाखा में वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति का प्राधान्य है। अतः इनके अनुरूप ही कृष्ण चरित्र का वर्णन कृष्ण-काव्य में मिलता है। वात्सल्य भाव के अन्तर्गत कृष्ण की बाल लीलाओं, चेष्टाओं एवं यशोदा माँ के हृदय की झाँकी मिलती है। सख्यभाव के अन्तर्गत कृष्ण और ग्वालों के जीवन की मनोरंजक घटनाएँ मिलती हैं और माधुर्य भाव के अंतर्गत गोपी-लीला प्रमुख है। गोपी-लीला के दोनों रूपों अर्थात् राग एवं वियोग की सुन्दर व्यंजना कृष्ण-काव्य के सौंदर्य को बढ़ा देती है। इसी माधुर्य भाव के अंतर्गत भ्रमरगीत की रचना का विशेष महत्त्व है। इसमें प्रेमात्मक व्यंग्योक्तियों का सुन्दर स्वरूप मिलता है। आगे चलकर इस माधुर्य भाव के अंतर्गत ही नायक-नायिका भेद एवं नखशिख वर्णन इत्यादि का विकास हुआ।

२—कृष्ण-काव्य की दूसरी विशेषता उसकी संगीतात्मकता की है। इसमें गीत-काव्य का सुन्दर विकास हुआ है। इसीलिए कृष्ण-काव्य में राग-रागिनियों का सुन्दर संयोजन है। सूरदास, मीरा, हितहरि वंश, हरिदास इत्यादि के पदों में संगीत की अपूर्व छटा है और आज भी संगीत के क्षेत्र में इन पदों का महत्त्व स्पष्ट है। वस्तुतः कृष्ण चरित्र ही कुछ ऐसा 'लिरिकल' है कि उसमें आप से आप संगीतात्मकता आ जाती है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने राधा को 'लिरिकल' (विशुद्ध गीतिकाव्यात्मक) पात्र कहा है। इस प्रकार विषय और पात्रों के अनुरूप मुक्तक शैली में कृष्ण-काव्य का विकास हुआ है।

३—कृष्ण-काव्य की तीसरी प्रमुख विशेषता मुक्तक शैली के छन्द-पद, दोहा, रोला, चौपाई, कवित्त, सवैया इत्यादि की है। इस काव्य में गीति-काव्य की बड़ी मनोहारिणी छटा है।। संगीतात्मकता के कारण कृष्ण-काव्य के पदों का सृजन विभिन्न राग-रागनियों पर मिलता है।

यहाँ यह भी स्मरण करना उपयुक्त होगा कि कृष्ण-काव्य का सृजन प्रायः मुक्तक शैली में हुआ है। कृष्ण-काव्य में एक प्रबन्ध-काव्य भी मिलता है। जिसकी रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई है। ग्रन्थ का नाम है 'ब्रज-विलास'। इसमें

कृष्ण की लीलाओं का क्रमिक वर्णन तुलसीदास की दोहा-चोपाई की प्रबन्ध-शैली में मिलता है। बाल-लीलाओं से लेकर द्वारिका तक का वर्णन मिलता है।

४—कृष्ण-काव्य की चौथी विशेषता इसकी भाषा की है। इसकी भाषा प्रायः ब्रजभाषा ही है। श्रीकृष्ण लीला के जिन अंशों (बाल एवं किशोर जीवन) को कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्य में चित्रित किया उनके लिए ब्रजभाषा जैसी मधुर और सरस भाषा की आवश्यकता थी। इसीलिए ब्रजभाषा कृष्ण-चरित्र के लिए पूर्णतया उपयुक्त सिद्ध हुई।

५—कृष्ण-काव्य की पाँचवी विशेषता इसके उत्कृष्ट प्रेम वर्णन की है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूरदास के प्रेम के स्वच्छ एवं मार्जित रूप का वर्णन बड़े मार्मिक शब्दों में किया है। सूर के वियोग-वर्णन की चर्चा करते हुए वे कहते हैं "मिलन के समय की मुखरा, लीलावती, चंचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती है। उद्धव के साथ अन्यान्य गोपियाँ काफी बकझक करती हैं पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आँखों को निरंतर बहते हुए देखा था। कपोल-देश वारि-धारा से आर्द्र था, मुख-मण्डल पीत हो गया था, आँखें धंस गई थीं.........प्रिय के वयस्य ने जब सन्देश माँगा तो वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं। प्रेम का वही रूप जिसने संयोग में कभी विरहांश का अनुमान नहीं किया, वियोग में इस मूर्ति को धारण कर सकता है।" सूरदास के अतिरिक्त अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भी प्रेम का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। वस्तुतः उसमें इन कवियों की आत्मानुभूति मिली हुई है इसलिए उसमें एक विशेष माधुर्य और मार्मिकता का मिश्रण हो गया है। मीरा की 'पीर' अद्भुत थी, उसका विरह दर्द कोई नहीं जानता। वह तो लोक-लाज खोकर प्रीति के आदर्श को निवाह रही थी। इस प्रकार कृष्ण-काव्य में आत्मसमर्पण के द्वारा अनन्यगामी प्रेम की सृष्टि हुई है। यह आत्मसमर्पण दास रूप में, वात्सल्य रूप में, सखा रूप में और कान्ता रूप में मिलता है। कान्ता रूप में एक मधुरिम-साम्राज्य की रचना हुई है जो कृष्ण-काव्य को एक ओर भक्तिकाल

का सर्वोत्कृष्ट काव्य बना देती है, दूसरी ओर परवर्ती काल में शृंगारी प्रवृत्तियों को जन्म देती है।

६—कृष्ण-काव्य में मुख्यतया चार भाव मिलते हैं—रति-भाव, भक्ति-भाव, वात्सल्य-भाव एवं निर्वेद। निर्वेदजन्य भाव की अभिव्यक्ति आत्मग्लानि एवं दैन्य की अभिव्यक्ति करने वाले पदों में हुई है। वात्सल्यरस के अधिष्ठाता महाकवि सूरदास हैं। भक्ति भावना के उज्ज्वल स्वरूप अर्थात् चिन्मुख प्रेम को भक्तों ने उज्ज्वलरस कहा है। यह उज्ज्वल रस कृष्ण-काव्य में अपने उत्कृष्ट रूप में मिलता है। कृष्ण-काव्य के परवर्ती साहित्य में शुद्ध रति भाव की प्रधानता भी मिलती है।

अष्टछाप

विक्रम की १६ वीं शताब्दी के मध्य में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वैष्णव-धर्म की एक विशिष्ट शाखा की स्थापना की थी। यह सम्प्रदाय 'पुष्टि संप्रदाय' के नाम से विख्यात है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनन्तर उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की सांगोपांग उन्नति की। विट्ठलनाथ जी के २५२ शिष्य मुख्य थे जिनका वृतान्त 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है। वल्लभाचार्य के भी ८४ शिष्य मुख्य थे, जिनका विवरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है।

पुष्टिमार्गी कवियों में से गोसाईं विट्ठलनाथ ने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यों की एक मण्डली बनाई। उस मण्डली के आठों भक्त अपने समय में पुष्टि संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ काव्यकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये आठों भक्त-कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहवास में एक दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन सेवा और वहीं रह कर भगवद्-भक्ति की पद रचना करते थे। पुष्टि सम्प्रदाय के अनेक शिष्यों में से उन आठों का निर्वाचन करके गोसाईं विट्ठलनाथ ने उन पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई थी। इस मौखिक तथा प्रशंसात्मक छाप के बाद ही ये महानुभाव 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१—सूरदास	महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य ।
२—कुंभनदास	” ” ”
३—परमानन्ददास	” ” ”
४—कृष्णदास	” ” ”
५—नंददास	गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य ।
६—गोविंद स्वामी	” ” ”
७—छीत स्वामी	” ” ”
८—चतुर्भुजदास	” ” ”

पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता है कि ये आठों भक्तजन श्रीनाथजी की नित्य लीला में अन्तरंग के रूप में सदैव उनके साथ रहते हैं। ये पुष्टि सम्प्रदाय में 'अष्टसखा' के नाम से विख्यात हैं। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता है, अतः इस सम्प्रदाय के कवि भगवान कृष्ण की नैमित्तिक लीलाओं पर पद-रचना किया करते थे, वही रचनायें अब हमें उपलब्ध होती हैं। अष्टछाप के कवि भी अपनी मनोहर पद-रचना द्वारा श्रीनाथजी की लीलाओं का गायन किया करते थे।

अष्टछाप के कवि उच्चकोटि के भक्त, कवि तथा गवैये थे। अपनी रचनाओं में प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवियों ने उपस्थित किए हैं, वे काव्य-कौशल की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों अनुभूतियों की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान् है। अब हम अष्टछाप के कवियों का पृथक-पृथक संक्षेप में परिचय देंगे।

सूरदास—अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं, बल्कि ब्रजभाषा के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। हिन्दी में कृष्ण काव्य के आरम्भ करने का श्रेय मैथिल कोकिल विद्यापति को है किन्तु उसका पूर्ण विकास सूरदास की कविता में ही दिखलायी देता है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। आपका जन्म संवत् १५५० के लगभग हुआ था। आपने वल्लभाचार्य के उपदेश से श्रीमद्भागवत की छाया पर ब्रजभाषा में 'सूरसागर' के नाम से एक विशद ग्रंथ का प्रणयन किया, जिसमें सवा लाख पद माने जाते हैं।

किन्तु अब तक केवल मात्र आठ हजार पद ही मिले हैं । सूरदास की सात रचनाएँ मिल जाती हैं—सूर-सारावली, साहित्य लहरी, सूरसागर, सूरसाठी, सूर पच्चीसी, सेवा-फल, सूरदास के विनय के पद । इनके अतिरिक्त सूरदास के रामकथा सम्बन्धी पदों का एक संग्रह हाल ही में गीता प्रेस से प्रकाशित हुआ है । सूरदास के उक्त ग्रन्थों में सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूर सागर बड़ी रचनाएँ हैं, शेष सब छोटे संग्रह-मात्र हैं । इन सब में सूरसागर ही प्रसिद्ध रचना है । 'सूर सारावली' में कवि ने वल्लभाचार्य का शिष्यतत्व ग्रहण करने और गोवर्धन में श्रीनाथजी के मन्दिर में रहकर सेवा करने का संकेत दिया है । साहित्य लहरी में अलंकारों और नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले कूट पद हैं । कुछ विद्वान आलोचक इसे सूर की रचना नहीं मानते[1]।

श्री हरिराय के भावप्रकाश तथा श्रीनाथ भट्ट की 'संस्कृतवार्ता मणिमाला' के अनुसार ये जन्मांध थे । भक्तमाल में भी इनके अन्धे होने भर का संकेत है, जो परम्परा से प्रसिद्ध है । हिन्दी साहित्य के विद्वान आलोचकों का मत है कि जन्मांध सूरदास मानव मन की वृत्तियों का इतना सुन्दर वर्णन नहीं कर सकते थे । उनके प्राकृतिक शोभा-वर्णन, बाल्य-मनोवृत्ति-वर्णन एवं सूक्ष्म-रूप-वर्णन को देखकर उन्हें जन्मांध नहीं कहा जा सकता है । वे अन्धे थे, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु जन्मांध नहीं । सूरदास के कुछ पदों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वे दीन-हीन एवं जन्मांध थे किन्तु उन पदों का अभिधामूलक अर्थ ही वांछनीय नहीं प्रतीत होता । भक्तमाल में सूरदास जी के सम्बन्ध में एक छप्पय मिलता है, इसमें उनकी साहित्यिक आलोचना की गई है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी ।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी ।।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी ।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी ।।
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै ।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै ।।

सूरदास की कविता ब्रजभाषा साहित्य का शृङ्गार है । उनका वात्सल्य, शृङ्गार, भक्ति और विनय का वर्णन आज भी अपनी तुलना नहीं रखता ।

वास्तव में सूरदास ने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया उसका वे कोना-कोना झांक आए हैं। सूरदास ने वात्सल्य और शृङ्गार का ऐसा अपूर्व और सांगोपांग वर्णन किया है कि पाठक उसमें तन्मय हो जाता है। भगवान कृष्ण की बाललीला तथा नन्द यशोदा की मानसिक वृत्तियों एवं चेष्टाओं का ऐसा स्वाभाविक वर्णन हुआ है कि हिन्दी साहित्य में वह बेजोड़ हो गया है। वात्सल्य रस के उदाहरण के लिए वह संसार भर के साहित्य में बेजोड़ हैं। संयोग और विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृङ्गार की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। गोपियों के विरह-वर्णन में वियोग की समस्त दशाओं का ऐसा मार्मिक वर्णन हुआ है कि जिसे पढ़कर पत्थर कलेजा भी पिघल जाता है। कला की दृष्टि से भी सूर का काव्य बड़ा उत्कृष्ट है। आपका सम्पूर्ण काव्य, वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में जो नैमित्तिक कर्मों की उपासना की विधि थी उन्हीं अवसरों पर नित्य नये पदों का जो सृजन उन्होंने किया, उसका संकलित रूप है।

श्री कुम्भनदास—महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य तथा उच्च-कोटि के भक्त-कवि और गायक थे। इनका जन्म संवत् १५२५ में हुआ था। आपका रचा हुआ कोई विशेष ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु कीर्तन संग्रहों में उनके स्फुट पद यथेष्ट संख्या में मिलते हैं। शुक्लजी ने इनकी काव्य-रचना के सम्बन्ध में लिखा है कि "इनका कोई ग्रंथ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला।" कुम्भनदास की आसक्ति निकुंज लीला में थी, अतः उनके काव्य में माधुर्य भक्ति सूचक दान-मान आदि के पद अधिक संख्या में मिलते हैं। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से उनकी कविता मध्य श्रेणी की है किन्तु उसमें माधुर्य भक्ति की प्रचुरता है। यह बड़े सरल, निर्लोभ, निरीह तथा सच्चे अर्थों में सन्त थे। अकबर ने इन्हें फतेहपुर सीकरी बुलाया था; ये वहाँ गए भी, किन्तु इन्हें राज-सम्मान कुछ रुचा नहीं। इन्होंने एक पद में भक्त के जीवन की महानता को दर्शाया है—

सन्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गए हरिनाम।

जिनको मुख देखें दुख उपजत तिनकों करन परो परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबे बेकाम।

परमानन्ददास—वल्लभाचार्य के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५५० में हुआ था। वात्सल्यरस का अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद इन्होंने सुन्दर और सरस वर्णन किया है। इनकी कविता बड़ी सरस होती थी। इनकी कविता को सुनकर आचार्य जी प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। इनका काव्य ग्रन्थ 'परमानन्द सागर' बहुत प्रसिद्ध है। इन पर हिन्दी साहित्य के शोधकों ने विशेष कार्य नहीं किया है। खोज होने पर अष्टछाप के कवियों में इनका महत्त्व स्पष्ट होगा। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इनके सम्बन्ध में लिखा है। "इनके पदों में भाषा का लालित्य दर्शनीय है।" इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य के जिन शिष्यों को अष्टछाप की मर्यादा मिली, उन सबमें विशिष्ट व्यक्तित्व दिखाई देता है।

कृष्णदास जी—का जन्म सं० १५५३ में हुआ था। आप वल्लभाचार्य के शिष्य थे। इनकी आसक्ति राम-लीला में थी। अतः इनके काव्य में प्रिया-प्रियतम के विहार विषयक पदों की अधिकता है। उन्होंने अतिशय शृङ्गार प्रधान पद प्रचुर संख्या में रचे हैं। इनके 'कृष्णदास जी का कीर्तन' और 'जुगलमान चरित्र' नामक पद संग्रह मिलते हैं। इनकी कविता बड़ी सरस और भावमयी है।

नन्ददास—गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में नन्ददास का स्थान प्रमुख है। अष्टछाप के कवियों में इनका स्थान सूरदास के बाद प्रमुख है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा, सरस कविता एवं कोमलकांत पदावली के कारण इनके काव्य का स्थान व्रजभाषा साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म सं० १५९० के लगभग माना जाता है। इनके ग्रन्थों की संख्या १६ है—रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त पंचाध्यायी, अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी, रूपमंजरी, रस मंजरी, विरह मंजरी, भ्रमरगीत, गोवर्द्धनलीला, श्याम सगाई, रुक्मिणीमंगल, सुदामा चरित, भाषा दशम स्कन्ध, पदावली, हितोपदेश और नासिकेत पुराण (गद्य में)। इनमें रासपंचाध्यायी एवं भ्रमरगीत का ही साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

'सिद्धान्त पंचाध्यायी' का भक्ति-सिद्धान्त के नियमों की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। अनेकार्थ मंजरी कोश ग्रन्थ है।

नन्ददास उच्चकोटि के भावुक कवि हैं। भ्रमरगीत में उद्धवगोपियों के संवाद द्वारा निर्गुण पर सगुण की विजय और योग एवं ज्ञानमार्ग पर प्रेम की विजय दिखलाई है तथा नाथ पंथ के योगमार्ग और कबीर आदि के ज्ञान मार्ग को दिखाकर वल्लभाचार्य की प्रेम भक्ति का महत्त्व स्थापित किया है। 'रासपंचाध्यायी' में इनकी कवित्व शक्ति का और विकास हुआ। उसमें कोमलकांत पदावली एवं श्रुतिमधुर भाषा शैली के कारण 'गीतगोविन्द' का सा पद-लालित्य मिलता है। नन्ददास के काव्य की दो विशेषताएँ हैं—भाषा की मधुरता और शब्दों की सजावट। इसीलिए इनके सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है—'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'

गोविन्दस्वामी—ये गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५६२ में हुआ था। इनके गाने की ऐसी ख्याति थी कि स्वयं तानसेन इनका गाना सुनने कभी-कभी आते थे। आप जैसे परम उच्चश्रेणी के गायक थे वैसी उच्च श्रेणी की आपकी कविता नहीं है। आपके श्रीनाथ जी के कीर्त्तन स्वरूप कुछ स्फुट पद ही मिलते हैं। काव्य का विषय राधा-कृष्ण की शृङ्गारात्मक लीलाएँ हैं। इनके रचे हुए कुछ बाल-लीला के पद भी प्रसिद्ध हैं।

छीतस्वामी—गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १५७३ में हुआ था। आपकी कविता बड़ी भक्तिपूर्ण है, जिसकी भाषा सीधी और सरल है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से आपकी कविता का महत्त्व नहीं है। आपने कीर्त्तन के केवल स्फुट पदों की रचना की थी।

महात्मा चतुर्भुजदास—गोसाईं विट्ठलनाथ के प्रिय शिष्य थे। आपका जन्म सं० १५८७ में हुआ था। आपने कीर्तन के स्फुट पदों की रचना की थी। आपकी कविता में भक्ति-भावना और शृङ्गार की अच्छी छटा दिखलाई देती है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह उत्तम रचना है। इन्होंने पदों में कृष्ण के जन्म से लेकर गोपी-विरह तक की ब्रजलीला का गायन किया है। इनकी तीन पुस्तकें द्वादशयश, भक्ति प्रताप, हितजू को मङ्गल तथा कुछ फुटकल-पद प्राप्त हुए हैं।

हिन्दी साहित्य में अष्टछाप का महत्त्व—हिन्दी साहित्य में अष्टछाप का महत्त्व उसके काव्य के कारण है, किन्तु पुष्टि सम्प्रदाय में उसके महत्त्व का अन्य कारण भी है। पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यता है कि अष्टछाप के आठों महानुभाव श्रीनाथजी के अन्तरंग सखा हैं जो उनकी नित्यलीला में सदैव उनके साथ रहते हैं। गिरिराज नित्य-निकुंज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठों सखा इन द्वारों के अधिकारी हैं। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुर-जी की सदैव सेवा करते हैं। लौकिक-लीला में वे भौतिक शरीर से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लौकिक-लीला की समाप्ति पर वे अपने भौतिक शरीर को त्याग कर अलौकिक रूप से नित्य-लीला में विराजमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त अष्टछाप का हिन्दी-काव्य में बहुत महत्त्व है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य की उन्नति मे भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने जिस समय अष्टछाप की स्थापना की थी, उस समय व्रजभाषा साहित्य का अधिक प्रचार नहीं था। किन्तु उनके आश्रय के कारण साम्प्रदायिक भक्तों में इसका व्यापक प्रचार हो गया, इसके अनुसरण पर वैष्णव धर्म के अन्य कई सम्प्रदायों ने भी व्रजभाषा काव्य को आश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घकाल तक व्रजभाषा साहित्य की अतिशय उन्नति होती रही। सच बात तो यह है कि अष्टछाप ने व्रजभाषा के पद्यात्मक भक्ति-साहित्य पर इतना व्यापक प्रभाव डाला है कि कई शताब्दियों के पश्चात् अब तक भी उनका महत्त्व अक्षुण्ण है। अष्टछाप के महानुभावों ने यद्यपि स्वयं व्रजभाषा गद्य में रचना नहीं की है, तथापि उनके प्रासंगिक चरित्र वार्ता रूप में व्रजभाषा गद्य में रचित होने से अन्ततः वे गद्य साहित्य के भी कारण हैं। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखान की वार्ता, जिनमें अष्टछाप के कवियों के जीवन वृत्तांत दिए हुए हैं, इत्यादि, व्रजभाषा के साहित्यिक गद्य की आरंभिक पुस्तकें हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुष्टि सम्प्रदाय के कारण व्रजभाषा गद्य की अत्यधिक उन्नति हुई थी। इस प्रकार पद्य और गद्य दोनों क्षेत्र में अष्टछाप का साहित्यिक महत्त्व बहुत अधिक है।

अष्टछाप की स्थापना का एक उद्देश्य पुष्टि संप्रदाय के मन्दिरों में ठाकुर-जी के नित्य और नैमत्तिक उत्सवों के लिये कीर्तन की उचित व्यवस्था करना

भी था। कीर्तन में भिन्न-भिन्न राग-रागनियों के पद ताल-स्वर से गाए जाते हैं, इसलिए कीर्तनकार को संगीत शास्त्रानुसार गान-वाद्य का यथोचित ज्ञान होना आवश्यक है। अष्टछाप के आठों महानुभाव कवि होने के अतिरिक्त गान और वाद्य के मर्मज्ञ और अपूर्व ज्ञाता थे। इसी कारण से अष्टछाप का कलात्मक महत्त्व इतना अधिक है कि शताब्दियों तक देश में सर्वोच्च श्रेणी के कलाकारों में उसकी रचनाओं का पूर्ण प्रभाव रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

संगीत कला के अतिरिक्त अष्टछाप पर अन्य कलाओं का भी प्रभाव है। सूरदास आदि के पदों में नाना प्रकार के व्यंजनों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ये पद ठाकुर जी के राजभोग, छप्पन भोग अथवा अन्नकूट आदि उत्सवों पर गाये जाते थे। इस प्रकार अष्टछाप का पाक-कला विषयक महत्त्व भी स्पष्ट है।

कृष्ण काव्य को सूरदास की देन

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, सूरदास अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं, वरन् ब्रजभाषा साहित्य के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। सूरदास उच्चकोटि के भक्त और कवि हैं। इनकी कविता ने ब्रजभाषा काव्य की गणना विश्व साहित्य में कराई है। सूर के कविता-काल को सौरकाल कहा जाता है। इस काल की गणना सं० १५०३ से १५७२ तक है। यह ब्रजभाषा का [काल हिन्दी का परम समृद्धि युग था। हिन्दी में कृष्ण-काव्य के आरम्भ करने का श्रेय मैथिल कोकिल विद्यापति को है, किन्तु उसका पूर्ण विकास सूरदास की कविता में दिखलाई पड़ता है। सूरदास के बाद ही कृष्ण-काव्य का इतना अधिक प्रचार हुआ कि कई शताब्दियों तक अगणित कवियों की उच्चकोटि की रचनाएँ इसी विषय पर बनती रहीं। निदान, हम कह सकते हैं कि कृष्ण-काव्य परम्परा के कवियों में सूरदास का प्रमुख स्थान है। आपने कृष्ण-काव्य को पूर्ण समृद्धि प्रदान की और उसे उसकी चरमोन्नति के शिखर तक पहुँचाया।

सूरदास के सूरसागर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख

पदों का संग्रह है, पर अब तक उसके लगभग छः सात हजार पद ही प्राप्त हुए हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रेरणा से आपने श्रीमद्भागवत् के आधार पर श्रीकृष्ण-लीला का विशद वर्णन किया। सूरसागर में भागवत् के दशम् स्कन्ध के विषय का प्राधान्य है। दशम् स्कन्ध के पूर्वार्ध में गोकुल और ब्रज में विहार करने वाले कृष्ण का चरित्र है और उत्तरार्ध में कृष्ण के द्वारिका गमन से लेकर उनकी मृत्यु तक की कथा का वर्णन है। सूरदास के आराध्य बालकृष्ण ही थे, अतः उन्होंने श्रीकृष्ण के पूर्वार्ध जीवन पर ही विशेष प्रकाश डाला। भागवत् का आधार लेते हुए भी सूरदास ने कृष्ण के जीवन का चित्रण नितान्त मौलिक रूप से किया है। भागवत् के कृष्ण शक्ति के प्रतीक हैं और सूर के कृष्ण इस गुण से समन्वित होते हुए भी प्रेम और माधुर्य की प्रतिमूर्ति हैं। इस प्रेम और माधुर्य की व्यंजना बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव हुई है। सूरदास ने कृष्ण के प्रेमपूर्ण जीवन में जो मौलिकता रक्खी है उसमें निम्नलिखित अङ्गों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

(अ) मनोवैज्ञानिक चित्रण—बाल-जीवन की प्रत्येक भावना का जो सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण सूर ने किया वह उनकी मौलिकता का द्योतक है। उन्होंने बाल-जीवन की विविध मानसिक अवस्थाओं के बड़े ही सुन्दर चित्र खींचे हैं। कृष्ण का जन्म, उनका घुटुअन चलना, मक्खन खाना, सोना, खेलना, खेल में झगड़ना, तुतलाकर बात करना, अपने आप नाचना, आदि जितने बाल मनोभावों का चित्र सूर ने खींचा है वह अपूर्व है। उन्होंने बालक कृष्ण और माँ यशोदा के हृदय की भावनाओं का सार्वभौमिक चित्रण किया है।

(आ) लौकिक आचार—कृष्ण के जन्मोत्सव, छठी, नामकरण, बंधवा आदि लौकिक आचारों का ग्राम्य वातावरण के मध्य में बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन सूर की विशेषता है।

(इ) साम्प्रदायिक विचार—वल्लभाचार्य द्वारा चलाए पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने के कारण सूरदास ने कृष्ण की नैमित्तिक क्रियाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पुष्टि मार्ग के लोग कृष्ण की नैमित्तिक क्रियाओं पर पद-रचना किया करते थे। नैमित्तिक कर्म आठ हैं—

१—मंगल । २—शृङ्गार । ३—गोचारण । ४—राजभोग । ५—उत्थापन । ६—भोग । ७—सन्ध्या आरती । ८—शयन ।

(६) साहित्यिक परम्परा—सूरदास के पूर्व जयदेव और विद्यापति कृष्ण का वर्णन कर चुके थे, किन्तु उनके कृष्ण शृङ्गार-रस के आलम्बन हैं। इस साहित्यिक परम्परा में सूर ने अपना मौलिक योग दिया। सूर ने कृष्ण को शृङ्गार रस के अतिरिक्त वात्सल्य रस का आलम्बन भी बनाया। शृङ्गार के वर्णन में भी उन्होंने धार्मिक भावना का समन्वय करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया। विप्रलंभ शृङ्गार के चित्रण में भ्रमर गीत की कल्पना करके सूर ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। यद्यपि कृष्ण की बाल लीला, भ्रमर-गीत आदि का वर्णन भागवत में भी है, किन्तु उनमें सौन्दर्य भरकर सूर ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। उन्होंने श्रीकृष्ण की मुरली का योग-माया के रूप में वर्णन किया है। रात में उस मुरली ध्वनि से गोपिका रूपी आत्माओं का आह्वान तथा रास होता है। गोपियों के साथ रास उसी प्रकार है जिस प्रकार असंख्य आत्माओं के बीच परमात्मा। सूर के लौकिक चित्रणों में इसी अलौकिक भावना का समावेश किया है।

सूर ने ब्रजभाषा साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया। सूरदास की चलाई हुई परम्परा के आधार पर कृष्ण-काव्य का इतना व्यापक प्रचार हुआ कि कई शताब्दियों तक अगणित कवियों की उच्चकोटि की कविताएँ इस विषय पर बनती रहीं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूरदास की कवित्व शक्ति का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है—"सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता, कि कवि जानबूझकर अलङ्कारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइये, केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षण और व्यंजना

का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ।"

भाषा की दृष्टि से भी सूर अपनी विशेषता रखते हैं। उन्होंने काव्य में इतः पूर्व अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर और आकर्षक रूप दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की कविता का सारा राग-विराग, प्रेम-प्रतीति, भजन भाव उसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ। सूरदास का गीतकाव्य भी अपनी एक अलग विशेषता रखता है। जो पद निर्गुण उपासना को वहन करते आ रहे थे उनको सूर ने सगुण रस से सरस बना दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिन्दी-साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य को सुसज्जित किया वरन् कृष्ण काव्य की विशिष्ट परम्परा को भी जन्म दिया।

कृष्ण काव्य की शृंगार में परिणति

जिस प्रकार भक्तिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का आधार लेकर उसे अपनी निगूढ़तम भक्ति-भावना का व्यंजन बनाया था उसी प्रकार शृङ्गारकाल के कवि उसे ऐसा सुन्दर तथा पवित्र रूप न दे सके। उनसे राधा-कृष्ण के मधुरतम व्यक्तित्व में निहित सूक्ष्म भक्ति-भावना का निर्वाह न हो सका। शृंगारकाल के कवियों ने राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीलाओं को स्थूल रूप में ग्रहण किया, जिसके परिणामस्वरूप राधा और कृष्ण जो अलौकिक प्रेम के साक्षात् मूर्ति समझे जाते थे, साधारण लौकिक प्रेम-प्रेमिका के रूप में प्रदर्शित किये जाने लगे। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जिस भक्ति में प्रेम की प्रधानता होती है तथा श्रद्धा अथवा पूज्य बुद्धि का अभाव होता है वह वासना में परिणत हो जाती है। कृष्ण-भक्ति धारा का भी यही हाल हुआ। आचार्य शुक्लजी ने ठीक ही कहा है, "भक्ति' इन्द्रियोपभोग की भावना से कलुषित हो जाती है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती

१—हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८४-१८५

है। जहाँ श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़ कर केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली जायगी वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।

..................वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लीलता की प्रवृत्ति जगाई।"

शुक्लजी ने एक अन्य स्थल पर भी लिखा है, "जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों (भक्तिकालीन कवियों) ने गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृङ्गार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृङ्गारकाल के कवियों के राधा और कृष्ण साधारण नायक और नायिका मात्र रह गए। उनका देवत्व तिरोहित हो गया। वह विद्यापति के राधा-कृष्ण के समान पुनः लौकिक रति क्रीड़ा में व्यस्त हो गए। कवियों ने कृष्ण और राधा के लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इन शृंगारकाल के कवियों ने यद्यपि लोक-निन्दा के भय से कृष्ण और राधा को कहीं-कहीं अलौकिक रूप में स्वीकार कर लिया है, किंतु यह सब धोखा-मात्र था। उदाहरण के लिए बिहारी जहाँ श्रीकृष्ण के प्रति अपनी असीम भक्ति भावना का दावा करते थे जैसा कि :—

> कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
> मो सम्पति जदुपति सदा, विपत्ति बिदारन हार।

वहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण को पूर्ण कामुक के रूप में प्रदर्शित किया। यही हाल देव, पद्माकर आदि अन्य रीतिकालीन कवियों का भी है। कृष्ण-काव्य की शृंगार में परिणति होने के निम्नलिखित पाँच मुख्य कारण हैं—

(१) कृष्णभक्ति की दार्शनिक जटिलता—कृष्ण भक्ति की पृष्ठभूमि में वल्लभाचार्य की आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारधारा थी, जनसाधारण के लिए उसकी प्रतिपत्ति बड़ी ही कठिन थी। वल्लभाचार्य ने कृष्ण को ब्रह्म, गोपियों को शुक्तयोगिन आत्माएँ तथा ब्रज को गोलोक मानकर जिन कृष्ण की नित्यलीला की महत्ता प्रतिपादित की उसे वास्तविक रूप में समझना

अत्यन्त कठिन था। शृंगारकाल के कवियों में भक्ति की श्रेष्ठ भावना का नितान्त अभाव होने से वल्लभाचार्य की भक्ति के शुद्ध रूप को समझने में असमर्थ रहे और श्रीकृष्ण के स्थूल दृष्टि से घोर शृंगारिक दीखने वाले रूप को लेकर उन्होंने वासनामूलक शृंगारी कविताएँ लिखीं।

(२) **तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ**—कृष्ण-काव्य में शृंगारिकता के समावेश हो जाने का दूसरा कारण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ हैं। उस समय के हिन्दू राजा विदेशी तथा विजातीय विजेताओं के हास-विलास में सम्मिलित हो तज्जन्य रूप समता का अनुभव करके हार से व्यथित हृदय की पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। उनकी इस प्रवृति की छाप तत्काकीन कविता पर भी पड़ी। उस समय के कवियों की विलासिता का प्रदर्शन करने के लिए राधा और कृष्ण के चरित्र से बढ़कर और कौन-सा माध्यम मिल सकता था।

(३) **कवियों का राज्याश्रय में होना**—शृंगारकाल के कवि प्रायः राजाओं के दरबारों में ही रहा करते थे। उन्हें ऐसी कविताएँ प्रस्तुत करनी पड़ती थीं जिन्हें उनके आश्रयदाता राजा पसन्द करते थे। जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि तत्कालीन राजाओं की वृत्ति शृंगारोन्मुखी हो चली थी अतः कविगण उन्हें प्रसन्न करने के लिए शृंगारी कविताओं की रचना ही किया करते थे।

(४) **तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ**—शृंगारकाल में केवल राजाओं की वृत्ति ही शृंगारोन्मुखी नहीं हुई वरन् जनता पर भी इसका प्रभाव पड़ा। साधारण जनता के लिए, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, कृष्ण काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझना अत्यन्त कठिन था, अतः उसने श्रीकृष्ण के लौकिक शृंगार रूप को ही ग्रहण किया। तत्कालीन राजाओं की चित्तवृत्ति के प्रभाव ने इसमें और योग दिया। साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब है। अतः तत्कालीन साहित्य में शृंगारी रूप का विशद वर्णन हुआ।

(५) **शृङ्गार मूलक संस्कृत साहित्य का प्रभाव**—प्राचीन शृंगारी संस्कृत कवियों की कृतियों का प्रभाव रीतिकालीन कृष्ण-काव्य पर यथेष्ट रूप में

पड़ा। शृंगारकाल में संस्कृत ग्रन्थों का बहुत कुछ अनुवाद तथा प्रचार हुआ, यह तो सबको विदित ही है। उस समय संस्कृत की 'आर्यासप्तशती' तथा प्राकृत की 'गाथासप्तसती' आदि का काफी प्रचार हुआ। इसी प्रचार का प्रभाव तत्कालीन राधा और कृष्ण को लेकर लिखी गई रचनाओं पर भी पड़ा। बिहारी-सतसई पर तो इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त ही है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' के 'संजीवन भाष्य' की भूमिका में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण जो शृंगारिकता कृष्ण-काव्य में आ गई थी उसमें संस्कृत साहित्य की शृंगारी रचनाओं के प्रभाव ने भी योग दिया।

श्रृंगारकाल

शृङ्गार काल—सामान्य परिचय

हिन्दी-साहित्य-रचना के दो सौ वर्ष (सं० १७००-१९००) का समय साधारणतया 'रीतिकाल' के नाम से जाना जाता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी साहित्य के मध्य काल को दो भागों में विभाजित किया है पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल। साहित्य के मध्यकाल का दो भागों में विभाजन करना कुछ कारण रखता है। वस्तुतः साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में एक मोड़ आता है तभी से नवीन प्रवृत्तियों का काल मान लिया जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने अपनी पुस्तक के वक्तव्य में कहा है—"जब तक पूर्व और उत्तर के अलग-अलग लक्षण न बताए जायँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोड़े-थोड़े अन्तर पर होने वाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल में होने वाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिये।" वस्तुतः मध्यकाल के प्रारम्भ से जो भक्ति काव्य की धारा प्रवाहित हो रही थी, सम्वत् १७०० के लगभग उसके नवीन मोड़ की सूचना मिलती है। शुक्ल जी ने यह नवीन मोड़ चिन्तामणि त्रिपाठी (लगभग सं० १७००) से माना है। और इस प्रकार इस भक्तिकाव्य से पृथक् प्रवृत्तियों के काल का नाम उन्होंने रीतिकाल रख दिया। उनके वक्तव्य को पढ़ने से मालूम पड़ता है कि भक्तिकाल की भाँति वह रीतिबद्ध रचना की परम्परा के भी उपविभाग करना चाहते थे—"रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है?"

शुक्ल जी के उक्त वक्तव्य पर ध्यानपूर्वक विचार करने से यह मालूम पड़ता है कि उन्हें रीतिबद्ध रचनाओं में कई प्रकार की रचनायें मिलीं किन्तु वे

स्पष्टतः उनका पार्थक्य न कर सके। यही नहीं, वस्तुतः शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल का रीतिकाल नाम रख कर भी सन्तुष्ट न हुए। उन्हें 'रीतिकाल' नामकरण का कोई पुष्ट आधार नहीं मिला—"रीतिबद्ध ग्रन्थों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।" इसके आगे भी एक बात गौर करने की है। वह यह कि सं० १९८६ में जब शुक्ल जी के इतिहास का प्रथम संस्करण निकला था तब उन्होंने घनानन्द आदि कुछ मुख्य-मुख्य कवियों का परिचय भी विशेष रूप में नहीं दिया था। यह ११ वर्ष बाद सं० १९९७ के संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण में जोड़ा गया। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने रीतिकाल के अन्तर्गत रीति-मुक्त धारा के कुछ महान् कवियों को उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों में विशेष योग देने वाला नहीं माना है।

आगे चलकर अन्य हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में शुक्ल जी द्वारा दिया हुआ उत्तर मध्यकाल का रीतिकाल नाम रूढ़ हो गया। बा० श्यामसुन्दर दास भी हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में शृङ्गार रस की प्रचुरता एवं रीतिमुक्त कवियों का महत्त्व स्वीकार करके भी इसका नामकरण "रीतिकाल" के अतिरिक्त अन्यथा न कर सके—"राजाओं से पुरस्कार पाने तथा जनता द्वारा समादृत होने के कारण रीतिकाल की कविता शृङ्गार-रसमयी हो गई और अन्य प्रकार की कवितायें उसके सामने दब सी गईं।..........शृङ्गाररस के मुक्तक पद्य यद्यपि अधिकतर अलंकारों और नायिकाओं के उदाहरण स्वरूप ही लिखे गये, यद्यपि लिखने का लक्ष्य भी अधिकतर आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना था, तथापि कुछ कवियों की कृति में शुद्ध प्रेम के ऐसे सरस छन्द मिलते हैं, ऐसे सौन्दर्य की पवित्र विकृति पाई जाती है कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वे कवि शुद्ध आन्तरिक प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से कविता करते थे। यह ठीक है कि अधिकांश कवियों ने सौन्दर्य को केवल उद्दीपन मानकर नायक-नायिका के रतिभाव की व्यंजना की है, पर कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने रीति के प्रतिबन्धों से बाहर जाकर स्वकीय सुन्दर रीति में सौन्दर्य की वह सृष्टि की है, जो मनोमुग्धकारिणी है।" आगे चलकर बाबू

जी कहते हैं "स्थायी साहित्य में रीति-काल के सौन्दर्योपासक और प्रेमी कवियों का स्थान अमर है।"

बाबू श्यामसुन्दरदास के उक्त कथन से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि रीतिकाल में शृंगार रस की प्रधानता थी और दूसरे इस काल के प्रेमी कवि और उनका साहित्य महान है तथा इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निरूपण में उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। इन दो बातों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरमध्यकाल का 'रीतिकाल' नामकरण उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस नामकरण से तत्कालीन साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति शृंगार एवं प्रेम का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। मूलतः रीति की परिपाटी का पालन करने वाले कवि और रीति मुक्त स्वच्छन्द कवि दोनों ही शृंगाररस को लेकर चलते हैं।

साधारणतया जिसको रीतिकाल के नाम से पुकारा जाता है उसमें शृंगार-रस की प्रधानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। 'रीतिकाल' नामकरण को हिन्दी साहित्य के इतिहास में रूढ़ करने वाले आचार्य पं रामचन्द्र शुक्ल ने भी यह अनुभव किया था कि साहित्य रचना के इस काल (रीतिकाल) का 'शृंगार काल' नामकरण तत्कालीन सम्पूर्ण कृतियों की प्रवृत्तियों का सुन्दर निरूपण कर सकेगा। इसलिए उन्होंने अपने इतिहास में रीतिकाल का सामान्य परिचय प्रस्तुत करके 'शृंगारकाल' नाम की व्यापकता को इन शब्दों में सराहा था—'वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।'[1] वस्तुतः रस को ही दृष्टि से नहीं वरन् वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी और प्रमुख प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी साहित्यरचना के इस काल का नाम 'शृंगार काल' ही उपयुक्त ठहरता है। शुक्लजी के इस नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि "यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार-शास्त्र का ही जोर है, जिसे उस

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २४१ (नवां संस्करण)

काल में 'रीति', 'कवित्त रीति' या 'सुकवि रीति' कहने लगे थे। सम्भवतः इन्हीं शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को रीति-काव्य कहा। उन्होंने विक्रम सम्वत् १७०० से १६०० (१६४३-१८४३ ई०) तक के काल को रीतिकाल माना है।"[1] कुछ भी हो, इन सब बातों पर ध्यान देने के और तथाकथित रीतिकाल के साहित्य का अध्यन करने पर इतना स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि इस काल में वीर रस सम्बन्धी रचनाएँ भी हुई हैं तथापि 'शृंगार' की सामान्य प्रवृत्ति को लक्ष्य करके इस काल का नामकरण 'शृंगारकाल' ही उपयुक्त है।

इस काल में जो रीति-काव्यों की परम्परा दिखाई पड़ती है और रीतिशास्त्र का अनुकरण मिलता है वह इस काल की एक सामान्य प्रवृत्ति के रूप में है। रीति के बंधन बाँधने वाले कवियों में भी ऊँचे कवि रीति के बन्धन से मुक्त हैं। फिर भी इस काल का नामकरण केवल स्वच्छन्द काव्यधारा की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके नहीं रखा जा सकता है। इसलिए इस काल की रचनाओं की सामान्य प्रवृत्ति को ढूंढना आवश्यक हो जाता है। यह प्रवृत्ति 'शृंगार' की है जो रीतिबद्ध और रीतिमुक्त, दोनों ही प्रकार की रचनाओं में सामान्य है। सारांश यह कि शुक्लजी अपने नामकरण के दोनों सिद्धान्तों के अनुसार इस काल का रीतिकाल नामकरण करके सन्तुष्ट न हुए। उनका नामकरण का पहला सिद्धांत यह था "जिस काल खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया। इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है।" दूसरा सिद्धान्त उन्हीं के शब्दों में—"दूसरी बात है ग्रन्थों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक ग्रन्थ प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जायगी, चाहे और दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत-सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनी है।"

१—हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २६१—२६२

इन दोनों सिद्धान्तों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट ही है कि हमारे विवेच्य काल में शृंगार प्रधान कविताओं की प्रचुरता है और शृंगारात्मक ग्रन्थों की ही विशेष प्रसिद्धि है। शृंगार की प्रवृत्ति को ही इस काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। यह शृंगार कहीं रीति से बद्ध है और कहीं रीति से मुक्त।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी हमारे विवेच्य काल का नामकरण शृंगारकाल किया है। 'घनानन्द कवित्त' की प्रस्तावना में उन्होंने इस पर विचार किया है। प्रायः रीतिकाल नामकरण के समर्थकों ने रीतिमुक्त कवियों को अपने रास्ते से हटाने का बड़ा सुगम उपाय उन्हें 'फुटकल खाते' में डालना समझा है। मिश्रजी के शब्दों में—"हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करते हुए इतिहासकारों ने रीतिकाल के भीतर कुछ ऐसे कवियों को 'फुटकल खाने' में डाल दिया है जो रीतिकाल की अधिक व्यापक प्रवृत्ति शृंगार या प्रेम के उन्मत्त गायक थे। इनमें आलम, घनआनन्द, ठाकुर और बोधा का नाम आता है।" किन्तु जैसा स्पष्ट ही है; ये प्रेम के उन्मत्त गायक रीतिकाल की सबसे अधिक व्यापक प्रवृत्ति शृंगार को लेकर चले थे अतः उनकी यों उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका विवेचन तो मुख्य प्रवृत्तियों के निरूपण में बड़े महत्त्व का है। आगे मिश्रजी ने रीति पद्धति पर कविता करने वालों को दो श्रेणी में बाँटा है—एक वे जो रीति के बंधन में केवल 'शास्त्र-स्थिति संपादन' करते थे या 'दोहों में लक्षणों को पद्यबद्ध करके लक्ष्य रूप में अपनी रचना रख दिया करते थे।' दूसरे वे जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थ तो नहीं लिखे, पर जिनकी रचना पूर्णतया रीतिबद्ध है। प्रथम प्रकार के कवियों का वर्णन पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने इन शब्दों में किया है—"भक्तिकाल के बीतते न बीतते हिन्दी में शृंगार की धारा वेग से प्रवाहित हुई। शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए अधिकतर कवियों ने रीति का अर्थात् रस, नायक-नायिका, अलंकार, पिंगल आदि काव्यांगों के भेदोपभेदों को आधार बनाया। पर ये वस्तुतः काव्य-पक्ष ही सामने करने वाले थे, शास्त्र-पक्ष नहीं। बात यह थी कि संस्कृत में साहित्य का शास्त्र-पक्ष अपने समृद्ध रूप में इन्हें विवेचित उपलब्ध हो गया, अतः स्वतः छानबीन करने की इन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ी।... फल यह हुआ कि

इनकी रचना शास्त्र में गिनाई सामग्री से आगे नहीं बढ़ सकी । ये केवल 'शास्त्र-स्थिति-सम्पादन' ही करते रह गये, भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति पर से इनकी दृष्टि स्वतः हट गई ।" दूसरे प्रकार के कवियों का वर्णन मिश्रजी ने इन शब्दों में किया है—"जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ तो नहीं लिखे, पर जिनकी रचना पूर्णतया रीतिबद्ध है । ऐसे कवि वस्तुतः लक्षणों को पद्यबद्ध करने का फालतू बखेड़ा अपने सिर नहीं ओढ़ना चाहते थे, पर रीति की सारी जानकारी का उपयोग अवश्य करना चाहते थे । ये चाहते थे कि लक्षण रूप में प्रस्तुत रचना की अपेक्षा अपनी कृति में अधिक कसावट रखी जाय, उसमें चमत्कार लाने का थोड़ा खुला प्रयत्न किया जाय । बिहारी रसनिधि आदि इसी प्रकार के कवि थे ।········इन्होंने बंधान रीति के बल पर ही बाँधा है, उसी में टेढ़े-सीधे मार्ग निकाले हैं । फिर भी रीति के भार से इनकी कविता लक्षण-ग्रन्थ-प्रणेताओं की कृति की अपेक्षा कुछ कम दबी है । इन्होंने बंधन ढीला कर लिया है; इसी से इनमें कुछ ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं जैसी शुद्ध शास्त्र-स्थिति सम्पादन की इच्छा रखने वालों में कदापि नहीं मिल सकतीं ।"[१]

उक्त प्रस्तावना में ही आगे चलकर मिश्रजी ने रीतिमुक्त कवियों का रीति-बद्ध कवियों से पार्थक्य दिखलाया है ।—"उसी काल में स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले ऐसे कवियों का भी प्रादुर्भाव हुआ जो रीति का बन्धन तोड़ डालना चाहते थे । ये शास्त्र में गिनाई हुई सूची तक ही रहने वाले नहीं थे । ये प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए हृदय का पूर्ण योग संघठित करने के अभिलाषुक थे । रीतिबद्ध होकर एक ओर काव्य-रचना अधिकतर बहिर्वृत्ति के निरूपण में व्यस्त थी, दूसरी ओर इनके हृदय का वेग अन्तर्वृत्ति के निरूपण का अवकाश चाहता था । अतः इन्होंने रीति-पद्धति का अतिक्रमण किया ।" आगे मिश्रजी रीतिबद्ध कविता की पच्चीकारी एवं कला-पक्ष की प्रधानता की चर्चा करते हुए कहते हैं—"इसी से उनकी रचना बोझिल हो जाती थी । पर इन प्रेमोन्मत्त गायकों में हृदय का वेग ही कविता का रूप धारण कर लेता था, मरने-पचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी या कम पड़ती थी ।" इस प्रकार रीतिमुक्त कवियों की कविता में हृदय के विचारों का एक सहज प्रवाह था । घनआनन्द

१. घनआनन्द कवित्त : प्रस्तावना—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृ० १-२

ने भी अपनी इस विशेषता का संकेत एक पंक्ति में किया है—'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।' मिश्रजी ने इन कवियों की इस विशेषता को ही लक्ष्य करके कहा है—"इसी से इन कवियों की रचना में वाणी के ऐश्वर्य का बहुत बड़ा कोष मिलता है। वाणी के विस्तार की सीमा वस्तुतः ये ही जानते थे। भावों का कोष वाणी के प्रतीकों द्वारा उद्घाटित करने की शक्ति इन्हीं में थी। हृद्गत अनुभूतियों को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए भाषा की गति निरन्तर बाधित होती रहती है। इन कवियों ने लाक्षणिक और व्यंग्यमूलक पद्धति पर अधिकाधिक चलकर यह बाधा दूर कर दी है।"

उपरोक्त विवेचन का निष्कर्ष देते हुए मिश्रजी लिखते हैं—"इन सब बातों पर विचार करने से इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि रीतिकाल का नाम 'शृंगारकाल' होना चाहिए। 'रीतिकाल' नाम रखने से उसके विभाजन का मार्ग ही नहीं मिल पाता, पर 'शृंगारकाल' नाम रखने से विभाजन सरलता पूर्वक हो जाता है। उसकी दो शाखाएं स्पष्ट हो जायेंगी—रीतिबद्ध और रीतिमुक्त। रीतिबद्ध की भी दो शाखाएँ हो सकती हैं—लक्षणबद्ध और लक्ष्यमात्र। रीतिग्रंथ लिखने वालों ने अधिकतर शृंगार के ही गीत गाये हैं। पिंगल आदि की पोथियों में भी शृंगार की रचनाएँ ही अधिकांश मिलती हैं। 'भूषण' ऐसे दो एक वीर कवियों को पृथक करने की बात उठ सकती है, पर निवेदन है कि उनकी भी प्रारम्भिक रचनाएँ शृंगार की ही मिलती हैं और पूर्णतया रीतिबद्ध।"

सारांश यह है कि शुक्लजी ने अपने इतिहास में हिन्दी-साहित्य-रचना के जिस काल को रीतिकाल के नाम से पुकारा है उसका नाम 'शृंगारकाल' ही अधिक उपयुक्त एवं सामान्य प्रवृत्ति निरूपण करने वाला प्रतीत होता है। रीतिकाल नाम तत्कालीन लक्षण-उदाहरण (रीति) शैली की एक प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है तथापि रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएं इस नामकरण से उपेक्षित हो जाती हैं और फिर उनका इतिहासकार फुटकल कवियों की रचनाओं के रूप में परिचय देते हैं क्योंकि रीति की धारा से उनका गहरा पार्थक्य है। मिश्रबन्धुओं ने हमारे विवेच्य काल का नामकरण 'अलंकृतकाल' किया था किन्तु इस नामकरण से भी उस काल के साहित्य की सामान्य-प्रवृत्ति का

बोध नहीं होता। कुछ विद्वान् इस काल की कविता में कलापक्ष की प्रधानता देखकर इसका 'कलाकाल' नामकरण करते हैं किन्तु हृदय पक्ष का सुन्दर उद्घाटन प्रेमी कवियों की कविता में देखकर यह नाम भी नहीं जँचता। उन्मत्त प्रेमी गायक स्वयं कविता के निर्माण में हैरान नहीं थे वरन् कविता उनके व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली है। अतः यह नामकरण भी उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार इस काल का 'शृंगारकाल' नामकरण बिलकुल उपयुक्त है। इस 'शृंगारकाल' में दो धाराएँ प्रवाहित हुई हैं—रीतिबद्ध-काव्य-धारा और रीतिमुक्त-काव्य-धारा। इन धाराओं के विकास का अध्ययन हम आगे करेंगे।

शृंगारकाल की परिस्थितियाँ—शृंगारकाल का समय १६वीं शताब्दी के मध्य भाग से प्रारम्भ होता है और सन् ५७ के विप्लव के आस-पास समाप्त होता है। यह समय लगभग दो सौ वर्ष का है। इस समय का भारत का राजनैतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश का लेखा-जोखा है। मुगल साम्राज्य शाहजहाँ के समय में चरम-उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। कला की दृष्टि से भी शाहजहाँ का समय ताजमहल का समय है। किन्तु शाहजहाँ के अन्तिम समय तक पहुँचते-पहुँचते मुगल ऐश्वर्य को बट्टा लग गया और उसका प्रमुख माध्यम औरङ्गजेब बना। औरङ्गजेब का समय सभी दृष्टियों से—क्या राजनीति, क्या समाज-व्यवस्था, क्या कला—अदूरदर्शिता एवं 'रुग्ण मनोभाव का काल' है। औरङ्गजेब के बाद मुगलिया खानदान में कोई भी महान् व्यक्ति नहीं हुआ और इसी समय नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली ने रही-सही मुगल शान को मिट्टी में मिला दिया। दिल्ली के कत्ले-आम और पानीपत की पराजय ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी नष्ट कर दिया। उसके बाद स्वतन्त्र छोटे-छोटे रजवाड़ों का प्रादुर्भाव हुआ। इन रजवाड़ों एवं सरदारों के दरबारों में मुगलिया खानदान की विलासिता खण्ड-खण्ड होकर फैल गई थी किन्तु मुगल-शान-शौकत के स्थान पर सरदार-सामन्तों की चित्तगत संकीर्णता के कारण इस विलासिता में शाही उदारता का भी अभाव हो गया था। इसलिए इस काल की शृंगार-भावना में बड़े नग्न मनोभाव प्रदर्शित हुए हैं। उसमें मुगल-दरबार का बड़प्पन देखने को नहीं मिलता है। आचार्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "इस काल की शृङ्गार भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।" कुछ विद्वानों ने इस काल में महान् व्यक्तित्व के अभाव पर भी विशेष जोर दिया है। इसीलिए तत्कालीन साहित्य, कला और कौशल जनता के उन्नत व्यक्तित्व का परिचय नहीं देते हैं। सारांश यह है कि शृङ्गार-काल की रचनाओं में हमें मुगलिया शान-शौकत की झलक ही मिलती है और 'रुग्ण मनोभावों' का परिचय भी। यह क्रमिक विकास है। ज्यों-ज्यों खानदानी शाही परिवार का ह्रास हुआ और नवीन-सरदार और सामन्तों की शक्ति बढ़ी त्यों-त्यों विलासिता की भावना भी उनकी संकीर्ण चित्तवृत्ति के प्रभाव से अपनी महनीयता को खो बैठी।

इस राजनीतिक परिस्थिति का समाज-व्यवस्था पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। निर्गुण सन्तों के प्रभाव से जाति-पांति की प्राचीन रूढ़ियाँ टूटने लगीं और नवीन रूढ़ियाँ उनका स्थान लेने लगीं। अब पेशेवर जातियों का निर्माण हुआ। एक सामन्त सरदारों का वर्ग बना दूसरा उनकी स्थिति को बनाने वाला सेवक वर्ग। ज्यों-ज्यों छोटे-छोटे सरदार सामन्त एवं मनसबदारों में विलासिता बढ़ती गई त्यों-त्यों उनका साधारण जनता से पार्थक्य बढ़ता गया। अब तो कवि भी अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति के अनुकूल ही रचना करने लगे थे। इनका मुख्य प्रेरणा-स्रोत-आश्रयदाताओं की विलासेच्छा ही थी। ये स्वतन्त्र सामंत अपने विलास में मग्न थे, नैतिक आदर्शों से गिर गए थे। समाज की आत्मा संकुचित हो गई थी और अन्य प्रदेशों से सम्बन्ध विच्छिन्न होने के कारण समाज में बड़ी संकीर्णता छा गई थी। कला वासना-पूर्ति का साधन बनी और नारी उसका आलम्बन। इस प्रकार जो प्रेम क्रीड़ाओं और नायक-नायिका भेद का उक्ति वैचित्र्यपूर्ण चित्रण इस काल की कविता में मिलता है वह तत्कालीन सामाजिक स्थिति को दर्शाने वाला है। साथ ही समाज में एक नवीन वर्ग मराठे सरदारों का था जिसमें हिन्दू जाति की रक्षा एवं उत्थान का भाव था। उनके सम्बन्ध में तथा उनकी सामाजिक स्थिति के अनुकूल कुछ वीर रस की उत्कृष्ट रचनाएँ भी मिलती हैं जो मरहठा समाज की तत्कालीन स्थिति को बतलाती हैं। बाद में तो मरहठा साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर देशी-रजवाड़ों के रूप में मुगलों से विरासत में मिली हुई विलासिता में निमग्न हो गया।

यह काल धार्मिक दृष्टि से भक्ति के पराभव का काल है। भक्तिकाव्य के काल में एक महत्त्वपूर्ण भक्ति की लहर बड़ी व्यापक एवं प्रबल थी अब वह शान्त एवं विकृत हो गई थी। इसके कई कारण थे। राजनीतिक स्थिति भी इसके लिए उत्तरदायी है। किन्तु प्रमुखतया महान् व्यक्तित्व का अभाव ही भक्ति धारा की विकृति का कारण बना। कृष्ण की मधुर भाव की भक्ति अब नायक-नायिका-भेद के निरूपण में काम आने लगी और सम्पूर्ण शृङ्गारी साहित्य में कृष्ण, राधा और गोपियाँ प्रमुख विवेच्य हो गईं। भक्ति सम्प्रदाय की चारों शाखाओं का पराभव विविध कारणों से हुआ जिनका संकेत हम भक्ति साहित्य के विवेचन में कर चुके हैं। उक्त कारणों से ही इस काल में धर्माश्रय में उत्कृष्ट साहित्य की रचना न हो सकी।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह घोर पराभव का काल था। प्राचीन संस्कृति के मूलाधार भूल गए थे और एक नई संक्रान्ति-कालीन संस्कृति का उद्भव हो रहा था जिसका मुख्य आधार मुगलों से विरासत में मिली हुई विलासिता की वृत्ति थी।

इस काल की साहित्यिक पृष्ठभूमि का भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। इससे पूर्व जो कृष्ण की मधुर भक्ति (सखि भाव) प्रचलित हुई थी और 'अष्टयाम' इत्यादि विलास-लीलाओं के ग्रन्थों की रचना हुई थी—उसका पूर्ण परिपाक इस युग में दिखलाई पड़ता है। कृष्ण-भक्तिशाखा की क्या कहें रामभक्ति शाखा में भी सखि भाव की मधुर उपासना का विकास होरहा था और राम-सीता की 'अष्टयाम' विलास लीलाओं का वर्णन जोर पकड़ रहा था। सन्तों के ज्ञानमार्ग में गतानुगतिकता के विकास होने से कोई मौलिक उद्भावना नहीं हुई। सूफीमत का साहित्य भी अवनति की ओर था। इस प्रकार भक्तिकाल के अंतिम समय में शृङ्गार की भावना का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। 'शृङ्गार काल' का साहित्य प्रमुख रूप से राज्याश्रय में रचा गया। कुछ लोक रचनायें भी मिलती हैं जैसे भूषण इत्यादि की। किन्तु मूलतः ये कवि भी राज्यों से ही सम्बन्धित थे। भाषा की दृष्टि से इस काल में हिन्दी प्रदेश में विभिन्न भाषाओं का व्यवहार हो रहा था किन्तु शृङ्गारी भावनाओं को व्यक्त करने वाली प्रमुख भाषा व्रजभाषा ही रही। उसमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों

में 'विश्राम दायक और विनोदन गुणों का·········खूब मार्जन हुआ।' भक्तिकाल में ब्रज और अवधी दोनों ही प्रमुख भाषायें थीं। धीरे-धीरे अवधी का महत्त्व हट रहा था। ब्रजभाषा पर कुछ प्रादेशिक प्रभाव, जैसे बुन्देलखण्डी, अवधी और राजस्थानी का, तथा विदेशी प्रभाव जैसे फारसी का पड़ रहा था। वस्तुतः शृङ्गारकाल के साहित्य का सृजन अवध प्रान्त और राजस्थान में अधिक हुआ इसलिए इसकी भाषा में अवधी एवं बुन्देलखण्डी और राजस्थानी के प्रयोग मिलते हैं।

शृंगारकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

उपरोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि शृङ्गारकाल का साहित्य मध्यकालीन दरबारी संस्कृति का प्रतीक है। राज्याश्रय में पली इस शृङ्गारी कविता में रीति और अलंकार का प्राधान्य हो गया है। जो कवि दरबारी संस्कृति को त्याग सके उनकी कविता में 'प्रेम की पुकार' का स्वरूप रीति से मुक्त है। संक्षेप में 'शृङ्गार कालीन' साहित्य की निम्नलिखित मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—

शृङ्गार रस का प्राधान्य—

शृङ्गारकाल की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि इसमें तीन प्रकार के कवि मिलते हैं—रीतिबद्ध, रीतिमुक्त या स्वच्छन्दवादी और वीरकाव्य की रचना करने वाले। किन्तु इन तीनों धाराओं के काव्य का अध्ययन करने से स्पष्ट विदित होता है कि शृङ्गार की भावना इनके काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। वीरकाव्य रचयिता भी अपने प्रारम्भिक जीवन में शृङ्गारी कविता लिखते थे।

रीतिबद्ध कविता का प्रेरणा स्रोत प्रायः दरबारी संस्कृति थी। इसके अन्तर्गत शृङ्गारी भावना वासना को व्यक्त करने के लिए ही प्रयुक्त हुई है। रीतिबद्ध कवियों के आश्रयदाता सामन्त, सरदार, राजा और महाराजा आदि उच्चवर्ग के मुगलों से विरासत में मिली विलासिता में डूबे हुए थे, इसलिए उनकी प्रेरणा से रचे हुए काव्य में स्वभावतया ही लौकिक प्रेम और उसके व्यंजन बाह्य सौन्दर्य के वर्णन बहुत अधिक हैं। इन वर्णनों में अलंकरण की

कुशलता भी दर्शनीय है। बिहारी की ऊहात्मक उक्तियाँ इसकी उदाहरण हैं। इन शृङ्गारी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम कृष्ण-राधा की मधुर-भाव की भक्ति बनी और कृष्ण-राधा साधारण नायक-नायिका के रूप में चित्रित किए जाने लगे।

युग के नैतिक आदर्शों की अनुमति होने के कारण शृङ्गार-काल में काम-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। आध्यात्मिक आवरण में ही शृङ्गारिक कविता न होती थी वरन् स्वतन्त्र रूप से ही होती थी। कवि लोग राजाओं की कुत्सित प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए नग्न शृङ्गार का चित्रण करते थे। परन्तु इस निर्बाध वासनातुष्टि का एक दुष्परिणाम भी हुआ वह यह कि काम जीवन का अन्तरङ्ग साधक तत्व न रहकर बहिरङ्ग साध्य बन गया। इसीलिए इस काल की रीतिबद्ध कविता में शृंगारिकता में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर वासना की झलक ही मिलती है। और उसमें भी सूक्ष्म आन्तरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम की भावना हृदय की प्रवृत्ति है जो एकोन्मुखी होती है, किन्तु विलास या रसिकता उपभोग की भावना है जो अनेकोन्मुखी होती है। इसी कारण प्रेम में तीव्रता होती है, रसिकता में केवल सरलता। रीतिबद्ध प्रतिनिधि कवि बिहारी, देव, मतिराम आदि रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। इन्होने बाह्य स्थूल सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति की है। उनके काव्य में मन के सूक्ष्म सौन्दर्य का और आत्मा के सात्विक सौन्दर्य का प्रायः बिल्कुल ही अभाव है। परन्तु जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन कवियों की पहुँच बहुत गहरी थी। एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवि रूप सौन्दर्य का वर्णन करने में पूर्ण रूप से रमने लगे। उदाहरण के लिए, नयनों के कटाक्षों और चंचलता का इतना सुन्दर वर्णन विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में दुर्लभ है जैसे—

पद्माकर—

पैरें जहाँ ही जहाँ वह बाल, तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिबेनी।

देव—

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न उधेरी ।
री गहराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न घिरी नहि घेरी ॥
ऊधो कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरी ।
बेगि ही बूड़ि गई पखियाँ, अखियाँ मधु की मखियां भईं मेरी ॥

इस प्रकार शृंगार के विविध अंगों, उपांगों का इन कवियों ने सुन्दर वर्णन किया है। इस शृङ्गार के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इसका स्वरूप गार्हस्थिक है। भारतीय शृङ्गार-परम्परा में पूर्वानुराग, संयोग, प्रवास, वियोग आदि सभी दशाओं में गार्हस्थ्य-तत्त्व बना रहता है। रीतिबद्ध शृङ्गारी कविता में नागरिकता का समावेश तो हुआ किन्तु दरबारी वेश्या-विलास अथवा बाजारू रूप-सौन्दर्य की बू नहीं आई। राजाओं के दरबार में वेश्याएँ रहती थीं किन्तु उनके आश्रित कवि स्वकीया नायिका के प्रेम का ही गायन करते थे। परकीया प्रेम वर्णन का उनके काव्य में इसी कारण से अभाव ही रहा। इसी प्रकार हम देखते हैं कि रीतिबद्ध कविता में शृङ्गार का मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। इस रसिकता में इन्द्रियजन्य वासना के अतिरिक्त कुछ नहीं।

रीतिमुक्त कविता में भी शृंगारी भावना है किन्तु वह दरबारी संस्कृति से दूर होने के कारण वासना की पर्याय नहीं है। इसकी कविता में शृंगारी भावना में हृद्गत प्रेम के उद्गार हैं जिनमें बड़ी शुचिता है। इनमें शारीरिक वासना की गन्ध नहीं है वरन् हृदय की पुकार है। इन्होंने भी कृष्ण की मधुर भाव की भक्ति का आश्रय लिया किन्तु वह कुछ भक्तिकालीन कवियों की भाँति ही उन्मुक्त है। इस दिशा में ये रीतिबद्ध कवियों से बिलकुल पृथक् हो जाते हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इन दो श्रेणियों के कवियों का पार्थक्य इस प्रकार दर्शाया है—"प्रेमोन्माद के अभिव्यंजक इन कर्त्ताओं के लिए राधा-कृष्ण या गोपी कृष्ण की लीलाएँ काव्य सामग्री का काम देती रहीं हैं। व्यक्तिबद्ध प्रेम की एकनिष्ठता के कारण जब इन्हें भक्ति-पक्ष त्यागना पड़ा है तब ये कृष्ण की क्रीड़ाशील प्रवृत्ति के उपासक बनकर उनके भक्त हो गये हैं।.........भारतीय परम्परा में उन्मुक्त प्रेम के लौकिक आलम्बन का विधान न पाकर ये श्रीकृष्ण का अलौकिक आलम्बन ग्रहण करते थे। अतः अन्त में

इनकी मुक्तक रचना का भक्ति में पर्यवसान हो जाता था। इसीसे इस प्रकार के सभी कवि अन्त में कृष्णलीला के गायक भक्त हो जाते हैं। यों तो रीतिबद्ध कवि भी 'राधिका कन्हाई के सुमिरन' का बहाना करते थे, पर उनकी वृत्ति भक्ति में लीन नहीं हुई है। यही इन दोनों में पार्थक्य है।"

२—अलंकरण का प्राधान्य

शृंगारकाल की कविता में अलंकरण का बाहुल्य है। इसी विशेषता को लक्ष्य करके मिश्रबन्धुओं ने इसका नाम 'अलंकृतकाल' रखा था। कविता का प्रमुख विषय शृंगार होने के कारण रूप आकार की सजावट भी अनिवार्य थी। दूसरे इस काल में संस्कृत साहित्य के पुष्ट अलंकार शास्त्र की लोकप्रियता भी आश्रयदाताओं की चमत्कारी मनोवृत्ति के कारण बढ़ गई थी इसीलिए रीतिबद्ध कवियों ने उपमानों और प्रतीकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। इस काल के रीतिबद्ध कवि आचार्यत्व का भी दावा रखते थे। उन्होंने संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में से रस और अलंकार के दो मत लेकर अपनी काव्य रचना में उनका पल्लवन किया। अलंकार के ग्रन्थों में केशव की 'कविप्रिया', महाराजा जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण', मतिराम का 'ललित-ललाम' और महाराजा रामसिंह का 'अलंकार दर्पण' प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार रस सम्बन्धी ग्रन्थों में केशव की 'रसिक प्रिया', मतिराम का 'रसराज', महाराजा रामसिंह का 'रसनिवास' और 'रसविनोद' तथा देव का 'भाव-विलास' प्रसिद्ध हैं। रस संबंधी ग्रन्थों में प्रमुख विषय शृंगार रस का विवेचन है अतः इस के आलम्बन नायक और नायिका का विशेष विस्तार से वर्णन हुआ है। नायिकाओं के अनेक भेदों का (जाति, कर्म, गुण, वय, अंग रचना, कुल इत्यादि आधारों पर) बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है। इन्हीं कवियों में शृंगार की संयोग और वियोग दशाओं का भी बड़ा अलंकारपूर्ण वर्णन मिलता है। किन्तु रीति के आधार पर बाँधे गये इस बंधान में सर्वत्र कलापक्ष की प्रधानता है, हृदयपक्ष या अनुभूतिपक्ष दब गया है। रीतिबद्ध कवियों की कलाप्रियता को लक्ष्य करके ही डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने इस काल का नामकरण 'कलाकाल' किया है।

रीतिमुक्त कवियों में भी तत्कालीन अलंकारिकता के दर्शन होते हैं। किन्तु यह अलंकरण रीतिबद्ध कवियों की भाँति चमत्कारी मनोवृत्ति की शांति करने या

भावा का खिलवाड़ करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ वरन् वह प्रेमी हृदय की सच्ची स्थिति (जैसे विरह की तीव्रता) का सच्चा आभास देने के लिए ही है। इस अलंकारप्रियता में भी रीतिमुक्त कवियों के हृदय की तीव्र भावनाओं एवं प्रेम की विषमता का सुन्दर निरूपण हुआ है। इन कवियों ने लाक्षणिक और व्यंग्यमूलक पद्धति से अपनी उन्मुक्त प्रेम की कविता को प्रस्फुटित किया है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में 'विरोधमूलक प्रणाली से या वक्रोक्ति-पद्धति पर हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन इन कवियों की विशेषता है।" मिश्र जी ने रीतिमुक्त धारा के प्रधान कवि घनानन्द की विरोधमूलक प्रवृत्ति का उद्घाटन इस प्रकार किया है—"प्रेम की विषमता के निरूपण के लिए घनानन्द ने 'विरोधाभास' का सहारा बहुत लिया है, पर भाषा की मुहावरेदानी में कहीं बल नहीं पड़ने पाया है—

देखिये दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघन करिति हैं।

आँखें स्वभाव से ही निपेटनी (भुक्खड़) हैं, उस पर 'भस्मी व्यथा' (भस्मक रोग) उत्पन्न हो गई है, जिसमें जो खाया जाता है वह भी भस्म हो जाता है; जब खाते रहने पर भी, अधिक मात्रा में खा लेने पर भी पेट नहीं भरता तब भी, इन्हें लंघन करना पड़ रहा है।.........विरोधाभास के अधिक प्रयोग से घनआनन्द की सारी रचना भरी पड़ी है।"

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों की कविता में ही नहीं वरन् इस काल के वीरकाव्य के रचयिता भूषण की कविता में भी अलंकारों की प्रधानता स्पष्ट है। उन्होंने अतिशयोक्ति के माध्यम से हिन्दू छत्रपति शिवाजी और वीर छत्रसाल की वीरता का बखान किया है। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अत्युक्ति, अनुप्रास इत्यादि अलंकारों की झड़ी सी लगा दी है।

३—मुक्तक शैली का प्राधान्य—

शृङ्गारकाल की शैली कविता के विषय के अनुरूप ही थी। इस काल में मुक्तक शैली प्रधान थी। रीतिबद्ध कवियों की सारी चातुरी मुक्तक शैली में ही प्रकट हुई है। इनकी कविता का उद्देश्य भी कुछ ऐसा ही था कि जब आश्रय-दाताओं को अपनी काम-क्रीड़ाओं एवं काम-विलास में उत्तेजना की आवश्यकता

हुई या वैसे भी ठाले मनोरंजन एवं चमत्कारी प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए कवि कुछ पद्य सुना दिया करते थे। मानसिक थकान को दूर करने के लिए जो कविता रची गई वह मुक्तक ही रही। इस प्रकार रीतिबद्ध कवियों में दोहा, कवित्त और सवैया का प्राधान्य हो गया। रीतिमुक्त कवियों में भी कवित्त, सवैया शैली का प्राधान्य है। वीरकाव्य के रचयिता भूषण ने भी इसकी शैली को अपनाया है। कवित्तों का प्रयोग वीररस और शृङ्गाररस दोनों की अभिव्यक्ति में बड़ी कुशलता से किया गया है। सवैये शृंगार और करुण दोनों रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति करते हैं। इस काल में बिहारी ने दोहों में शृंगारी भावनाएँ भरकर इस छन्द की सम्भावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित किया। नीति सम्बन्धी काव्य में बरवै भी प्रयुक्त हुए। वैसे तो शृंगारकाल के प्रमुख आचार्य कवि केशवदास ने रामचन्द्रिका का सृजन किया जो एक उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य माना जाता है किन्तु इस ग्रन्थ को प्रायः भक्तिकाव्य के अन्तर्गत लिया जाता है। फिर भी इस काव्य में केशव की शृंगारकालीन प्रवृत्ति पर भक्ति-काव्य की गहरी छाप है इसलिए इस ग्रन्थ का इस युग की प्रवृत्ति निरूपण में विशेष महत्व नहीं है। इस काल में और भी बहुत से प्रबन्ध काव्यों की सृष्टि हुई है जैसे 'हम्मीर रासो' इत्यादि। किन्तु प्रवृत्ति निरूपण में उनका भी विशेष महत्त्व नहीं है, कारण उनकी अप्रसिद्धि ही है।

४—ब्रजभाषा का प्राधान्य—

भाषा की दृष्टि से इस काल में ब्रजभाषा ही प्रमुख साहित्यिक भाषा रही। इस काल में ब्रजभाषा का कोश बहुत भरा गया और वह बहुत उन्नत हो गई। उसमें प्रेम की विविध एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों की बड़ी सफल व्यंजना हुई। यही कारण था कि आधुनिक काल के प्रारम्भिक युग में ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा हुआ। उन परिवर्तित परिस्थितियों में भी बहुत से ब्रजभाषा की माधुरी पर लट्टू ऐसे साहित्यिक थे जो केवल इसी भाषा को काव्यगत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त मानते थे। इस प्रकार शृंगारकाल ब्रजभाषा की चरमोन्नति का काल है।

शृँगारकाल की ब्रजभाषा की कुछ अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ भी हैं। रीतिबद्ध कवियों में ब्रजभाषा का सुन्दर रूप देव में है। बिहारी इत्यादि अन्य रीतिबद्ध

कवियों की ब्रजभाषा पर प्रादेशिक भाषाओं की छाप है। बिहारी की भाषा में राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, अवधी इत्यादि के प्रयोग मिलते हैं। बिहारी की भाषा में फारसी के शब्द भी मिलते हैं। बिहारी इत्यादि रीतिबद्ध कवियों की भाँति भूषण की भाषा भी बड़ी अव्यवस्थित एवं प्रादेशिक प्रभावों से युक्त है। भाषा का परिमार्जन एवं उसकी शक्ति का परिवर्द्धन रीतिमुक्त कवियों ने किया। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिमुक्त कवियों की ब्रजभाषा की सेवा का स्मरण बड़े मार्मिक शब्दों में किया है—"घनआनन्द और ठाकुर ने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी है। वाग्योग का ऐसा विधान शब्दों का मनमाना और निरर्थक प्रयोग करने वालों में कहाँ। लोकोक्तियों का जैसा विनियोग ठाकुर ने किया है, हिन्दी के दूसरे कवि ने नहीं। घनआनन्द की रचना में तो भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ की सम्पत्ति से समृद्ध होकर सामने आती है। वाक्य ध्वनि, पद ध्वनि तो दूर रहे, इन्होंने पदांश ध्वनि से भी जगह-जगह काम लिया है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

"मेरो मनोरथ हु बहिये अरु हैं मो मनोरथ पूरनकारी।"

आगे मिश्रजी घनआनन्द की भाषागत विशेषता का निष्कर्ष देते हुए कहते हैं—"इससे स्पष्ट होता जाता है कि घनआनन्दजी ब्रजभाषा के तो पूरे जानकार थे ही, भाषा की गति को भी भाव के अनुकूल मोड़ सकते थे। ये 'ब्रजभाषा प्रवीण' और 'भाषा-प्रवीण' दोनों ही थे।" एक और स्थान पर भी मिश्रजी ने घनआनन्द के भाषागत वैशिष्ट्य की चर्चा यों की है—"वाणी के विस्तार की सीमा वस्तुतः ये ही जानते थे। भावों का कोश वाणी के प्रतीकों द्वारा उद्घाटित करने की शक्ति इन्हीं में थी। हृद्गत अनुभूतियों को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए भाषा की गति निरन्तर बाधित होती रहती है। इन कवियों ने लाक्षणिक और व्यंग्यमूलक पद्धति पर अधिकाधिक चलकर यह बाधा दूर कर दी है। ये भाषा की गति तीव्र करने वाले और पदन्यास की सूक्ष्मता का मर्म समझने वाले थे।"[२] सारांश यह है कि रीतिमुक्त धारा के कवियों के काव्य में भाषा की शक्ति देखने योग्य है। ब्रजभाषा का इन कवियों ने परिमार्जन करके एवं

१—घनआनन्द कवित्त—प्रस्तावना—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ८-९
२—वही पृ० ३

तत्सम शब्दों का प्रयोग करके उसे सुसंस्कृत एवं शक्तिशाली बनाया और दो सौ वर्ष तक वह हिन्दी साहित्यक्षेत्र में एकच्छत्र राज्य करती रही। यहाँ तक कि आधुनिककाल में भी रत्नाकर के 'उद्धव-शतक', वियोगी हरि की भक्ति विषयक रचनाओं में इसका प्रयोग हुआ जो इसकी महत्ता का परिचायक है।

हाँ, रीतिबद्ध कवियों की भाषा में मुसलमानी संस्कृति एवं फारसी शैली का प्रभाव गहरा है। तत्कालीन राजा-महाराजाओं के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण होने से रीतिबद्ध कविता में कहीं-कहीं फारसी के लच्छेदार शब्द सुनाई पड़ जाते हैं। इसलिए उनकी भाषा में सुकुमारता भी अधिक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीति-कविता की भाषागत इस प्रवृत्ति को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ, परन्तु उसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया कि वह गंभीर विचार-प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।" द्विवेदी जी का यह मत रीतिमुक्त कवियों की भावागत विशेषताओं का उद्घाटन नहीं करता है।

५—**नारी के प्रेमिका स्वरूप का प्राधान्य**—शृंगारकाल की कविता में नारी केवल पुरुष के रतिभाव का आलम्बन बनकर रह गई है। उसके सामाजिक अस्तित्व का उद्घाटन नहीं हो पाया है। रीतिमुक्त कवि घनआनन्द के उन्मुक्त प्रेम के गीतों में भी 'सुजान' से मिलने की तड़पन ही व्यक्त है, सुजान का कोई सामाजिक रूप वर्णित नहीं है। इसी प्रकार रीतिबद्ध कवि देव, बिहारी, मतिराम इत्यादि में नारी के जीवन के व्यापक क्षेत्रों का परिचय नहीं मिलता वरन् एकमात्र नारी देह की शोभाओं एवं चेष्टाओं का अवलोकन ही मिलता है। उसके अंग-प्रत्यंग की शोभा, हाव-भाव, विलास चेष्टाएँ इत्यादि प्रमुख विषय बन गए हैं। कृष्ण की शृंगारकालीन राधा का केवल नायिका रूप ही उद्घाटित हुआ है, ब्रज प्रदेश के गाँव में समाज के बीच में उसका रूप प्रदर्शित नहीं हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शृंगारकाल की इस प्रवृत्ति को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संघटन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बंधन से यथासंभव मुक्त विलास का एक उपकरण-मात्र है। देव ने कहा है—

कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कों चित हरै करि प्रीति॥

इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, वह केवल पुरुष के आकर्षण का केन्द्र भर है।"[1]

६—लक्षण ग्रन्थों की प्रधानता—शृंगारकाल में रीतिबद्ध कवियों की प्रमुखता है। इन कवियों ने रीति या शास्त्र की भूमिका पर अपनी कविता का निर्माण किया है। इन्हें संस्कृत के शास्त्र पक्ष की समृद्ध भूमिका मिली थी। इसलिए इनमें से कुछ कवियों ने काव्यशास्त्र के लक्षणों को पद्यबद्ध करके लक्ष्य रूप में अपनी रचना प्रस्तुत की है। कुछ कवियों ने लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे किंतु उनका सारा बंधन रीति की परिपाटी पर है। इस प्रकार लक्षण और लक्ष्य दो प्रकार के काव्य ग्रन्थों की रचना रीतिबद्ध कवियों ने की। केशव ने सर्वप्रथम शास्त्रीय पद्धति पर रस और अलंकारों का निरूपण रसिकप्रिया और कविप्रिया में किया; किंतु चिंतामणि त्रिपाठी से लक्षण ग्रन्थों की अखंड परम्परा चलती रही। इस कारण लक्षण ग्रन्थों की बहुलता हो गई। रीतिग्रन्थों की परम्परा का वर्णन करते हुए हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे। किंतु इस लक्षण ग्रन्थों की प्रधानता के सम्बन्ध में एक बात महत्वपूर्ण है, वह है इनमें मौलिकता का अभाव। इन ग्रन्थों में रीतिबद्ध कवियों ने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है वरन् संस्कृत के काव्य-शास्त्र के विवेचन को भाषा में पद्यबद्ध कर दिया है। केवल लक्ष्य ग्रन्थ लिखने वाले कवियों ने रीति का कसाव कुछ ढीला कर दिया है किन्तु फिर भी रीति की परिपाटी का ज्ञान हुए बिना इनकी कविता को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता है।

७—प्रकृति का उद्दीपक रूप में चित्रण—शृंगारकाल में प्रकृति के आलम्बन रूप में चित्रण का प्रायः अभाव ही है। वैसे तो यदि सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' को शृंगारकालीन कविता मान लें तो प्रकृति के आलंबन रूप में भी बड़े सुन्दर चित्रण मिल जाते हैं। इसी प्रकार केशव की रामचन्द्रिका में प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है। किन्तु प्रमुखतया प्रकृति शृंगारकालीन

१—हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३००

कविता में उद्दीपक रूप में ही आयी है। प्रकृति का चित्रण नायक-नायिका की मानसिक दशा के अनुकूल ही किया गया है। संयोग में प्रकृति का खिला हुआ उन्मादकारी रूप है तो वियोग में वह दग्ध करने वाली है। प्रकृति का उद्दीपन रूप का चित्रण षट्ऋतु और बारहमासे की पद्धति पर ही प्रमुख रूप से मिलता है।

८—वीर रस की कविता—

शृंगार के साथ-साथ इस काल में कुछ वीररस की भी उत्कृष्ट रचनाएँ हुईं जो अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। मुसलमान शासन भारत में विदेशी था। भारतीय जाति ने इनके कठिन अत्याचारों से पीड़ित होकर इनके विरुद्ध सिर उठाया। मराठे, सिख और कुछ रजवाड़े इस विद्रोह को आगे बढ़ाने वाले थे। मराठों में वीर छत्रपति शिवाजी का नाम बहुत ऊँचा है। भूषण कवि ने अपने उत्कृष्ट वीरकाव्य का उन्हें आलम्बन बनाया। वीर बुन्देला छत्रसाल भी ऐसा ही उत्कृष्ट राष्ट्रीय वीर था। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने हिन्दू वीरों की वीरता के सम्बन्ध में उत्कृष्ट वीररस की कविता का सृजन किया।

संक्षेप में यही शृङ्गारकाल की मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं। आगे हम रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और वीररस की काव्य-धारा के विकास का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

शृंगार की रीतिबद्ध कविता

शृंगार की रीतिबद्ध-धारा में लक्षण ग्रंथों का सृजन बहुत अधिक हुआ। प्रायः सभी प्रमुख आचार्य कवियों ने काव्य-शास्त्र के लक्षणों को पद्यबद्ध किया और उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये। कुछ कवि ऐसे भी थे जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ तो नहीं लिखे किन्तु असली कविता का सारा बंधन रीति के आधार पर ही बाँधा है। इसी प्रकार अपनी रचना पद्धति में ये भी पूर्णतया रीतिबद्ध थे और इसीलिए इनकी रचनाओं को अच्छी तरह समझने के लिए रीतिशास्त्र की जानकारी अपेक्षित है। इन कवियों ने लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे इसीलिए इनकी रचनाओं में रीति का बंधन कुछ ढीला है। इस प्रकार रीतिबद्ध धारा के कवि दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—लक्षण और लक्ष्य दोनों

को प्रस्तुत करने वाले और केवल लक्ष्य एवं उदाहरण प्रस्तुत करने वाले। प्रथम प्रकार के कवियों को लक्षणबद्ध और दूसरों को लक्ष्यबद्ध संज्ञा देना उचित रहेगा। यहाँ हम पहले शृ गारकाल की लक्षणबद्ध कविता का परिचय देंगे।

शृंगारकाल में रीतिग्रंथों की परम्परा

प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने काव्य की आत्मा खोजने का प्रयत्न किया और फलस्वरूप काव्यात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले पाँच सम्प्रदाय बने—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस सम्प्रदाय। इन पाँचों सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने मत से काव्य की आत्मा का विवेचन किया। अलंकार सम्प्रदाय वालों ने अलंकृतवाणी को ही काव्य की आत्मा माना। रीति सम्प्रदाय वाले 'रीति' या शैली को काव्य की आत्मा मानते हैं। रीति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन ने कहा भी है—'विशिष्टा पद रचना रीतिः।' शृ गारकाल के अन्तर्गत रीति-ग्रन्थों से तात्पर्य रीति सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन करने वाले विशेष ग्रन्थों से नहीं है अपितु इसके अन्तर्गत उपर्युक्त पाचों सम्प्रदायों के काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित उनके आधार पर लिखी गई रचनाओं से है। इसलिए रीतिग्रन्थों की परम्परा का अध्ययन करने के लिए संस्कृत के उक्त सम्प्रदायों की भी थोड़ी सी चर्चा कर लेनी उपयुक्त होगी। कारण भी स्पष्ट है, हिंदी के रीति ग्रन्थों का मूल स्रोत संस्कृत के लक्षण ग्रन्थ ही हैं। संस्कृत के उक्त पांच सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय तो अधिक जीवित भी न रह सके। इस प्रकार हिंदी के रीति कवियों के सम्मुख संस्कृत के तीन काव्य संप्रदाय और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ थे। ये सम्प्रदाय—ध्वनि, रस और अलंकार है। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य थे। इस संप्रदाय के ग्रन्थों में सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन मिलता है। हिन्दी में ध्वनि सम्प्रदाय के विवेचन ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' का अनुकरण किया। रस की शास्त्रीय विवेचना सर्वप्रथम भरतमुनि ने की थी। शृ गारकाल के रीतिग्रन्थकारों ने शृ गाररस को प्रधानता दी। वैसे अन्य रसों की भी थोड़ी बहुत चर्चा आ जाती है। भरतमुनि का 'नाट्य शास्त्र' प्रमुख अनुकरणीय

ग्रन्थ था। श्रृंगार की प्रधानता होने के कारण नायक-नायिका-भेद ग्रन्थ भी रचे गए जिनमें श्रृंगाररस के आलंबनों के सूक्ष्म भेदोपभेद देकर उदाहरण लिखे जाते थे। भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रस तरंगिणी' प्रमुख अनुकरणीय ग्रन्थ थे। तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय अलंकार शास्त्र था जिसका हिन्दी रीतिग्रन्थ-कारों ने विशेष अनुकरण किया। जयदेव के चन्द्रालोक और अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द इस विषय के प्रसिद्ध अनुकरणीय ग्रन्थ रहे। इस सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती आचार्य भामह, उद्‌भट इत्यादि का विशेष अनुकरण नहीं हुआ।

श्रृंगारकाल के संस्कृत में उक्त तीन सम्प्रदायों के अनुकरण पर रचे गये प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—**ध्वनि सम्बन्धी या संपूर्ण काव्यांगों का विवेचन करने वाले** भिखारीदास का 'काव्य निर्णय', चिंतामणि त्रिपाठी का 'काव्य-विवेक' 'कविकुल कल्पतरु' और काव्य प्रकाश इत्यादि।

रस-सम्बन्धी—केशव की 'रसिक प्रिया', मतिराम का 'रस राज', तोष का 'सुधानिधि', कुलपति का 'रस रहस्य' सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव', महाराजा रामसिंह का 'रसनिवास' और 'रसविनोद', देव का 'भाव विलास' आदि।

अलंकार सम्बन्धी—केशव की 'कविप्रिया', महाराजा जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण', महाराजा रामसिंह का 'अलंकार दर्पण', मतिराम का 'ललित ललाम', भूषण का 'शिवराज भूषण', श्रीपति की 'अलंकार गंगा,' रसिक सुमति का 'अलंकार-चन्द्रोदय' आदि।

यद्यपि हिन्दी के श्रृंगारकालीन कवियों ने संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों की परम्परा का अनुकरण किया परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की। इस रीति ग्रन्थों में काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन मण्डन, नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हो सका। इसका एक कारण यह भी था कि उस समय ऐसे विवेचन के लिए गद्य का विकास नहीं हुआ था। शास्त्रीय गद्य के अभाव में उनका विवेचन शिथिल और बहुत कुछ अस्पष्ट रहा। इस अवस्था में चन्द्रालोक की यह पद्धति सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कह कर कवि अपने आचार्यत्व की इति कर देते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रृंगारकालीन रीतिबद्ध कवि अपनी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय न दे सके जो संस्कृत के लक्षण ग्रन्थकारों में मिलती

है। हाँ, एक बात में शृंगारकाल के लक्षण ग्रंथकार संस्कृत लक्षण ग्रंथकारों से आगे बढ़ गए हैं, वह है इनकी सरस कविता। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न श्रेणी के व्यक्ति होते थे, शृंगारकाल में दोनों का एक ही में एकीकरण हो गया है। कुछ ऐसे भी रीतिबद्ध कवि मिलते हैं जिन्होंने लक्षण ग्रंथ न लिखकर रसों और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किए। इनकी यह विशेषता शुक्ल जी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुई है—"ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

अब हम शृंगारकाल की रीति-ग्रंथ-परम्परा और उसके प्रमुख कवियों का संक्षेप में परिचय देंगे।

रीति-ग्रन्थों का प्रवर्तक—हिन्दी-रीति-ग्रंथों की परम्परा कब से चली इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। भक्त कवियों में सर्वप्रथम नन्ददास (लगभग सं० १६००) ने 'रस मंजरी' लिखकर नायिका भेद का निरूपण किया है किन्तु यह भानुदत्त (१४वीं श०) की संस्कृत में लिखी 'रस मंजरी' का पद्य में अनुवाद ही है। कुछ विद्वान् कृपाराम की हिततरंगिणी (सम्वत् १५९८) को नायिका भेद की प्रथम भाषा पुस्तक मानते हैं किन्तु श्री चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार यह परवर्ती काल की रचना है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर इसका रचनाकाल संवत् १७९८ ठहरता है। इसलिए इसका विवेचन बाद में करना ही ठीक रहेगा। काव्यांगों का सम्यक् विवेचन भाषा में सबसे पहले आचार्य केशवदास ने किया। डा० श्यामसुन्दरदास इनको हिन्दी रीति-ग्रंथों का प्रवर्तक मानते हैं। इनकी 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में क्रमशः अलंकार और रसों का विवेचन हुआ है। शुक्ल जी ने इससे पहले एक और लेखक करनेस बन्दीजन के तीन अलंकार ग्रंथों की चर्चा की है—कर्णाभरण, श्रुति भूषण और भूपभूषण। किन्तु इन ग्रन्थों का कोई पता नहीं चलता। इसलिए ये ग्रन्थ 'नोटिस' मात्र हैं। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार "हिन्दी में रीति-ग्रंथों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर

नहीं ।" आगे शुक्ल जी स्पष्ट कहते हैं "हिन्दी रीतिग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से चली अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए ।" इस प्रकार हिन्दी में रीति-ग्रंथों के प्रवर्तक के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । शुक्ल जी ने केशवदास को रीति-ग्रंथों का प्रवर्तक मानने के विरुद्ध दो तर्क उपस्थित किए हैं । पहला यह कि केशव की 'कविप्रिया' के पचास वर्ष बाद तक हिन्दी में कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा गया । दूसरा, यह कि बाद में भी जो रीति-ग्रन्थों की परम्परा चली वह "केशव के दिखाये हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्‌भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली, जिसमें अलंकार-अलंकार्य्य का भेद हो गया था । हिन्दी के अंककार ग्रन्थ अधिकतर 'चन्द्रलोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुसार निर्माण हुए । कुछ ग्रन्थों में 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का भी आधार पाया जाता है । काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया है ।" (शुक्ल जी) शुक्ल जी ने आगे चिंतामणि त्रिपाठी से रीति-ग्रंथों की अखण्ड परम्परा की चर्चा करते हुए कहा है "उसके उपरान्त तो लक्षण ग्रन्थों की भरमार सी होने लगी । कवियों ने कविता लिखने की यह प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलङ्कार या रस का लक्षण लिखना फिर उनके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना ।"

सारांश यह कि शुक्ल जी के अनुसार हिन्दी में रीति-ग्रन्थों का प्रवर्तक चिंतामणि त्रिपाठी (जिनका बाद में अनुकरण भी हुआ) को ही माना जा सकता है । इतना ही नहीं शुक्ल जी ने हिन्दी के रीति-ग्रन्थकार कवियों में केशव की चर्चा भी नहीं की है । उन्होंने केशव को भक्तिकाल की फुटकल रचनाओं के खाते में डाल दिया है । डा० श्यामसुन्दरदास का मत भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है । वे केशव को रीतिकाल का आदि प्रवर्तक मानते हैं । "यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते; परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की

हिन्दी काव्यधारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए, और हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाए।" एक बात तो स्पष्ट है कि केशवदास अपने काव्य की मूल प्रेरणा संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों से लेते हैं। उन्होंने 'रामचन्द्रिका' की रचना की फिर भी वे भक्त कवि नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके काव्य की मूल प्रेरणा भक्ति नहीं है। इसीलिए वे निश्चय रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम रीति-ग्रन्थकार ठहरते हैं। अब रीति ग्रन्थों का प्रवर्तन उन्होंने किया या नहीं यह विवादास्पद है। शुक्लजी का तर्क यह है कि प्रवर्तक कवि वही हो सकता है जिसके परवर्ती लोग प्रेरणा लेकर उसका अनुगमन करें। इस दृष्टि से केशव प्रवर्तक कवि नहीं ठहरते। किन्तु यह बात सर्वत्र ठीक नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि नवीन प्रवृत्ति का प्रवर्तन करने वाले के कुछ समय बाद उस प्रवृत्ति की परम्परा चले। केशव ने निश्चय ही रीति ग्रन्थ लिखने की परिपाटी का आरम्भ किया। शुक्लजी का दूसरा तर्क यह है कि परवर्ती रीति ग्रन्थकार केशव के माने हुए संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि केशव ने रीति ग्रन्थ लिखने की परिपाटी प्रारम्भ की। यह बात दूसरी है कि आगे के रीति-ग्रन्थकारों ने जिन आचार्यों का आधार लिया, केशव ने उन्हें छोड़कर अन्य आचार्यों के मतों को अपनाया। खैर जो भी हो, केशव ने हिन्दी में सर्वप्रथम रीतिग्रन्थों का सृजन किया। अपनी अनुकरणीय विशेषताओं के कारण यदि चिन्तामणि त्रिपाठी रीति ग्रन्थों के प्रवर्तक माने जायें तो भी केशवदास का महत्त्व कम नहीं हो जाता है।

आचार्य केशवदास—(जन्म सम्वत् १६१२) ओरछा नरेश के भाई इन्द्रजीतसिंह के आश्रय में केशव की कविता का पल्लवन हुआ। यों तो इनकी 'रामचन्द्रिका' राम कथा पर लिखा उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य है जिसमें इनकी भक्ति-भावना भी प्रदर्शित हुई है किन्तु मूलतः ये रीतिवादी कवि एवम् आचार्य ही थे। इन्होंने सर्वप्रथम रीति-शास्त्र पर भाषा में पद्यबद्ध ग्रन्थ की रचना की। यों तो शुक्लजी ने कृपाराम का समय सं० १५९८ मानकर उन्हें केशव का पूर्ववर्ती माना है किन्तु वस्तुतः कृपाराम का समय, जैसा कि श्री चन्द्रबली पांडेय ने सिद्ध कर दिया है, सं० १७९८ ही ठहरता है और वे केशव के

परवर्ती हैं। इसी प्रकार शुक्लजी ने चरखारी के मोहनलाल और करनेस कवि को भी केशव का पूर्ववर्ती बताया है किन्तु इनका दो कारणों से विशेष महत्त्व नहीं है, एक तो शुक्लजी के शब्दों में "अब तक किसी कवि ने संस्कृत साहित्य में निरूपित काव्यांगों का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम केशवदास जी ने किया।"[१] दूसरे उक्त ग्रन्थों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है।

केशव ने सर्वप्रथम 'कवि-प्रिया' और 'रसिक प्रिया' लिखकर अलङ्कार और रस का सर्वांगपूर्ण विवेचन भाषा में प्रस्तुत किया। अलङ्कार विवेचन में केशव ने भामह, उद्भट, दण्डी आदि प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्यों का अनुसरण किया। किन्तु आगे चलकर शृंगारकाल के रीति ग्रंथकारों ने केशव के आदर्श, इन संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण न करके मम्मट और विश्वनाथ को आदर्श माना। अपने इस रीति शास्त्रीय विवेचन में केशव ने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है। उन्होंने अलङ्कारों और रसों के विवेचन में लक्षणों का विवेचन ज्यों का त्यों संस्कृत के आचार्यों के आधार पर ही किया है। इन काव्यांगों के उदाहरण कहीं-कहीं केशवदास ने बड़े सुन्दर दिये हैं।

रसिक प्रिया में नायक भेद का वर्णन भी अच्छा हुआ है। इस ग्रन्थ की आलोचना करते हुए मिश्रबन्धु लिखते हैं—"इसमें केशवदास ने कविता के कुल अंगों का वर्णन न करके केवल भाव-भेद और रस-भेद का किया है। और वह भी विस्तार पूर्वक नहीं। इसमें जहाँ तक हो सका है, शृंगार रस का ही अवलम्ब लिया गया है। आकार में यह पद्माकरकृत 'जगदविनोद' के बराबर होगा। उत्तमता में मतिराम-कृत 'रसराज' से मिलता-जुलता है; परन्तु उसके बराबर नहीं पहुँचता।"[२]

कविप्रिया में सत्रह अध्यायों में कविता के दोष, कवियों के गुण-दोष, कविता की जाँच, अलङ्कार, बारह मासा, नखशिख और चित्रकाव्य वर्णित है। कविप्रिया की कवि शिक्षात्मक विशेषता का बखान करते हुए मिश्रबन्धु लिखते

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०८

२—हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु, पृ० ३९५-३९६

है—"केशवदास ने अपना पूरा आचार्यत्व इस ग्रन्थ में समाप्त कर दिया है। इसको पढ़ने से मनुष्य कविता का विषय बहुत कुछ जान सकता है। कविता के जिज्ञासुओं को काव्य सीखने में यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है।...... इसमें शृङ्गाररस को कवि ने बहुत कम रखा है, और बहुत से विषयों पर कविता की है। फिर भी इसे प्रधानतः अलङ्कारों का ग्रन्थ कहना चाहिए; क्योंकि अलङ्कारों के अतिरिक्त इसमें गुण-दोष, षट् ऋतु और नखशिख के सिवा कुछ नहीं कहा गया। यह ग्रंथ कुल मिलाकर बहुत विशद बना है और इसी से केशवदास को भाषा काव्य में आचार्य की पदवी मिली है "केशवदास की साग रचनाएँ हैं—रसिक प्रिया, कवि प्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेव चरित्र, विज्ञान गीता, जहाँगीर जस चन्द्रिका, रतन बावनी।

केशवदास अपने कविरूप में अपनी चमत्कारी अलङ्कारवृत्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बिना अलङ्कार की कविता को हीन माना है। इसीलिए समालोचकों को उनमें हृदयपक्ष एवं भावुकता का अभाव दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि इनकी रामचन्द्रिका में अलङ्कारों का बाहुल्य हो गया है और काव्य पक्ष बिलकुल दब गया है।

चिंतामणि त्रिपाठी—इनका जन्म सन् ईस्वी की सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही हुआ था। इनके ग्रंथ ये हैं—छन्द विचार, काव्य-विवेक, काव्य-प्रकाश, रामायण, रस मंजरी और कविकुल कल्पतरु। इनमें कविकुल कल्पतरु ही प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह पुस्तक काव्य प्रकाश के आदर्श पर लिखी गई है। इसमें बड़े सुन्दर उदाहरण हैं। इन उदाहरणों में उनके भावुक कवि हृदय की झलक मिलती है। इससे उनके अच्छे कवि होने का सबूत मिलता है। इनके उक्त ग्रंथों में काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण मिलता है। छन्द विचार में पिंगल शास्त्र का भी सुन्दर निरूपण है। इनके पीछे लक्षण ग्रन्थों की एक अखंड परम्परा चल गई।

मतिराम—(सं० १६७४) ये चिन्तामणि के भाई परम्परा से प्रसिद्ध हैं। रीति-ग्रंथकारों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अलंकार शास्त्र पर

'ललित ललाम' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। इनके 'छन्दसार' में पिंगल शास्त्र का सुन्दर विवेचन है। 'रसराज' इनका रस सम्बन्धी ग्रन्थ है जो इनकी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। 'रसराज' और 'ललितललाम' अपने ढंग के अपूर्व ग्रन्थ हैं, इनमें रस और अलंकार की शिक्षा का सुन्दर परिपाक है। शुक्लजी ने इन दोनों ग्रंथों का रीति ग्रंथों में विशेष महत्त्व निरूपित किया है। उनके शब्दों में "अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलङ्कारों का अभ्यास होता चलता है।" मतिराम की सरस एवं स्वाभाविक रचना का इन ग्रंथों में परिचय मिलता है। इनकी सी चलती भाषा और सरस व्यंजना पद्माकर को छोड़कर शृंगारकाल के अन्य कवियों में नहीं मिलती। मतिराम अपने उदाहरणों के सरस कवित्व के कारण प्रसिद्ध हैं।

भूषण (जन्म सं० १६७०)—वीररस के प्रसिद्ध कवि भूषण ने भी रीति-ग्रंथों की रचना करके रीति-ग्रन्थ-परम्परा में स्थान बना लिया है। ये चिन्तामणि और मतिराम के भाई परम्परा से प्रसिद्ध हैं। इनका 'शिवराज-भूषण' अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ रीति ग्रन्थ की दृष्टि से तथा अलंकार निरूपण के विचार से उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं हैं। इनकी वीररस सम्बन्धी रचनाओं का विवेचन आगे करेंगे। इनके दो प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ शिवाबावनी और छत्रसाल दसक हैं।

जसवन्तसिंह—(जन्म सम्वत् १६८३) मारवाड़ के महाराजा जसवन्तसिंह हिन्दी साहित्य के प्रधान आचार्यों में माने जाते हैं। इनका जयदेव के 'चन्द्रलोक' के आधार पर रचा हुआ 'भाषा भूषण' ग्रन्थ अलंकारों का बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें उनकी कवित्व शक्ति का विशेष परिचय नहीं मिलता क्योंकि उन्होंने इसकी रचना विषय प्रतिपादन की दृष्टि से की है, कविता करने के उद्देश्य से नहीं। इस ग्रन्थ में एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण रखे गये हैं। इसलिए यह ग्रन्थ जिज्ञासु हिन्दी कवियों के पठन-पाठन का सर्वप्रिय ग्रंथ हुआ। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ तत्वज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे हैं।

आगे चलकर 'भाषा भूषण' की तीन टीकाएँ रची गईं इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता सिद्ध है।

भिखारीदास—जसवन्तसिंह की भाँति 'दास' भी अपने आचार्यत्व के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके ग्रन्थों में 'काव्य निर्णय' सबसे उत्कृष्ट है। शुक्लजी के शब्दों में दास जी का महत्त्व रीति ग्रन्थकारों में इस प्रकार है—"काव्यांगों के निरूपण में दास जी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होंने छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया·······इनकी विषय प्रतिपादन शैली उत्तम है और आलोचन शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है।" इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—रस सारांश, छन्दोर्णव-पिंगल, काव्य-निर्णय, नामप्रकाश, विष्णु-पुराण भाषा, छन्द प्रकाश इत्यादि।

महाकवि देव—(जन्म सम्वत् १७३०) शृंगार काल के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कवि देव का विचार क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। ये आचार्य और कवि दोनों रूप में महान् हैं। इन्होंने रीति सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं और उनमें काव्यांगों का अच्छा निरूपण किया है। शुक्लजी ने इनके प्राप्त ३५ ग्रन्थों की सूची दी है किन्तु रीति की दृष्टि से इनके दो ग्रन्थ ही प्रसिद्ध हैं—भाव-विलास और काव्य रसायन या शब्द रसायन। सभी रसों का सर्वांगपूर्ण विवेचन शब्द रसायन में प्राप्त होता है। भाव-विलास में रस के अतिरिक्त अंगों एवं रस-परिपाक का सम्यक् विवेचन है परन्तु इसमें केवल शृंगार रस को ही लिया गया है। इसमें थोड़ा सा अलंकार निरूपण भी मिल जाता है। शब्द-रसायन में अलंकारों का विस्तार से निरूपण मिलता है। शब्द रसायन में शब्द-शक्ति, गुण-रीति और पिंगल का भी क्रमिक विवेचन है। इसके अतिरिक्त काव्य की आत्मा, काव्य शरीर, काव्य प्रयोजन और उसकी महिमा आदि के विषय में भी इन्होंने स्थान-स्थान पर सामान्य सिद्धान्त दिये हैं। देव ने नायिका भेद का शृंगार रस से पृथक् विवेचन किया है। उनके अधिकांश ग्रन्थों में इसका वर्णन है। उन्होंने इसे बहुत महत्त्व दिया है—'वाणी को सार बखान्यो, शृंगार को सार किसोर-किसोरी।' इन्होंने नायिकाओं के देश, प्रकृति, सत्व और अंश के आधार पर नये भेद किये। इसी प्रकार रस के

सम्बन्ध में इनकी अपनी अलग स्थापना है। अलङ्कारों का विवेचन दण्डी के अनुसार हुआ है। छन्द के उदाहरण और लक्षण एक ही छन्द में प्रस्तुत करना इनकी विशेषता है। तात्पर्य यह है कि दोषों को छोड़कर काव्य के प्रायः सभी अंगों का विवेचन देव के ग्रन्थों में पाया जाता है। कुछ विद्वान आचार्यत्व में इन्हें शृंगारकाल के कवियों में सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। किन्तु इनका विवेचन प्रायः संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ही अधिक हुआ है; उसमें मौलिक उद्‌भावनाएँ नहीं दिखाई पड़ती हैं। कवित्व की दृष्टि से इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी भाषा में प्रवाह है।

मण्डन—(सं० १७१६) इनके 'रस रत्नावली', 'रस विलास' ग्रन्थों में रस निरूपण है। इनकी कविता फुटकल पदों के रूप में ही प्राप्त है। उक्त ग्रन्थों का कोई पता नहीं चलता।

कुलपति मिश्र—(कविताकाल १७७०-१७८३) ये कवि बिहारीलालजी के भान्जे प्रसिद्ध हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रस रहस्य' मम्मट के काव्य-प्रकाश का छायानुवाद है। इसमें इन्होंने रस-निरूपण में गद्य-पद्य दोनों का व्यवहार किया है। इनके अन्य ग्रंथ ये हैं—द्रोणपर्व, युक्तितरंगिणी, नखशिख, संग्रामसार।

कालिदास त्रिवेदी—इन्होंने 'वर-वधू-विनोद' नाम से नखशिख और नायिकाभेद की पुस्तक लिखी।

सुखदेव मिश्र—इनके रीति ग्रंथों में वृत्तविचार, छन्द विचार, रसार्णव, शृंगारलता प्रसिद्ध हैं। रसार्णव में शृंगार के सुन्दर उदाहरण हैं।

अन्य शृंगारकालीन कवियों में श्रीधर (सम्वत् १७२७), सूरतिमिश्र (जन्म सं० १६८२), कवीन्द्र उदयनाथ (सं० १७३६), श्रीपति (सं० १७७७) कृपाराम (सं० १७९८), दलपतिराय और वंशीधर, 'रसपियूषनिधि' के रचयिता सोमनाथ, रघुनाथ, 'कविकुल कण्ठाभरण' के रचयिता दूलह, मनीराम मिश्र (लगभग संवत १८००), वेनी वन्दीजन, बेनी प्रवीन और पद्माकर, ग्वाल, प्रतापशाहि इत्यादि प्रसिद्ध रीति-ग्रन्थकार हैं।

रीति-ग्रन्थों की परम्परा का अध्ययन करने के बाद अब हम संक्षेप में इनकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे—

रीतिग्रन्थों की सामान्य विशेषतायें—

१—हिन्दी के शृङ्गारकालीन रीतिग्रन्थ संस्कृत के काव्य-सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए हैं। कुछ तो संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद एवं छायानुवाद रूप में हैं जैसे कुलपति मिश्र का रस-रहस्य। इन ग्रन्थों में मौलिक उद्भावनाएँ नहीं मिलती हैं।

२—इन ग्रन्थों में काव्य की विशेषताओं को समझने और समझाने का प्रयत्न है।

३—इस पद्धति पर रचे गये काव्य के अंग-उपांगों के लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण अधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हुए। बेनी प्रवीन कवि ने ही चार रीति-ग्रन्थों की रचना की है किन्तु वे अपने सरस उदाहरणों के लिए ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार हिन्दी के रीति के आचार्य कवि भी थे। संस्कृत में आचार्य एवं कवि दोनों कर्म पृथक् मिलते हैं किन्तु शृङ्गारकाल में यह भेद लुप्त हो गया है। रीतिग्रन्थकार उत्कृष्ट कवि भी हैं। कवित्व की दृष्टि से इनका काव्य बड़ा मनोरम और समृद्ध है।

४—हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों ने प्रायः पद्य में ही रीति ग्रन्थों का प्रणयन किया। कहीं-कहीं बीच-बीच में गद्य का पुट भी मिल जाता है जैसे कुलपति मिश्र के 'रस रहस्य' में। किन्तु पद्य की प्रधानता से काव्यशास्त्र का विवेचन इन ग्रन्थों में संस्कृत के काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की भाँति सुलझे हुए एवं स्वाभाविक नहीं हो पाए हैं। व्रजभाषा के पद्य में काव्यांगों का गम्भीर एवं शास्त्रीय विवेचन संस्कृत ग्रन्थों की अपेक्षा निम्नकोटि का है।

५—हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों ने नायिका भेद को शृंगार रस से अलग करके उसे विशेष महत्त्व प्रदान किया है। वैसे अन्य काव्यांगों का भी वर्णन मिलता है किन्तु शृंगारकाल की मुख्य प्रवृत्ति शृंगार रस का विवेचन होने के कारण और नायिका भेद के प्रति तत्कालीन कविता के प्रेरणा स्रोतों का आकर्षण होने के कारण इनका प्राधान्य हो गया है। नायिकाभेद में देव आदि आचार्यों ने नवीन आधार लिये हैं।

कुछ अन्य रीतिबद्ध कवि

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, शृंगारकाल के कुछ रीतिबद्ध कवियों ने लक्षण ग्रन्थ लिखने का बखेड़ा न करके केवल उनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, फिर भी इन्होंने रीति की जानकारी का पूरा-पूरा उपयोग किया है। इसलिए इनके काव्य का पूर्ण रस अवगाहन करने के लिए रीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। इन्होंने अपनी रचनाओं में चमत्कार प्रदर्शन का थोड़ा खुला प्रयत्न किया है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में इन कवियों की विशेषता इस प्रकार है—"रीति या शास्त्र की जमीन पर ही इन्होंने पच्चीकारी की है, इसीसे बिना रीति या नायिका के भेद आदि की पक्की जानकारी के इनके बहुत से छन्द बुझौवल से प्रतीत होंगे, अर्थात् इन्होंने बंधान रीति के बल पर ही बाँधा है, उसी में टेढ़े-सीधे मार्ग निकाले हैं। फिर भी रीति के भार से इनकी कविता लक्षण-ग्रंथ-प्रणेताओं की कृति की अपेक्षा कुछ कम दबी है। इन्होंने बंधन ढीला कर लिया है, इसीसे इनमें कुछ ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं जैसी शुद्ध शास्त्र-स्थिति-संपादन की इच्छा रखने वालों में कदापि नहीं मिल सकतीं।" बिहारीलाल ऐसे कवियों में सबसे प्रमुख हैं।

बिहारीलाल—(जन्म लगभग सं० १६६०)—शृंगारकाल के सर्वाधिक जनप्रिय कवि और उत्कृष्ट-काव्य-कला के शिल्पी हैं। ये माथुर चौबे थे और मिर्जा राजा जयसाहि (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। इनकी 'सतसई' में रीति के आधार पर सुन्दर कविता का सृजन हुआ है किन्तु यह रीति-ग्रंथ कदापि नहीं है। शुक्ल जी ने सतसई की प्रशंसा यों की है—"शृंगार रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इनका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं।" बिहारी से पूर्व भी रीतिकाव्य की रचना हुई और उनके बाद तो सतसई का पर्याप्त अनुकरण हुआ। रीत-काव्य की परम्परा का विवेचन करने पर ही बिहारीलाल का ठीक-ठीक मूल्याङ्कन हो सकेगा।

शृंगार रस का रस राजत्व संस्कृत में ही स्वीकार किया जा चुका था। पहले पहल जयदेव ने गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण को अभिनव रूप में उपस्थित

किया। विद्यापति ने अपने काव्य की प्रेरणा जयदेव के गीतागोविन्द से ली। शृंगारकाल की पृष्ठभूमि में विद्यापति और सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों की कृष्ण के माधुर्य भाव को लेकर रची हुई बहुत सी रचनाएँ थीं किन्तु बिहारी ने राधा-कृष्ण को भक्त कवियों से भिन्न रूप में रखा। यह तो हुई राधाकृष्ण की मधुर-भाव की काव्य परम्परा जिसमें रीति-काव्य की सी ऊहात्मकता नहीं थी। रीति-काव्य पर संस्कृत की रीति कविता का भी प्रभाव पड़ा। संस्कृत में जब रीतिशास्त्र का निर्माण हुआ तो पूर्ववर्ती काल में कुछ कवियों ने उनके उदाहरण के रूप में कविता का सृजन किया। 'अमरुक शतक' ऐसा ही ग्रंथ है। इसमें श्लोकों से नायिका-भेद की चर्चा मिलती है। शातवाहन हाल ने प्राकृत भाषा की 'गाथा सप्तशती' का संकलन किया। इसमें ग्राम्य जीवन के सादे चित्रों का बाहुल्य है। विद्वान आलोचक इसमें नायक या नायिका के उदाहरण खोज निकालते हैं। आगे चलकर आचार्य गोवर्धन ने गाथा सप्तशती से प्रेरणा लेकर आर्यासप्तशती की रचना की। इसमें भी नायक-नायिका भेद का चमत्कार संस्कृत भाषा में है। इसी की छाप पर १८ वीं शताब्दी के अल्मोड़े के विश्वेश्वर कवि ने भी एक आर्यासप्तशती की रचना की। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन साहित्य में सतसई एवं शतक की परम्परा का उद्‌घाटन करते हुए कहा है—"वस्तुतः सात सौ, या तीन सौ, या सौ फुटकल पद्यों के संग्रह के रूप में काव्य रचना की प्रथा इस देश में बहुत पुराने काल से होती आ रही है। गीता में सात सौ श्लोक हैं, जोड़बटोर कर चन्डी पाठ के श्लोकों की संख्या को भी सात सौ बनाने की कोशिश की गई है।....प्राचीन भारत में कवि लोग प्रायः ही अपनी फुटकल पद्यों की रचनाओं को संख्या-परक नाम दे दिया करते थे।" इसके आगे द्विवेदी जी ने सतसई आदि ग्रंथों की परम्परा का विकास संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में दिखाते हुए बिहारी की सतसई की महत्ता का प्रकाशन इन शब्दों में किया है—"इस प्रकार बिहारी की सतसई किसी रीति-मनोवृत्ति की उपज नहीं है। यह एक विशाल परम्परा के लगभग अन्तिम छोर पर पड़ती है और अपनी परम्परा को सम्भवतः अन्तिम बिन्दु तक ले जाती है।"

बिहारी ने तीन ग्रंथों से विशेष सहायता ली है—अमरुक शतक, गाथा

सप्तशती और आर्यासप्तशती। वस्तुतः इन तीनों ग्रंथों के बहुत से पद्यों को बिहारी ने ज्यों का त्यों भाषा में रख दिया है। भावों की चोरी तो बहुत मिलती है। पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से 'मजमून' छीन लिया है। केशरीप्रसाद चोरसिया के शब्दों में—"इन्हीं सतसइयों एवं स्फुट मुक्तकों के सहारे बिहारी ने अपनी सतसई की रचना की। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि बिहारी ने नकल की हुई वस्तु पर अपनी अनूठी प्रतिभा की पालिश चढ़ाकर उसे एकदम नया और मौलिक बना दिया। अर्थ गम्भीर्य, भाषा सौष्ठव, सुन्दर सूक्ष्मदर्शिता एवं बहुज्ञता सभी दृष्टि से सतसई का अपना एक अप्रतिम स्थान है। मानव जीवन की कोमलतम सूक्ष्म अनुभूतियों का जैसा चित्र बिहारी सतसई में विद्यमान है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।"

बिहारी सतसई की कई विशेषतायें हैं। एक तो उसमें समास पद्धति का सुन्दर उत्कर्ष है। दोहो जैसे छोटे छन्द में सुन्दरतम भावों, विचारों और कल्पनाओं का बड़ा सुन्दर सामंजस्य हुआ है। दूसरे इसमें काव्यत्व का भी उत्कर्ष है। इसमें ध्वनि-काव्य है। रस नायिका भेद, अलंकार इत्यादि की दृष्टि से सतसई के दोहे कवि की भावुकता और उसके पांडित्य के साक्षी हैं। इनमें हाव भावों का बड़ा ही सजीव और मनोवैज्ञानिक वर्णन हुआ है। तीसरे इनमें प्रकृति का भी कहीं-कहीं आलम्बन रूप में सुन्दर चित्रण मिलता है। चौथे इसके नीति सम्बन्ध दोहों में सांसारिक विषयों पर बड़ी ही मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। पांचवें, इसमें भक्ति सम्बन्धी दोहों में कवि भावुक भक्त के रूप में हमारे सामने आता है। छठे, इसमें सूक्ति एवं सुभाषित का बड़ा उत्कर्ष देखने को मिलता है। बिहारी की दो अन्योक्तियाँ तो अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। एक ने तो छोटी रानी के प्रेम में लीन एवं राजकाज भूले हुए जयपुर नरेश को रास्ते पर ला दिया। यह बड़ी मार्मिक अन्योक्ति है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

दूसरी प्रसिद्ध अन्योक्ति औरंगजेब की ओर से हिन्दू राजाओं से लड़ने वाले जसवन्तसिंह के ऊपर थी—

स्वारथ सुकृत न, श्रम वृथा, देखि विहंग विचारि;
बाज पराये पानि पर, तू पंछीन न मारि।

सतसई की सातवीं विशेषता, इसमें नायिका भेद एवं काव्य रीति के अन्य अंगों का भी सुन्दर विवेचन सुन्दर दोहों में हुआ है। नायिका भेद के उदाहरण बिहारी के दोहों में बड़े सटीक हैं। इसीलिए बिहारी की सतसई को अच्छी तरह समझने के लिए रीति की जानकारी भी अपेक्षित है। सतसई की आठवीं विशेषता इसमें अलङ्कारों की सुन्दर योजना, रस की मधुर व्यंजना और शब्दों के लालित्य का एक ही स्थान पर संयोजन है।

परवर्ती शृंगारकाल के कवियों ने भी बिहारी की लोकप्रिय सतसई का जमकर अनुकरण किया। बिहारी की सतसई के अनुकरण पर लिखी गई मतिराम की सतसई, रसनिधि का रतनहजारा, रामसहाय की राम सतसई और विक्रमशाह की विक्रम सतसई इत्यादि हैं। इनमें मतिराम की सतसई बिहारी सतसई के कुछ निकट पहुँच सकी है। अन्य सतसई तो बिहारी की छाँह भी नहीं छू सकीं। बिहारी ने पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में माया और आर्या सप्तशती के 'मजमून छीन लिए' लेकिन बिहारी की सतसई को आदर्श मान कर चलने वाले कवियों ने उनके भावों का अपहरण करके उनकी बड़ी छीछालेदर की। उन्होंने मजमून को बिगाड़ दिया। बिहारी की सतसई का सौन्दर्य उनकी समास पद्धति, भाषा सामर्थ्य एवं शब्द-चयन पर है। अमरुक-शतक में एक भाव के लिए एक बड़ा श्लोक है। बिहारी ने उसे आद्यन्त काट-छाँट कर और अभिधा के स्थान पर व्यंजना का प्रयोग करके सतसई के दोहों का उत्कर्ष अमरुक के श्लोक से भी बढ़ा दिया है। इसी भाषा सामर्थ्य के अभाव के कारण परवर्ती सतसईकार बिहारी की छाँह भी नहीं छू सके। बिहारी की सतसई की सबसे बड़ी विशेषता उसकी लोकप्रियता है। उस पर पचासों टीकाएँ लिखीं गईं जिनमें कुछ पद्य में भी हैं। क्या प्राचीन और क्या आधुनिक सभी सहृदय समालोचकों का हृदय बिहारी की सतसई की कारीगरी पर मुग्ध है। यहां हम केवल प्रसिद्ध कवि रामधारीसिंह दिनकर के कुछ शब्द प्रस्तुत करते हैं, इनमें बिहारी की कारीगरी का अच्छा मूल्याङ्कन हुआ है—"बिहारी के दोहों में न तो कोई बड़ी अनुभूति है, न कोई ऊँची बात, सिर्फ

लड़कियों की कुछ अदाएँ हैं मगर कवि ने उन्हें कुछ ऐसे ढब से चित्रित किया है कि आज तक रसिकों का मन कचोट खाकर रह जाता है। जो लोग कविता में सिर्फ ऊँची अनुभूति या ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातों की तलाश में रहते हैं, बिहारी की कविताओं में उन्हें अपने लिए चुनौती मौजूद मिलेगी। बिहारी की कविताओं में से आलोचना का यह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता भाव या विचार की ऊँचाई से नहीं प्रत्युत कारीगरी की पूर्णता से है, कविता कामायनी में भी सफल हो सकती है और बिहारी सतसई में भी और दोनों की सफलताएँ अपने-अपने स्तर पर अद्‌भुत और महान् हैं।"

बिहारी की सतसई की परंपरा आगे बढ़ाने वाले रसनिधि (लगभग सं० १७००) ने भी लक्षण ग्रन्थ न लिखकर केवल लक्ष्य रूप में कविता की है। 'रत्न हजारा' में इनके दोहों का चमत्कार देखने योग्य है। ये शृंगाररस प्रधान कवि थे। इन्होंने बिहारी का अनुकरण करने में कहीं-कहीं उनके वाक्य भी ज्यों के त्यों रख दिये हैं। फिर भी 'रतनहजारा' में बिहारी सतसई की विशेषताओं का प्राय: अभाव है। फारसी की आशिकी कविता का इनकी कविता पर बड़ा व्यापक प्रभाव है। इन्होंने रीति की भूमिका पर ही कविता की है फिर भी इनकी कविता में चमत्कार प्रदर्शन का थोड़ा खुला प्रयत्न है।

केवल लक्ष्यबद्ध रचना करने वाले कवियों का लक्षण और लक्ष्य दोनों प्रकार की कविता लिखने वालों से इस बात में पार्थक्य है कि इन्होंने क्रम से काव्यांगों एवं नायक-नायिका भेद का विवेचन नहीं किया है। इसलिए इनकी रचना लक्षणबद्ध रचना करने वालों की कविता की भाँति रीति के भार से कम दबी है। आचार्य शुक्ल ने लक्षणबद्ध और लक्ष्यमात्र प्रस्तुत करने वाले शृंगारी कवियों का पार्थक्य यों दिखाया है—"इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलङ्कारों के लक्षण कहकर उनके अन्तर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृंगार रस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है।" किन्तु शुक्लजी ने उक्त पंक्तियों में रीतिमुक्त धारा के कवियों को भी ध्यान में रखा है। रीतिमुक्त कवि रीति के बन्धन तोड़ डालना चाहते थे और पं०

विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—'हृदय के फैलाव के लिए और चौड़ी भूमि चाहते थे।' इन कवियों का विवेचन हम पृथक् से करेंगे। इस अध्याय में हमने लक्षणमात्र प्रस्तुत करने वाले पूर्णतया रीतिबद्ध कवियों की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है।

लक्ष्यमात्र प्रस्तुत करने वाले कवियों में बिहारीलाल का स्थान प्रमुख है अतः उनका हमने विस्तार से विवेचन किया है। स्पष्टतया ही इन कवियों ने अपनी रीति की सारी जानकारी का अपने काव्य में बड़े सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है। साधारण साहित्य प्रेमी तो इन कवियों की सरस उक्तियों का आस्वादन करते हैं। रीति के जानकार उसमें कुछ विशेष आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि उनके आगे सारा राज खुल जाता है और वे इस काव्य के रीति-बन्धन एवं सौन्दर्य दोनों पर मुग्ध होते हैं।

शृंगारकाल की रीतिमुक्त धारा

शृंगार काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—एक उन कवियों की जो रीति को सम्मुख रखकर चले और अपने काव्य में लक्षण और लक्ष्यरूप में उसे विविध रूप में प्रस्तुत किया, दूसरी उन उन्मुक्त हृदय के कवियों की जो रीति से बँधकर अपने भावों की सरसता का प्रवाह बाँधना अनुचित समझते थे। इन कवियों ने शृंगारकाल की अधिकांशतः मान्य रीति की शृङ्खलाओं को तोड़कर अपने हृदय के भावों की सरसता को अबाध रूप से प्रवाहित किया। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इन कवियों का वर्णन इस प्रकार किया है—'उसी काल में स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले ऐसे कवियों का भी प्रादुर्भाव हुआ जो रीति का बन्धन तोड़ डालना चाहते थे। ये शास्त्र में गिनाई हुई सूची तक ही रहने वाले नहीं थे। ये प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए हृदय का पूर्ण योग संगठित करने के अभिलाषुक थे। रीतिबद्ध होकर एक ओर काव्य-रचना अधिकतर बहिर्वृत्ति के निरूपण में व्यस्त थी, दूसरी ओर इनके हृदय का वेग अन्तर्वृत्ति के निरूपण का अवकाश चाहता था। अतः इन्होंने रीति-पद्धति का अतिक्रमण किया।'' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में शृंगार-काल के अन्तर्गत रीतिमुक्त धारा का वर्णन किया है। उन्होंने इस वर्ग के

कवियों को 'रीतिकाल के अन्य कवि' शीर्षक अध्याय में रखा है। उन्होंने इनका परिचय इन शब्दों से प्रारम्भ किया है—"अब यहाँ इस काल के भीतर होने वाले उन कवियों का उल्लेख होगा जिन्होंने रीतिग्रन्थ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं।" शुक्लजी ने इन कवियों की रचनाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

१—प्रबन्ध काव्य—जैसे सबलसिंह का महाभारत, लालकवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीर रासो, ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, पद्माकर का रामरसायन, सूदन का सुजान चरित्र, गोकुलनाथ आदि का महाभारत आदि।

२—नीति या भक्ति सम्बन्धी पद्य—वृन्द, गिरिधर, बैताल इत्यादि के रचे हुए।

३—शृंगार के फुटकल पद्य—जैसे घनानन्द, बोधा, ठाकुर इत्यादि की उन्मुक्त प्रेम की रचनाएँ।

इनके अतिरिक्त शुक्लजी ने तीन अन्य प्रकार के रीतिमुक्त कवियों की चर्चा की है—एक तो, कथात्मक प्रबन्धों से भिन्न वर्णनात्मक प्रबन्धों के रचयिता, दानलीला, मानलीला, जल-विहार, वन-विहार, मृगया, झूला, होली वर्णन इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इनमें बड़े विस्तार के साथ वस्तु वर्णन मिलता है। दूसरे ज्ञानउपदेशक, जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य में कहते हैं। ऐसे ग्रन्थकारों को उन्होंने 'पद्याकर' संज्ञा दी है। इनमें प्राय: बोध-वृत्ति जाग्रत करने के लिए रूपक उपमा का प्रयोग है। कुछ भावुक कवि अन्योक्तियों के सहारे भगवत्प्रेम, विरक्ति, करुणा आदि भी उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं। तीसरे, वीररस की फुटकल कविताओं के रचयिता, जो आश्रयदाताओं की प्रशंसा में उनकी युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसात्मक कविता रचा करते थे जैसे भूषण की शिवाबावनी और छत्रसाल दसक, पद्माकर की हिम्मत बहादुर विरुदावली।

इनके अतिरिक्त भी शृंगारकाल में रीति से युक्त प्रेम कथानकों, सन्त और भक्त कवियों की रचनाएँ भी मिलती हैं। इसी काल में सेनापति की प्रकृति

वर्णन सम्बन्धी उत्कृष्ट रचनाएँ भी मिलती हैं। सम्भवतः ऋतु सम्बन्धी ग्रन्थ की इन्होंने रचना भी की है।

कथा प्रबन्ध और वर्णनात्मक प्रबन्ध—वैसे तो शृंगारकाल की विशेषता मुक्तक काव्य की रचना है किन्तु कुछ प्रबन्ध काव्य भी मिल जाते हैं। यों तो अनेक कथा प्रबन्धों का सृजन हुआ किन्तु कवित्व का सुन्दर समंजस कुछ ही में हुआ इसीलिए शृंगारकाल की प्रबन्ध-धारा प्रसिद्ध न हो सकी। कथा प्रबन्धों में दो प्रकार के विषय हैं—पौराणिक—जैसे सबलसिंह का महाभारत, सरयूराम का जैमिनी-पुराण, ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, गोकुलनाथ आदि का महाभारत, मधसूदनदास का रामाश्वमेध, कृष्णदास की भाषा भागवत इत्यादि; लौकिक—जैसे लाल कवि का छत्रप्रकाश, सूदन का सुजान चरित्र, जोधराज का हम्मीर रासो, हरनारायण की माधवानल कामकंदला, चंद्रशेखर का हम्मीर हठ इत्यादि। पौराणिक प्रबन्ध काव्यों में गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव का महाभारत और मधसूदनदास का रामाश्वमेध ही साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। गोकुलनाथ आदि का महाभारत बहुत बड़ा ग्रन्थ है। साहित्यिक दृष्टि से यह काव्य-गुण-सम्पन्न, रोचक एवं प्रबन्धात्मक-कथानक सौष्ठव को लिए हुए है। इसमें विविध छन्द हैं किन्तु रूपमाला, घनाक्षरी, सवैया आदि मधुर छन्दों का प्राधान्य है। गोकुलनाथ और गोपीनाथ प्रसिद्ध कवि बन्दीजन के पुत्र और पौत्र थे। गोकुलनाथ के कई अन्य कृष्ण-भक्ति विषयक ग्रन्थ मिलते हैं। इनका कविताकाल सम्वत् १८४० से १८७० तक माना जाता है। अन्य पौराणिक कथा प्रबन्धों में छत्रसिंह की विजय, मुक्तावली में महाभारत की कथा, सबलसिंह का 'महाभारत' नामक प्रबन्ध काव्य, सरयूराम का जैमिनी पुराण इत्यादि हैं किन्तु इनमें साहित्यिक गुणों का समुचित विकास नहीं हो पाया है अतः इनका विशेष महत्त्व नहीं है। वैसे ब्रजवासीदास का ब्रजविलास भी कई कारणों (शुद्ध ब्रजभाषा एवं दोहा चौपाई शैली) से महत्त्वपूर्ण है किन्तु उसमें भी काव्य-गुणों का अभाव है। लौकिक कथा प्रबन्धों में लाल कवि का छत्रप्रकाश बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश है। कवित्व की दृष्टि से भी यह उत्कृष्ट ग्रन्थ है। प्रबन्ध पटुता के अन्तर्गत सम्बन्ध निर्वाह, मार्मिक स्थलों का चुनाव एवं वस्तु परिगणन शैली का अभाव

एवं सीधी और स्वाभाविक सरस उक्तियों का समावेश लाल कवि की विशेषता है। इसमें कल्पना की ऊँची उड़ान एवं ऊहा का चमत्कार विशेष नहीं है।

दूसरा प्रसिद्ध लौकिक कथा-प्रबन्ध जोधराज का 'हम्मीर रासो' (रचना-काल सं० १८७५) है जो उन्होंने पृथ्वीराज चौहान के वंशज नीमराणा के महाराजा चन्द्रभान चौहान के आग्रह पर वीरगाथाओं की छप्पय पद्धति पर लिखा। इसमें ऐतिहासिक तथ्य के साथ ही काव्योत्कर्ष बढ़ाने के लिए कुछ कल्पित प्रसंग भी रखे हैं।

इसके बाद गुमान मिश्र का 'नैषध चरित्र' मिलता है। यह हर्षकृत नैषध-काव्य का पद्यानुवाद है। इसकी विशेषता नाना छन्दों का चमत्कारी प्रयोग है। चमत्कारप्रियता के कारण अलंकारों का भी बाहुल्य है। इसमें कवि की कवित्व शक्ति का भी अच्छा परिचय मिलता है।

इसके बाद मथुरा के माथुर चौबे सूदन का नाम आता है। इन्होंने भरत-पुर के प्रसिद्ध वीर सुजानसिंह (सूरजमल) के चरित्र का वर्णन 'सुजान चरित्र' में प्रबन्धात्मक शैली में किया है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। इसकी सबसे बड़ी त्रुटि वस्तु-परिगणन शैली है जिससे इसकी प्रबन्धात्मकता में बड़ा ढीलापन एवं सौष्ठव का अभाव हो गया है। पाठक को कहीं-कहीं बड़ी अरुचि हो जाती है। भाषा की दृष्टि से भी अनेक प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों की भरमार एवं शब्दों की तोड़-मरोड़ एवं व्याकरण-गत अव्यवस्था है। इसमें युद्ध के सजीव वर्णन, अस्त्र-शस्त्रों की झंकार आदि सुनकर आदिकाल की वीरगाथाओं का स्मरण हो जाता है।

वर्णनात्मक पौराणिक प्रबन्धों में कृष्ण की विभिन्न लीलाएँ जैसे दानलीला, मानलीला, जल विहार, होली वर्णन इत्यादि का वर्णन मिलता है। वर्णनात्मक लौकिक प्रबन्धों में पौराणिक चरित्रों का पुट लिए हुए जन्मोत्सव, मगन वर्णन, मृगया, झूला, रामकलेवा, बारात की गाली इत्यादि का वर्णन मिलता है। इनमें बड़े विस्तार से वस्तु-परिगणन मिलता है।

शृंगारकाल में कुछ नीति विषयक फुटकल पद्यों की रचना भी हुई है जिनमें बड़ी सुन्दर सूक्तियाँ मिलती हैं। यों तो नीति सम्बन्धी रचनाओं की

परम्परा भर्तृहरि से ही प्रारम्भ हुई थी। संस्कृत में भी सुभाषितों की रचना होती रही है। हेमचन्द्र के व्याकरण में अपभ्रंश भाषा के नीति विषयक दोहों का परिचय मिलता है। भक्तिकाल के तुलसी और रहीम के नीति विषयक बरवै प्रसिद्ध हैं। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में 'जयान' नामक मुसलमान कवि के नैतिक और व्यावहारिक उपदेश मिलते हैं जिनकी राजपूताने में बड़ी प्रसिद्धि है। संवत् १७६१ में 'वृन्द' कवि की 'वृन्द सतसई' मिलती है जो नीति विषयक रचनाओं में बड़ी लोकप्रिय हुई। वृन्द के समसामयिक 'बैताल बंदीजन' की 'विक्रम सतसई' मिलती है जिसमें कुण्डलियाँ छन्द का व्यवहार है। कवि ने अपने आश्रयदाता विक्रमसाहि को सम्बोधन करके इनकी रचना की है। इनकी रचनाओं में अलंकार एवं चमत्कार के स्थान पर सीधी सादी उक्तियाँ मिलती हैं। लगभग संवत् १८००. के गिरिधर ने अपनी लोकप्रिय-नीति की कुण्डलियों की रचना की। इनकी लोकप्रियता का मुख्य कारण चमत्कार रहित सीधी सादी उक्तियों का सरल भाषा में वर्णित होना है। कहीं-कहीं इन्होंने अन्योक्ति एवं दृष्टान्त अलंकार का सहारा लिया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "गिरिधर कविराय उत्तर मध्यकाल के सद्‌गृहस्थों के सलाहकार रहे हैं और आज भी जनता उसी चाव से उनके उपदेशों को मानती है।" गिरिधर के बाद 'घाघ' का नाम आता है। नीति-विषयक रचनाओं की यह परम्परा बाद में भी चलती रही।

"बाबा दीनदयाल गिरि" (जन्म सं० १८५६) अपनी अन्योक्ति पद्धति पर लिखी हुई नीति-विषयक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका ग्रन्थ 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' बहुत प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं में भावुकता के साथ ही चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है। इनके कई अन्य ग्रंथ भी हैं।

नीति-विषयक रचनाओं की भांति ही कुछ ब्रह्म ज्ञान और वैराग्य सम्बन्धी रचनाएँ भी हुई हैं। ऐसी रचना करने वालों में रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह जू (राज्यकाल सं० १८७८-१८६७) का नाम महत्वपूर्ण है। इनकी लिखी अनेक पुस्तकें मिलती हैं। इनकी बीजक की टीका बहुत प्रसिद्ध है। ये वस्तुतः रामोपासक थे। ब्रह्म ज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों में वेदान्त पंचक शतिका, परमतत्व, शांतिशतक मुख्य हैं। रीवां नरेश के समकालीन भक्तवर नागरीदास

ने भी वैराग्य सम्बन्धी कुछ फुटकल रचनाएँ की हैं। इनका 'वैराग्य सागर' ग्रंथ इसी विषय पर रचा गया है। यों तो प्रायः बिहारी, देव जैसे रीतिबद्ध कवियों में भी भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति एवं करुणा उत्पन्न करने वाले पद्य मिल जाते हैं। ऐसी रचना करने वालों ने अन्योक्ति का भी सहारा लिया है। नवलसिंह की रहस लावनी (सं० १९२६) अध्यात्म रामायण एवं रूपक रामायण भी ऐसी ही रचनाएँ हैं।

इस काल में कुछ भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पदों की भी रचना हुई है। कृष्णगढ़ के महाराज सावन्तसिंह (जन्म सं० १७५६) भक्तवर नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं में वैराग्य शृङ्गार और भक्ति के पद मिलते हैं। इनकी उपपत्नी बणीठणी जी भी रसिकबिहारी छाप देकर कविता लिखा करती थीं। इनके बनाये ७३ ग्रन्थ बताये जाते हैं। इनके 'इश्क-चमन' में फारसी काव्य की आशिकी और सूफियाना रंग-ढंग मिलता है। इस परम्परा में बख्शी हंसराज (जन्म सं० १७९९) भी प्रसिद्ध हैं। सखी-भाव के उपासक होने के कारण इन्होंने माधुर्य पूर्ण रचनाएँ की हैं। 'सनेह सागर' इसी विषय का ग्रंथ है। इनके अतिरिक्त रामचरित गायक जनकराज किशोरीशरण, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अलबेली अलि, राधावल्लभीय सम्प्रदाय के चाचा हितवृन्दावनदास, टट्टी सम्प्रदाय के भगवतरसिक, राधा सुधाशतक के निर्माता काव्य रसिक श्री हटी जी, इत्यादि कवियों ने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पदों की रचना की है। इनका उल्लेख हम कृष्णकाव्य की परम्परा में भी कर चुके हैं।

इसी काल में वीररस की फुटकल रचनाओं का भी विशेष महत्व है। भूषण शृङ्गारकाल में अपनी वीररस पूर्ण रचनाओं के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। घोर शृंगारी रचनाओं के काल में वीररस की कविता करके भूषण ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इनकी कविता में हिन्दू राजाओं के संघटन एवं विदेशी मुगलों से लड़ने की प्रेरणा है। ये वीरता के पुजारी थे और इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर इन्होंने शिवाजी और क्षत्रसाल की प्रशंसा की है। उनकी प्रशंसा में प्रमुख रूप से देश की दशा, देश-द्रोहियों का दमन और वीर-पूजा के भावों का ही प्राकृतिक और शक्तिशाली रूप

मिलता है। ये अपने आश्रयदाता शिवाजी की विजय को हिन्दू जाति की विजय मानते थे। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू-राष्ट्र को लेकर गौरव और अभिमान की भावना उनके भीतर काम करती थी। विदेशी मुगलों का विरोध कर हिन्दू राष्ट्र की पुरार लगाने वाले भूषण का स्वर उस काल के सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वर है। मुगल तो मूलतः विदेशी ही थे। भूषण की राष्ट्रीयता में कुछ विद्वानों को सन्देह है। सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र मानने वाले और हिन्दू मुसलमान दोनों को भारतीय मानने वाले आधुनिक आलोचक भूषण को एक संकुचित दृष्टिकोण वाला जातीय कवि मानते हैं। किन्तु यह राष्ट्रीयता का मानदंड आधुनिक दृष्टि से भी सिद्ध हो सकता है, तत्कालीन युग की परिस्थितियों में राष्ट्रीयता का मानदंड कुछ भिन्न था। आदिकाल में भारत का राज्य खंड-खंड में बँटा था और राज्य-विशेष ही राष्ट्र माना जाता था। भूषण के युग में सम्पूर्ण हिन्दू जाति ने एक राष्ट्र का निर्माण किया। मुगल लोग भारत-भूषण में विदेशी की हैसियत से ही थे। इस प्रकार भूषण पूर्णतया राष्ट्रीय कवि ठहरते हैं।

भूषण की कविता के विषय युद्ध वर्णन और वीरों का कीर्तिगान है। कविता में विषय के अनुकूल वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। भाषा भी रसानुकूल है। इनकी कविता में ऐतिहासिक घटनाओं में सत्य-प्रियता का परिचय मिलता है। यहाँ तक कि यदि उनकी वर्णित घटनाओं को क्रमबद्ध किया जाय तो शिवाजी के कार्यों का क्रमिक परिचय मिलने लगता है। कीर्तिगान में इन्होंने पूर्ववर्ती कवियों की परिपाटी का अनुसरण करके आश्रयदाताओं की दानवीरता तथा उदारता का अतिरंजित वर्णन किया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में भूषण की विशेषता इस प्रकार वर्णित हुई है—"यद्यपि इस वीरकाव्य में परम्परागत रूढ़ियों का पालन किया गया है और चारण कवियों की उस प्रथा का प्रभावपूर्ण पालन है जिसमें ध्वनि को अर्थ से अधिक महत्त्व दिया जाता है और उसकी प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिए शब्दों को यथेष्ट तोड़ा-मरोड़ा जाता है, फिर भी भूषण की कविता में प्राण है। वह सोये हुए समाज को उद्बुद्ध करने की शक्ति रखती है।"

भूषण की शिवाबावनी और छत्रसालदसक प्रसिद्ध हैं। इसी परम्परा में

लालकवि की रचनाएँ भी आती हैं। उनका उल्लेख हम "कथा-प्रबन्धों" के प्रसंग में कर चुके हैं। वनवारी (लगभग सं० १६६०) कवि ने भी कुछ वीर-रसपूर्ण फुटकल रचनायें लिखी हैं। इन्होंने महाराज जसवंतसिंह के बड़े भाई एवं शाहजहाँ के प्रसिद्ध सेनापति अमरसिंह की वीरता की बड़ी प्रशंसा की है।

शृंगारकाल के रीतिमुक्त शृंगारी कवि—अपनी मार्मिक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। रीति का बंधन तोड़कर अपने हृदय की भावसरिता के उन्मुक्त प्रवाह के पक्षपाती इन प्रेमोन्मत्त कवियों की रीतिमुक्त प्रवृत्ति का परिचय शुक्ल जी ने इन शब्दों में दिया है—"इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओं में प्रायः मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है। बात यह है कि इन्हें कोई बन्धन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी ये लिख गए। रीतिबद्ध ग्रंथ जो लिखने बैठते थे उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिए पद्य लिखना आवश्यक था जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे। रसखान, घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की।" डा० श्यामसुन्दरदास ने भी अपने हिन्दी साहित्य में घनानन्द, बोधा और ठाकुर की विशेषताओं का बड़ा सुन्दर उद्घाटन किया है—"रीति की परिपाटी के बाहर प्रेम सम्बन्धी सुन्दर मुक्तक छन्दों की रचना करने वालों में इन तीन कवियों का प्रमुख स्थान है। रीति के भीतर रहकर बँधे-बँधाये विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से, और परम्परा प्रचलित उपमानों की योजना से काव्य का ढाँचा खड़ा करना कवि को विशेष ऊँचे नहीं पहुँचाता। प्रकृति के रम्य रूपों को सूक्ष्म दृष्टि से देख कर उन पर मुग्ध होना एक बात है और नायक-नायिका की विहार-स्थली को उद्दीपन के रूप में दिखाना दूसरी बात है। एक में निसर्ग-सिद्ध काव्यत्व है, दूसरे में काव्याभासमात्र? उसी भाँति अनेक नायक-नायिकाओं के विभेद बतलाते हुए, हावों आदि को जोड़कर खड़ा कर देने में कवि की सहृदयता का वैसा पता नहीं लग सकता जैसे तल्लीनता की अवस्था में प्रेम के मार्मिक उद्गारों और स्त्री पुरुष के मधुर सम्बन्ध के रमणीय प्रसंगों का स्वाभाविक चित्रण करने में। घनानन्द, बोधा और ठाकुर (बुन्देलखण्डी) तीनों ही प्रेम की उमंग में मस्त सच्चे कवि हुए।"

इन रीतिमुक्त कवियों का प्रमुख विषय शृंगार है किन्तु रीतिबद्ध कवियों से इनकी शृंगारी-भावनाओं में स्पष्ट अन्तर है। यदि रीतिबद्ध कवियों का शृंगार रसिकता है तो इनका शृंगार प्रेम की उमंग। इसीलिए रीतिबद्ध कवियों ने भाव को उतनी प्रमुखता नहीं दी जितनी वस्तु-व्यंजना को। इसी मांसल प्रवृत्ति के कारण रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि नायिका के बाह्य शारीरिक आवरण में निबद्ध हो गई। उनकी ऐसी रचनायें भी ऐन्द्रिकता एवं कामुकता की उद्दीपक हैं, भाव-विभोरता एवं तन्मयता का आभास उनमें नहीं मिलता। फिर इस वस्तु व्यंजना में भी चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण सौन्दर्यानुभूति का आभास भी नहीं मिल पाता और पाठक की बुद्धि अलंकारों के जाल में फँस जाती है। बिहारी का राधा का सौन्दर्य वर्णन देखिये—

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

इसमें यमक अलंकार का चमत्कार ही प्रमुख हो गया है, राधिका के सौन्दर्य का पता भी नहीं चलता। इसी प्रकार विरह प्रसंग में भी रीतिबद्ध कवि ऊहात्मक उक्तियाँ अधिक प्रस्तुत करते हैं जिनमे हृदय की वेदना का परिचय नहीं मिलता। इसलिए ये रचनायें सिर हिलाने के मतलब की हैं, विरहानुभूति की तीव्रता से हृदय को करुण एवं भाव विभोर बनाने वाली नहीं। कहीं-कहीं इन कवियों में (देव, बिहारी) प्रेम विभोरता और तन्मयता के दर्शन भी हो जाते हैं किन्तु ये समग्र रूप से भावाभिव्यंजना को लेकर नहीं चले हैं। दूसरी ओर रीतिमुक्त धारा के प्रेमोन्मत्त कवि हैं जो अपने काव्य में समग्र रूप से भावाभिव्यंजना को लेकर चले हैं। उन्होंने भाषा, अलंकार एवं चमत्कार विधान को साधन रूप में ही रखा है, साध्य रूप में नहीं। इसलिए इन रचनाओं में कलापक्ष प्रधान नहीं हो पाया है। ये कविता बनाने में परेशान नहीं रहते थे वरन् स्वयं कविता इनका निर्माण करने वाली है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—"इन प्रेमोन्मत्त गायकों में हृदय का वेग ही कविता का रूप धारण कर लेता था, भरने-पचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी या कम पड़ती थी।" एक अन्य स्थान पर मिश्रजी ने निष्कर्ष रूप में कहा है—"रीतिमुक्त कवियों का रीतिबद्ध कवियों से पार्थक्य क्या भाव, क्या शैली, क्या भाषा सभी

में दिखाई देता है। इनमें अन्तर्वृत्ति निरूपण की प्रधानता के साथ ही विरह की ओर अधिक झुकाव भी है।"

इन प्रेमोन्मत्त कवियों को अपने काव्य की प्रेरणा श्रीकृष्ण की स्वच्छन्द लीला से मिली है। सम्पूर्ण मध्य युग में काव्य रचना की मुख्य प्रेरणा भगवान की लीलायें रही हैं। इनमें भी श्रीकृष्ण की स्वच्छन्द लीला ने साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया। किन्तु रीतिबद्ध कवियों ने कृष्ण की जिन लीलाओं का घोर श्रृंगारी चित्रण करने में प्रयोग किया है उन्हीं को रीतिमुक्त प्रेमोन्मत्त कवियों ने अपनी प्रेमाभिव्यंजना का आश्रय बनाया। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में—"प्रेमोन्माद के अभिव्यंजक इन कर्ताओं के लिए राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण की लीलायें काव्य-सामग्री का काम देती रही हैं। व्यक्तिबद्ध प्रेम की एकनिष्ठता के कारण जब इन्हें व्यक्तिपक्ष त्यागना पड़ा है तब ये कृष्ण की क्रीड़ाशील प्रवृत्ति के उपासक बनकर उनके भक्त हो गए हैं।.........भारतीय काव्य परम्परा में उन्मुक्त प्रेम के लौकिक आलम्बन का विधान न पाकर ये श्रीकृष्ण का लौकिक आलम्बन ग्रहण करते थे। अतः अन्त में इनकी मुक्तक रचना का भक्ति में पर्यवसान हो जाता था। इसी से इस प्रकार के सभी कवि अन्त में कृष्णलीला के गायक या भक्त हो जाते हैं। यों तो रीतिबद्ध कवि भी 'राधिका कन्हाई के सुमिरन' का बहाना करते थे पर उनकी वृत्ति भक्ति में लीन नहीं हुई है। यही इन दोनों में पार्थक्य है।" इस प्रकार रीतिमुक्त कवियों की प्रेरणा और रीतिबद्ध कवियों की प्रेरणा के मूल में गहरा अन्तर है। मिश्रजी ने रीतिमुक्त कवियों का शुद्ध भक्तों से इनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण पार्थक्य माना है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति के रसखान में वैसी कट्टरता नहीं, जैसी सूर आदि में थी।

रीतिमुक्त काव्यधारा के सामान्य परिचय के बाद अब हम इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

रीतिमुक्त श्रृंगारी कवितर की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—

१—रीतिमुक्त शृङ्गारी कविता की सबसे बड़ा विशेषता इसकी उदात्त श्रृंगारी वृत्ति की है। इनका श्रृंगार रसिकता का पर्याय न होकर प्रेम के

पर्याय है। इस प्रकार इन्होंने शृंगार के उदात्त रूप की स्थापना की। प्रेमोन्मत्त गायक कवियों के हृदय से निसृत इस कविता में भाव गाम्भीर्य का ही आधिक्य है। इसमें शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—पर मार्मिक कविता मिलती है। किन्तु वियोग की अन्तर्दशाओं को इन्होंने विशेष महत्व दिया है। इसलिये स्वाभाविकतया इनकी कविता में अधिक गाम्भीर्य आ गया है।

इनके प्रेम वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति है। रीतिबद्ध कवियों के संयोग शृंगार में दूती और सखियों द्वारा प्रेमी और प्रेमिका के मिलन का आयोजन रहता है किन्तु इन कवियों में प्रेम एक आन्तरिक भावना है। इसमें किसी प्रकार की वक्रता नहीं चल सकती। यह प्रेम उनकी आत्मा की पुकार है। घनानन्द ने प्रेम के मार्ग का रूप इन पंक्तियों में दर्शाया है—

अति सूधो सनेह मारग है जहाँ नेक सयानप बाँक नहीं।
जहाँ सूधे चलैं तजि आपुनपौ झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥

फिर भी इनके प्रेम में एकान्तिक भाव है जिसमें समाज को भुलाकर अपने प्रेमी में लीन होने की साधना है। इस तीव्र एकान्तिक प्रेम की प्रवृत्ति से इनके काव्य में अनुभूति की मार्मिकता दर्शनीय हो गई है और साथ ही वह अलोकोपयोगी भी हो गई है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इनके प्रेम के उदात्त स्वरूप को इस प्रकार प्रकट किया है—"इनमें स्वच्छन्दतामूलक प्रवृत्ति (रोमांटिक स्पिरिट) प्रेम की प्रकृत भूमि पर आरूढ़ होने के लिए जगी थी, वासना के गड्ढे में गिरने के लिये नहीं।"

इन कवियों के प्रेम की एक और विशेषता उनका अनन्य भाव है। ठाकुर, बोधा, घनानन्द इत्यादि में प्रेम का यह उच्च रूप प्रकट हुआ है। घनानन्द अपने हृदय में अन्य को स्थान नहीं दे सकते—

घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो,
यहाँ एक तें, दूसरो आँक नहीं।

तुम कौन धों पाटी पढ़े हो कहौ,
मन लेहु हो देहु छटाँक नहीं ॥

ठाकुर ने भी प्रेम की अनन्यता प्रकट की है—

एक ही सों चित चाहिये ग्रौर लौं,
बीच दगा की परै नहिं डाँको ॥

प्रेम की एकरसता एवं जीवन पर्यन्त उसका निर्वाह ही मुख्य चीज है। बोधा कवि ने भी इसी बात को यों कहा है—

प्रीति करै पुनि ग्रौर निबाहै। सो ग्राशिक सब जगत सराहै ॥

× × ×

एक सुजान के ग्रानन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को ॥

इन कवियों के प्रेम की एक ग्रौर विशेषता उनकी तन्मयता है। प्रेम की विभोरता इन सब कवियों में किसी न किसी रूप में पाई जाती है। घनानन्द तो प्रेम-दीवाने थे। प्रेमी की प्रतीक्षा में विरहिणी की दशा देखिये—

ग्रान घन ग्रानन्द यों दुसह दुहेली दसा,
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे।
जीव तें भई उदास तऊ है मिलन ग्रास,
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे।

यह है हृदय की परवशता। बोधा ग्रौर ठाकुर में भी प्रेम की इस मदिरा का प्रभाव है। बोधा की प्रेम-दशा भी देखिए—

कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो,
यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर तें कढ़ि ग्रावै, गरे तें फिरै,
मन ही मन ही में सिरैबो करै ॥
कवि बोधा न चाव सरो कबहूँ,
नित ही हरवा सों हिरैबो करै।
कहते ही बनै, सहते ही बनै,
मन ही मन पीर पिरैबो करै ॥

ठाकुर ने भी प्रेम की परवशता को बड़ी मार्मिक उक्तियों में प्रकट किया है—

गति मेरी यही निसिवासर है,
चित तेरी गलीन के गाहने हैं।
चित कीनों कठोर कहा इतनो,
अब मोहि नहीं यह चाहने हैं।
कवि ठाकुर नैंक नहीं दरसो,
कपटीन को काहू सराहने हैं॥

२—इनका वियोग वर्णन अपना विशेष महत्त्व रखता है। इनमें इन कवियों के हृदय की मार्मिक विरहानुभूति प्रकट हुई है। वियोग में प्रेमी के हृदय की अन्तर्दशाओं, व्यंग्योक्तियों, उपालम्भ इत्यादि का भी सुन्दर वर्णन होता है। विरह दशा प्रेमी के प्रेम की पूर्णता है। यह दशा प्रेमी को मानवमात्र के साथ समान भूमि पर खड़ी कर देती है और उसका प्रेम भी व्यक्तिगत सीमा के संकुचित घेरे से निकलकर संसार के व्यापक क्षेत्र में विचरण करने लगता है। उसकी कोई सीमा नहीं रहती। विरही को संसार की जड़वस्तु से भी सहानुभूति हो जाती है। महादेवी वर्मा ने भी इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है—"व्यक्तिगत सुख विश्ववेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है और व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व।" इन प्रेमोन्मत्त कवियों में भी विरहानुभूति की अधिकता है जो उनकी साधना का आधार है। इन्होंने अलौकिक आलम्बन (कृष्ण) से मिलने के लिये अपने हृदय की व्याकुलता का प्रदर्शन किया है। घनानन्द ने प्रेम की अन्तर्दशाओं का वर्णन करते हुए दिखलाया है कि जब संयोग में आनन्द अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो उसमें भी वेदना की मधुर मुस्कान मिलने लगती है—

यह कैसो संयोग न बूझि परै जु वियोग न क्यों हू बिछोहत है।

इन कवियों पर सूफियों की 'प्रेम की पीर' का प्रभाव पड़ा है। इन कवियों में सबसे प्रमुख घनानन्द ने इस 'पीर' की चर्चा भी की है—

लिखौं कैसे पियारे प्रेम पाती।
लगी अँसुअन झरी ह्वै टूंक छाती॥
अनोखो पीर प्यारे कौन पावै।
पुकारौं मौन में कहिबौं न आवै॥

इनके वियोग वर्णन में बड़ी मार्मिक उक्तियाँ मिलती हैं, इनमें मौन की भी पुकार सुनी जा सकती है। इनके विरह वर्णन की एक विशेषता सूफी प्रभावापन्न रहस्य की प्रवृत्ति है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस प्रवृत्ति का संकेत घनानन्द के प्रसंग में इस प्रकार किया है—"घनानन्द ने जो प्रेममार्गियों का आधार लेकर कुछ रहस्यमयी उक्तियाँ कही हैं उनमें श्रीकृष्ण ही उनके लक्ष्य हैं। रहस्य की प्रवृत्ति इन कवियों में कभी-कभी अवश्य जगती थी पर कबीर या जायसी की भाँति रहस्यदर्शिता इनका साध्य कभी नहीं बनी।

३—इन कवियों की रचनाओं पर फारसी के ऐकान्तिक प्रेमवादी कवियों की रचनाओं का प्रभाव भी स्पष्ट ही है। फारसी में एकान्तिक एवं इकतरफा प्रेम की निष्ठा का वर्णन बहुत मिलता है। उसी की झलक घनआनन्द और ठाकुर में भी मिलती है। इसके अतिरिक्त फारसी काव्य में विरह में चीरफाड़ करना, जलने आदि के वीभत्स प्रयोग एक साधारण सी बात है। घनानन्द में इनकी झलक भी मिल जाती है जैसे 'लगे अँसुअन झरी ह्वं टूंक छाती', 'चलावै सीस यों विरह धारा' आदि। फारसी की इस काव्य पद्धति का प्रभाव घनआनन्द के एक कवित्त में और देखिए—

कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अबही करेजो किन कोरि लै।
पैड़े परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यों ही,
चातक घातक त्यों ही तू ही कान फोरि लै।
आनन्द के घन प्रान जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौ लौं करै आवन विनोद बरसावन वे।
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥

इन स्वच्छन्द कवियों पर सूफीमत की प्रेम की पीर का प्रभाव भी स्पष्ट ही है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस प्रभाव को इन शब्दों में प्रकट किया है—"प्रेम की पीर सूफी कवियों का प्रतिपाद्य विषय है अतः स्वच्छन्द कवियों ने प्रेम की यह पीर फारसी काव्यधारा की वेदना की विवृत्ति के साथ सूफी कवियों से ही ली है। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।" घनआनन्द और बोधा दोनों में 'प्रेम की पीर' की बड़ी मार्मिक व्यंजना मिलती है। हाँ सभी जगह उस पर सूफी मत का प्रभाव नहीं है। बोधा का 'इश्कनामा' और घनआनन्द की 'इश्कलता' में फारसी पद्धति का इश्क वर्णित है।

४—इन कवियों का शृंगार के संयोग पक्ष का वर्णन भी अपनी विशेषता रखता है। उसमें संयोग के समय हृदय के उल्लास एवं आनन्द का बड़ा ही सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक वर्णन है। संयोग में नायिका का प्रियतम के प्रेम के प्रभाव से अनेक हाव भाव प्रदर्शित करना और आँखों में प्रेम का रंग भर लाना इत्यादि वर्णन इन कवियों की विशेषता है। प्रिय के रूप को देखकर प्रेमिका की आँखें कभी सरस रहती हैं कभी निराश होती हैं तो कभी प्रेम में विभोर होकर एकटक देखती रहती हैं। इस प्रकार अनेकों प्रेम के प्रभाव इन कवियों ने अपनी कविता में दर्शाये हैं। घनआनन्द ने प्रेम की अन्तर्वृत्ति के प्रभाव को प्रेमिका की आँखों में इस प्रकार दर्शाया है—

> बरसें तरसें सरसें अरसें न कहूँ दरसें इहि छाक छई।
> निरखें परखें करखें हरखें उपजी अभिलासनि लाखजई॥
> घन आनन्द ही उनए इनमें बहु भाँतिन ये उन रंगरई।
> रस मूरति स्याम हि देखत ही सजनी अँखियाँ रस रासि भई।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने संयोग-पक्ष के अन्तर्गत इन कवियों की विशेषता का वर्णन करते हुए इनके प्रभाव-उत्पन्न करने की मार्मिकता को सराहा है—"यदि संयोग पक्ष पर दृष्टि डालते हैं तो वहाँ भी वर्ण्य की मुद्राओं या हाव-भावों के हृदय पर पड़े प्रभाव का ही उल्लेख अधिक करते पाये जाते हैं। खुले मैदान में आ जाने के कारण ही इन कवियों ने होली, अखतीज (अक्षयतृतीया) गनगौर आदि भारतीय त्योहारों में अपनी वृत्ति विशेष लीन

की है ।" वस्तुतः इन कवियों ने रीति की परिपाटी का अनुसरण नहीं किया इसीलिए दूती इत्यादि का यहाँ स्थान नहीं है । फिर यह शृंगार अपने रूप में उदात्त प्रेम ही है इसलिए भी चमत्कार प्रदर्शन का स्थान नहीं था । सारांश यह है कि इन कवियों के बाह्य-सौन्दर्य को ही प्रमुख स्थान नहीं दिया वरन् प्रभाव को प्रमुख स्थान दिया और हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों के सौन्दर्य का उद्घाटन किया । इन्होंने आन्तरिक सूक्ष्म भावों का बड़ा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करके अपनी उत्कृष्ट काव्य-रचना का परिचय दिया है । मिश्रजी के शब्दों में— "ये सुन्दरता के भेदों—रमणीयता की विविध स्थितियों—से पूर्णतया अभिज्ञ थे ।"

५—इन कवियों में श्रीकृष्ण लीला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । इन्होंने श्रीकृष्ण के अलौकिक आलम्बन के सहारे अपनी उन्मुक्त प्रेम की भावधारा को प्रवाहित किया है । इनमें कुछ कवि तो अपने अंतिम वयस में भक्त हो गये थे अतः उन्हें उन्मुक्त भक्त कवि की संज्ञा देना ही उपयुक्त होगा । ऐसे उन्मुक्त कवियों में रसखान और घनआनन्द हैं । अन्य रीति मुक्त शृंगारी कवियों को शृंगारी ही मानना उचित है क्योंकि उनकी वृत्ति भक्ति में पूर्णतया लीन नहीं हुई है । आलम, बोधा ठाकुर इत्यादि दूसरी श्रेणी के कवि ठहरते हैं । घनआनन्द ने तो 'सुजान' श्रीकृष्ण के प्रेम में अपने को इतना तन्मय कर दिया था कि वे मरते समय तक उनकी प्रेमाभक्ति के गीत गाते रहे । उनकी इस प्रेमाभक्ति का मुख्य आधार 'अनुखी पीर' था । प्रेम की गहराई को तो उनके समान संभवतः बहुत ही कम लोग समझते थे । रसखान का 'मानुष हौं तो वही रसखान' उनकी भक्ति भावना को सिद्ध करता है किन्तु उनकी भक्ति भावना साम्प्रदायिक न होकर उन्मुक्त थी । ये कवि अपने प्रारम्भिक जीवन में मूलतः प्रेम को ही लेकर चले थे और राधा-कृष्ण या गोपी कृष्ण की लीलाएँ इन्हें प्रेरणा देती रहीं किन्तु बाद में यह स्वच्छन्द प्रवृत्ति के प्रेमी भक्त हो जाते है ।

६—इन कवियों ने अपनी रचना मुक्तक शैली में ही की है । विषय के उपयुक्त ही इनकी शैली है । इन्होंने विशेष तौर पर कवित्त और सवैया इन दो छन्दों को ही अपनाया है ।

७—रीतिबद्ध कवियों की भाँति इन कवियों ने भी अलंकारों को अपने काव्य में स्थान दिया है किन्तु यह अलंकरण पांडित्य प्रदर्शन के लिए कभी नहीं किया वरन् सूक्ष्म अन्तंवृत्तियों का परिचय देने के लिए एवं प्रेम की विषमता का निरूपण करने के लिए। रीतिबद्ध कवियों की अलंकार-योजना तो स्वयं में साध्य थी और अलंकार सम्प्रदाय की परम्परा में थी। केशव ने कहा भी है—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजहीं कविता बनिता मित्त।

इस प्रकार रीतिबद्ध कवियों ने अलंकारों को ही कविता का सौन्दर्य बताया। इनका काव्य अन्तःचेतना प्रदान करने वाला न होकर केवल बुद्धि का चमत्कार प्रदर्शित करने वाला ही रह गया था। रीतिमुक्त कवियों के काव्य में वाग्वैदग्ध्य और उक्ति की विचित्रता प्रमुख स्थान रखती है। सर्वश्रेष्ठ रीतिमुक्त कवि घनआनन्द में वाणी का वैदग्ध्य देखने योग्य है—

'नेह-भीजी बातें रसना पै उर आँच लागै'

यहाँ नेह में स्नेह और तेल तथा बातों में बचन और बत्तियाँ दोनों अर्थ निहित हैं। घनआनन्द का वाग्वैदग्ध्य उनके विरोधाभास में भलीभाँति प्रकट हुआ है। विरोधाभास का इन्होंने प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। वस्तुतः इन कवियों ने विरोध के द्वारा भावों को उभार कर उन्हें मूर्तिमत्ता प्रदान की है। विरोधमूलक अलंकारों का इनकी कविता में प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, भ्रम, अपन्हुति, असंगति आदि अनेक अलंकार भरे पड़े हैं। विरोधाभास के द्वारा भावों को उत्कर्ष प्रदान किया गया है। उदाहरणार्थ :—

हाथ साथ लाग्यो, पै समीप न कहूँ लहै

अर्थात् मन प्रिय के हाथ में रहते हुए भी उनका सामीप्य का सुख-लाभ नहीं प्राप्त नहीं कर सकता। इस उक्ति में प्रेम के भाव का उत्कर्ष दिखाया है। इसी प्रकार—

नेह नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड़यो रहै

अर्थात् स्नेह रूपी नीर से भींग कर मन उड़ रहा है। किन्तु यह विरोधाभास कहीं-कहीं अन्य अलंकार से समन्वित होकर आता है तो इसका प्रभाव और भी बढ़ जाता है—

घन-आनन्द जीवन मूल सुजान की कौंधन हूँ न कहूँ दरसैं।
सु न जानिए धौं कित छाय रहे दृग चातिग-प्रान तपे तरसैं॥
बिन पावस तो इन्हें थ्यावस हो न, सु क्यों करि ये अबतो परसैं।
बदरा बरसैं रितु पैं घिर कें नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं॥

इसके साथ ही इन स्वच्छन्द कवियों में उक्ति वैचित्र्य भी देखने योग्य है। लाक्षणिक प्रयोग इनकी कविताओं में भरे पड़े हैं। उक्ति वैचित्र्य का एक उदाहरण लीजिये—

मोहि तुम एक, तुम्हें मोसम अनेक आहि,
कहा कछु चंदहि चकोरनि की कमी है।

प्रिय के लिए चन्द्रमा और प्रेयसी के लिए चकोर का प्रयोग करके कवि ने भावव्यंजना का सुन्दर समावेश किया है। इन कवियों की लाक्षणिकता आगे चलकर छायावादी काव्य में विकसित हुई है। छायावादी शैली में घनानन्द ने इस सवैये में मुद्राओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

निस-द्यौस खरी उर-माँझ अरो, छबि रंग-भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यौं चख ढोर रहे, ढरि गो हिय ढोरनि बाहनि की॥
चट दै कटि पै बढ़ि प्रान गये गति सौं मति मैं अवगाहनि की।
घनआनन्द जान लखी जब तें जक लागियै मोहि कराहनि की॥

८—इन स्वच्छन्द कवियों ने अपने काव्य में मुहावरे और लोकोक्तियों का मनोहर विधान किया है जिससे उनकी उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है। ठाकुर ने तो लोकोक्तियों का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है। यह लोकोक्तियों का प्रयोग-भाव व्यंजना में सहायक सिद्ध हुआ है। घनानन्द की इस पंक्ति में देखिये—

'अब तो सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियेजू।'

मुहावरों का सुन्दर सामञ्जस्य घनआनन्द की कविता में देखने योग्य है। कहीं-कहीं तो पूरे कवित्त या सवैये में मुहावरे गुँथे पड़े हैं—

जाहि जोय चाहे सो तहीं पै ताहि चाहे,
वाहि ढूँढ़त ही मेरी गति मति गई खोय है।
कहै कित ओर, और रहौं तौ रहौं न ठौर,
घर कों उजारि कै बसत बन जोय है।
कहौ आनि ऐसी घनआनन्द अनैसी दसा,
जीवो जान प्यारे बिन जागे मयो सोय है।
जगत हँसत यों जियत मोहि तातें मैन,
मेरे दुःख देखि रोयो फिरि कौन रोय है।

६—इन कवियों ने अपनी रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रयोग करके उसे गौरवान्वित किया। इन्होंने भाषा की शक्ति को बढ़ाया और उसे भावानुकूल मोड़कर अपनी 'भाषा प्रवीणता' का परिचय दिया। वाग्योग और उक्ति वैचित्र्य का विधान, इन कवियों की भाषा-प्रवीणता का द्योतन करता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिमुक्त प्रतिनिधि कवि घनआनन्द की भाषा प्रवीणता की विशेषता बतलाते हुए कहा है—"घनआनन्द की रचना में तो भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ की सम्पत्ति से समृद्ध होकर सामने आती है। वाक्यध्वनि, पदध्वनि तो दूर रहे, इन्होंने पदांश ध्वनि से भी जगह-जगह काम लिया है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

मेरो मनोरथ हू बहिये अरु है मो मनोरथ पूरनकारे।

यहाँ 'मनोरथ' का श्लेष-बल से 'मन का रथ' अर्थ व्यक्त करके कवि ने केवल 'हू' से बहुत बड़ी व्यंजना की है। 'हू' का अर्थ है कि हे कृष्ण, जिस प्रकार आपने अर्जुन का रथ वहन किया था उसी प्रकार मेरा मनोरथ भी वहन कीजिए, क्योंकि आप 'जनार्दन' ठहरे।" घनआनन्द ब्रजभाषा प्रवीण भी थे इसीलिए इन्होंने ब्रजभाषा को बड़ी मधुरता प्रदान की। इनकी भाषा में अधिकतर शुद्ध और संस्कृत रूपों के दर्शन होते हैं किन्तु कहीं-कहीं फारसी के शब्दों का भी सफल प्रयोग मिलता है। इन कवियों ने ब्रजभाषा में विशुद्धता और प्रौढ़ता के साथ माधुर्य का भी अपूर्व विनियोग किया है।

रीतिमुक्त शृंगारी कवियों की परम्परा

अब हम संक्षेप में इन रीतिमुक्त शृङ्गारी कवियों की परम्परा का भी विचार करेंगे। अठारहवीं शताब्दी में शृङ्गारी कविता में एक प्रकार की स्वच्छन्द प्रेमधारा का विकास हुआ किन्तु इससे पूर्व भक्तिकाल में भी 'रसखान' (लगभग सम्वत् १६२२) नाम के उन्मुक्त भक्त कवि हो चुके थे। वे यद्यपि भक्त कवि माने गये हैं तथापि उनमें उन्मुक्त प्रेम का वर्णन ही अधिक हुआ है। अपनी प्रेम की उमंग के कारण ही नहीं वरन् कृष्ण भक्त कवियों की गीतात्मक शैली के स्थान पर कवित्त-सवैया पद्धति को अपनाकर भी उन्होंने भक्त कवियों से अपना पार्थक्य सूचित किया। अपनी इसी स्वच्छन्द प्रवृति के कारण वे भक्त कवियों से अलग और प्रेमी गायक कवियों में प्रमुख हो जाते हैं। इनमें शुद्ध भक्त के स्थान पर शुद्ध प्रेम का ही विकास दर्शनीय है। दूसरी बात इन पर फारसी की एकान्तिक प्रेमवादी कवियों की रचनाओं का प्रभाव है।

रसखान अत्यन्त प्रेमी जीव थे। उन्होंने अपने हृदय के सहज प्रेम को सरल एवं सहज भाषा में अभिव्यक्त किया है। इनकी अनुभूति में बड़ी सरसता एवं तन्मयता है। इनकी दो रचनाएं प्राप्त हैं—सुजान रसखान और प्रेम वाटिका। प्रेमवाटिका में ५२ दोहों का संग्रह है। सुजान रसखान में कवित्त और सवैयों का आधिक्य है, कुछ दोहे भी हैं। कुल पद्यों की संख्या १२६ है। इन दोनों रचनाओं में प्रेम की व्यंजना विविध रूप में हुई है। इन भावनाओं के आलम्बन श्रीकृष्ण हैं। इनमें प्रेम के उच्च स्वरूप का निरूपण है—

रसमय, स्वाभाविक, बिन स्वारथ, अचल, महान।
सदा एक रस, शुद्ध सोइ, प्रेम रहै रसखान॥

इनमें प्रेम की अनन्यता है और अपने प्रिय की क्रीड़ा भूमि के प्रति आसक्ति है। देखिए, इस सवैये में इनके व्रजभूमि प्रेम का वर्णन है—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं सङ्ग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदंब की डारन॥

इसी प्रकार उन्होंने प्रेम के भरम का महत्त्व बतलाया है—

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं जान्यो जात बिसेस ।
सोइ प्रेम जेहि जान कै रहि न जात कछु सेस ॥
प्रेम फांस सों फंसि मरै सोई जियै सदाहि ।
प्रेम-मरम जाने बिना मरि कोउ जीवत नाहिं ॥

इस प्रकार स्पष्टतया ही रसखान में वह साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं है जो सूरदास इत्यादि में है । इनमें प्रेम की स्वच्छन्द वृत्ति का विकास हुआ है । ये विट्ठलनाथ के कृपापात्र शिष्य थे किन्तु पुष्टिमार्ग के नैमित्तिक कर्मों एवं सम्प्रदायगत भक्ति भावना की कट्टरता से विमुख अपने हृदय की प्रेम की उमंग को अपनी कविता में सहज रूप में प्रकट करने में व्यस्त थे । इनकी रचनाएँ यद्यपि परिमाण में थोड़ी ही हैं किन्तु प्रेमियों को प्रभावित करने वाली हैं । ये कृष्ण की प्रेमलतिका के लोकप्रिय कवि थे ।

इनके बाद स्वच्छन्द प्रेमधारा के प्रसिद्ध कवि आलम हुए । आलम से पूर्व के बेनी और बनवारी में भी कुछ स्वच्छन्द प्रेमधारा की कविता का आभास मिलता है । फिर भी इनमें वह स्वच्छन्दता नहीं है जो स्वच्छन्द धारा के प्रेमी कवियों में पाई जाती है । आलम का रचनाकाल सं० १७४० से सं० १७६० के लगभग था । इनकी कविताओं का एक संग्रह "आलमकेलि" के नाम से निकला है। इनकी पत्नी शेख भी कविता करती थीं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका बड़ा सुन्दर परिचय दिया है—"ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे । इसी से इनकी रचनाओं में हृदय तत्त्व की प्रधानता है । 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है । उत्प्रेक्षाएँ भी इन्होंने बड़ी अनूठी और बहुत अधिक कही हैं । शब्द-वैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती । शृंगाररस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते हैं । यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही सम्भव है ।………प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान और घनआनन्द की कोटि में होनी चाहिये ।" कहने का तात्पर्य यह कि आलम की कविता में प्रेमोन्मत्त कवियों की धारा के सभी गुणों का

परिपाक हुआ है। उसमें तन्मयता है, चमत्कारिक अलंकरण का विरोध है, उक्ति वैचित्र्य है और सबसे बड़ी वस्तु 'प्रेम की पीर' है, जिसका उन्होंने बड़ी उन्मादमयी उक्तियों में वर्णन किया है। उनकी विरह कविता का एक सवैया यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरि बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यों करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

महाकवि घनआनन्द—आलम के बाद महाकवि घनआनंद (जन्म लगभग संवत् १७४६) ने स्वच्छंद प्रेम की कविता को समृद्ध किया। ये मुहम्मदशाह रंगीले के मीरमुंशी थे और सुजान नाम की वेश्या पर अनुरक्त थे। आगे चलकर इनकी सुजान अलौकिक कृष्ण का प्रतीक बन गई और इनका प्रेम चिन्मुख हो गया। शुक्लजी के शब्दों में 'लौकिक प्रेम' की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुए।' अपने लौकिक प्रेम की असफलता एवं सुजान से वियोग होने के कारण इनके काव्य में विरह वर्णन की अधिकता है और इन्हीं वर्णनों में उनके हृदय के भावों की सच्ची अभिव्यक्ति भी हुई है। शुक्ल जी ने घनानन्द के विरह की विशेषता इन शब्दों में व्यक्त की है—"घनानन्द ने न तो बिहारी की तरह विरह-ताप को बाहरी मान से मापा है, न बाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है—बाहर से वह वियोग प्रशान्त औ गम्भीर है; न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी "मौन मधि पुकार" है।" श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है—"घनानन्द ने विरह के महत्त्व को भलीभाँति समझा था। इसलिये प्रेमी के विरहदग्ध हृदय तथा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अनिर्वचनीय मानसिक व्यापारों का जैसा सुन्दर वर्णन अपनी कविता द्वारा उन्होंने किया है वैसा बहुत कम कवि कर पाये हैं।·······उनके विरह वर्णन में एक आश्रित का अनुरोध एवं मर्यादित आत्मनिवेदन है जो अपनी स्वाभाविकता के कारण सुनने वाले का मन बरबस ही अपनी ओर खींच लेता है।"

घनआनन्द का विरह विशिष्ट है। इसमें गहरी वेदना है। प्रेमी कवि

घनआनन्द के विरह की प्रशंसा प्रसिद्ध कवि रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में सुनिये—"विरह तो घनानन्द की पूँजी ठहरा।.........रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और कुण्ठा के वातावरण में घनानन्द की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मन सहज ही मान लेता है कि दूसरों के लिये किराये पर आँसू बहाने वालों के बीच यह एक ऐसा कवि है जो सचमुच अपनी ही पीड़ा से रो रहा है।"

घनानन्द की विरहानुभूति बड़ी तीव्र है किन्तु सरस भी। उसमें हृदय का सच्चा एवं तीव्र प्रेम उमड़ कर बह रहा है। ये सच्चे प्रेमोन्मत्त गायक थे। इसीलिए इनकी कविता में चमत्कार-प्रदर्शन का अभाव है। ये कविता सृजन करने के लिए परेशान नहीं होते थे। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में इनके "हृदय का वेग ही कविता का रूप धारण कर लेता था।" घनानन्द ने कहा भी है—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।

इनकी कविता में हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन हुआ है। इन्होंने विरहिणी की मानसिक स्थितियों को अनेक रूपों में चित्रित किया है। विरहिणी की अधीरता और पीर का वर्णन देखिए—

अंतर ही किधौं अंत रहौ, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पान परौं, अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जो घनआनँद ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें, धरनी में धँसौं कि अकासहि चीरौं॥

इसमें विरही हृदय की तड़पन का बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है। ऐसे मार्मिक छन्दों से घनआनन्द की कविता भरी पड़ी है। विरहिणी के उपालम्भों की छटा भी देखने योग्य है। वही मार्मिकता है और क्यों न हो, हृदय की सच्ची अनुभूति है। विरहिणी कहती है कि 'हे निष्ठुर पहले तो तूने प्रेम जताकर मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अब तुझे इस प्रकार निष्ठुरता दिखाना शोभा नहीं देता—

मोही मोह जनाय कै, अरे अमोही ? मोहि ।
सोही मोही सों कठिन, क्यों करि सोही तोहि ॥

जिस शरीर के अंग-अंग में कामदेव का वास था उसी शरीर के अन्दर अब वियोग की प्रबल अग्नि प्रज्वलित कर दी—

सींचे रस-रंग अङ्ग अङ्गनि अनङ्ग सौंपि,
अन्तर में विषम विषाद बेलि वै जले ।

इनकी विरहिणी कालिदास के यक्ष की भाँति मेघ के द्वारा संदेश भी भेजती है—

परकाजहि देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ ॥
घनआनँद जीवन दायक हौ कछु मेरी यौ पीर हिये परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मों अँसुवान कौं लै बरसौ ॥

आचार्यों ने विरह की दस अवस्थाएँ मानी हैं—स्मृति, गुण कथन, अभिलाषा, मूर्च्छा, व्याधि उद्वेग, प्रलाप, जड़ता, उन्माद और मरण। घनानन्द के काव्य में विरहान्तर्गत इन सभी अवस्थाओं का चित्रण बड़ी गहराई और भावुकता से हुआ है। इस विरह वर्णन में घनानन्द पर कहीं-कहीं फारसी पद्धति के विरह वर्णन का प्रभाव भी परिलक्षित होता है—

कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरिलै ।
पैंडे परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यौंही,
चातक घातक त्योंही तू ही कान फोरिलै ॥ इत्यादि ॥

घनानंद के भाव-पक्ष का संक्षिप्त विवेचन करने के बाद उनकी विरोधमूलक शैली का भी विचार करना आवश्यक है। निश्चय ही इन्होंने अलंकार का उद्देश्य भावोत्कर्ष ही रखा है। इन्होंने विरोधाभास का आश्रय लेकर उक्ति वैचित्र्य का सौन्दर्य उद्घाटित किया है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने घनआनंद की कविता में विरोधाभास की प्रचुरता देखकर एक बहुत बड़ा दावा किया है—"विरोधाभास के अधिक प्रयोग से घनआनंद की सारी रचना भरी पड़ी है। साहसपूर्वक यह कहा जा सकता है कि जिस पुस्तक में कहीं भी यह प्रवृत्ति न

दिखाई दे उसे बेखटके घनआनन्द की कृति से पृथक किया जा सकता है और जहाँ यह प्रवृत्ति दिखाई दे उसे निःसंकोच इनकी कृति घोषित किया जा सकता है। इस 'अन्वय व्यतिरेक' से इनकी कृतियों के छाँटने में पूरी सहायता मिल सकती है।" इनकी इस विरोधाभास-मूलक प्रवृत्ति के दो एक उदाहरण यहाँ उपयुक्त रहेंगे—

झूठ की सचाई छाक्यो त्यों हित कचाई पाक्यो,
ताके गुनगन घनआनंद कहा गनो।

यहाँ विपरीत लक्षण से विरोधाभास की सुन्दर झलक है। इसी प्रकार निम्न पंक्तियों में—

देखिये दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघनि करति हैं।'

इसमें 'भसमी बिथा' पद के श्लेष द्वारा कवि ने आँखों की दशा एवं अन्तर्वृत्ति का सुन्दर उद्‌घाटन किया है। घनानन्द ने रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों का प्रयोग भी प्रेम की सच्ची अनुभूति व्यक्त करने के लिए किया है। घनानन्द का भाषा सौन्दर्य भी देखने योग्य है। इनकी भाषा के स्निग्ध, सरल और चलते प्रवाह एवं नाद व्यंजना पर शुक्लजी मुग्ध थे। स्वाभाविकता एवं सरलता उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। उदाहरणार्थ निम्न सवैये में प्रेमोन्मत्त बेसुध नायिका की बुरी दशा का वर्णन देखिए—

खोय गई बुधि, सोय गई सुधि, रोय हँसे उन्माद जग्यो है।
मौन गहे चकि चाक रहे, चलि बात कहे, तें न दाह दग्यो है।
जानि परै नहिं जान! तुम्हें लखि कहा कछु आहि लग्यो है।
सोचनि ही पचिये घनआनंद हेतु पग्यो किधौं प्रेत लग्यो है॥

घनआनन्द के नाद सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण शुक्लजी ने अपने इतिहास में दिया है। वे घनआनन्द की भाषा की संगीतात्मकता में काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्ष देखकर उस पर मुग्ध थे। उनका यह कवित्त बहुत प्रसिद्ध है—

रे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन वारि,
तोसों और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।

जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान घन,
आनंद-निधान सुखदान दुखियान दै ॥ इत्यादि ॥

शुक्लजी के शब्दों में "ऊपर के कवित्त के दूसरे चरण में आए हुए "आनन्द निधान सुखदान दुखियानि दै" में मृदंग की ध्वनि का बड़ा सुन्दर अनुकरण है।"

उपरोक्त विवेचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वच्छन्द प्रेम-धारा के प्रतिनिधि कवि घनआनन्द के काव्य सौष्ठव के सम्बन्ध में निम्न सवैया बहुत सटीक है। इसमें घनआनन्द के काव्य के दोनों पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष—की सभी विशेषताओं का सूत्र शैली में उद्घाटन हुआ है। यह सवैया कवि घनआनन्द के आद्यंत-समालोचना-साहित्य की आधार-शिला पर हुआ है।

नेही महा, ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग-वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद-स्वरूप को ठानै।
चाह के रङ्ग मैं भीज्यो हियो, बिछुरे-मिले प्रीतम साँति न मानै।
भाषा प्रवीन, सुछंद सदा रहै, सो घन जी के कवित्त बखानै ॥

अन्त में हम शुक्ल जी के शब्दों में कह सकते हैं कि "इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य्य भी अपूर्व ही है। विप्रलम्भ शृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिया है। ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का एक ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रज-भाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"

बोधा—घनआनन्द के बाद पन्ना दरबार के कवि (जन्म सं० १८०४) बोधा का नाम आता है। इनका नाम बुद्धसेन था। घनानंद की भाँति इनका सम्बंध भी सुजान नामक वेश्या से बताया जाता है। इनके दो ग्रन्थ हैं विरह-वारीश और इश्कनामा। इनके अतिरिक्त बहुत से फुटकल कवित्त सवैये भी मिलते हैं। इन पर सूफियों की 'प्रेम की पीर' का प्रभाव स्पष्ट है, देखिए—

जबतें बिछुरे कवि बोधा हितू,
तब तें उरदाह थिरातो नहीं।
हम कौन सों पीर कहें अपनी,
दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

बोधा ने विरह-वर्णन भारतीय पद्धति पर वर्णित किया है; किन्तु साथ ही उन्होंने 'इश्कमजाजी' और 'इश्क हकीकी' का भी उल्लेख करके अपने ऊपर पड़े सूफी प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने बोधा कवि की प्रेम की उमंग की अन्य प्रेमी कवियों से इस प्रकार तुलना की है—"रीतिकाल में अगर घनानन्द को लेकर एक अलग परिवार की कल्पना की जाय तो उनके सबसे अधिक विश्वासी कवि बोधा होंगे....। बोधा घनानन्द के ही गुटका संस्करण से लगते हैं। प्रेम का वही नशा, विरह की वही बेचैनी, भावुकता की वही लहर और निराशा में तड़प कर जान दे देने की वही चाह। बल्कि जान दे देने का मजमून घनानन्द में बहुत थोड़ा सा है, लेकिन बोधा इस मजमून के बहुत कायल हैं। बोधा का व्यक्तित्व एक भावुक प्रेमी का व्यक्तित्व है, जिसे प्रेम से निराशा हुई है, जिसके मन की आग मन में ही जल रही है और उसे कहीं भी वह आदमी नहीं मिलता जिसके सामने अपनी वेदना कह कर वह अपने जी को हल्का करे।" इनकी श्री राधिकाजी के चरणों में प्रीति थी। अन्य सब प्रेम की उमंग वाले कवियों की भाँति इन्होंने भी राधा कृष्ण के प्रेम का सहारा लेकर अपने हृदय की भावनाओं को व्यक्त किया।

ठाकुर—बोधा के बाद स्वच्छन्द प्रेम धारा के कवि ठाकुर (जन्म सं० १८२३) का नाम आता है। इतिहास में दो अन्य ठाकुर नाम के कवि प्रसिद्ध हैं किन्तु प्रेमधारा के कवि ठाकुर का जन्म ओरछा (बुन्देलखण्ड) में हुआ था और इनकी रचनाओं में बुन्देलखण्डी कहावतें या मुहावरे बहुत आये हैं जिनसे इनकी रचनाएं पहचानी जा सकती हैं। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'ठाकुर ठसक' नाम से लाला भगवानदीन ने प्रकाशित कराया था। ठाकुर सच्ची प्रेम की उमंग के कवि हैं। इनकी प्रेमधारा पर फारसी प्रभाव बहुत कम है। इनकी रचनाओं में प्रेमभाव की बड़ी स्वाभाविक एवं सरल

अभिव्यक्ति हुई है। शुक्लजी ने भी लिखा है—"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। उनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्यमात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। गोपियों के द्वारा इन्होंने प्रेम की अनुभूति की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना की है। प्रेम की निर्भीकता, दृढ़ता एवं अनन्यता इन पंक्तियों में देखिए—

> धिक कान जो दूसरी बात सुनें, अब एक ही रङ्ग रहो मिलि डोरो।
> दूसरो नाम कुजात कहैं रसना जो कहे तो हलाहल बोरों।
> ठाकुर यों कहतीं ब्रजबाल सु ह्याँ बनितान को भाव है भोरो।
> ऊधो जरै वे अँखियाँ जरि जायें जो साँवरो छाँड़ि तकै तन गोरो।

"साँवरों छाँड़ि तकै तन गोरो" में बड़ी मार्मिक व्यंजना है। इनकी कविता में लोकोक्तियों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। शुक्लजी ने इनकी इस विशेषता को लक्ष्य करके कहा है—ब्रजभाषा की शृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री पात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं। अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तिओं में और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात बात में कहावतें कहा करती हैं।" ठाकुर कवि की एक विशेषता यह भी है कि इन्होंने प्रेमभाव की कविता के अतिरिक्त अन्य साधारण विषयों को भी अपनाया है—जैसे लोकप्रचलित त्योहार, उत्सव एवं लोगों की कुटिलता, क्षुद्रता इत्यादि।

यों तो अन्य दोनों ठाकुर कवियों की कविताओं में स्वच्छन्द प्रेम की झलक मिल जाती है किन्तु स्वच्छन्द प्रेम-काव्य-धारा में तीसरे बुन्देलखण्ड के ठाकुर का ही स्थान है। मुबारक और द्विजदेव की कविताओं में भी रीति मुक्त शृंगारी भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। द्विजदेव की रचना बड़ी सरस एवं भावमयी है। इनके दो ग्रंथ हैं—शृंगार बत्तीसी और शृंगारलतिका। इस प्रकार रीति मुक्त शृंगारी कवियों की परम्परा अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही। इसके बाद इस काव्यधारा का विकास रुक गया।

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ सम्वत् १६०० से माना है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रादुर्भाव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। हिन्दी साहित्य में नवयुग की चेतना का विकास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय दोनों ही घटनायें एक दूसरे से घुली मिली हैं। सच तो यह है कि भारतेन्दु जी से ही साहित्य में नवयुग की चेतना के दर्शन होते हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ सम्वत् १६२५ (हरिश्चन्द्र जी के रचना-काल) से मानना उचित है। भारतेन्दु जी ने हिन्दी साहित्य की धारा को शृंगारकालीन परम्पराओं और रूढ़ियों के बंधन से हटाकर राष्ट्रीयता और समाज-सुधार आदि की नई दिशा की ओर मोड़ा।

किसी युग के साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का उद्भव चमत्कारिक घटना के रूप में एकाएक नहीं हुआ करता, अपितु उसका बीज उसके वातावरण में बहुत गहरा जमा होता है और उपयुक्त परिस्थितियों से पोषण पाकर अंकुरित एवं पल्लवित हो जाता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नवयुग की चेतना का विकास बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका बीज इसी युग की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था, धार्मिक परिस्थितियों एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि में मिलता है।

राजनीतिक चेतना—सन् १७५७ के प्लासी युद्ध ने अंग्रेजों की नींव भारत में दृढ़ कर दी और धीरे-धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन सारे भारत में फैल गया। ज्यों-ज्यों कम्पनी का प्रभुत्व बढ़ा त्यों-त्यों उसके अधिकारियों के अत्याचार भी बढ़े। इससे देश की जनता में बड़ा असन्तोष छा गया। इसके साथ ही कम्पनी के अधिकारियों ने देशी राज्यों को मिलाने के अनेक साधन निकाले जिसमें "लैप्स की नीति" बड़ी कुटिल सिद्ध हुई। सन् १८५४ में झाँसी

को "लैप्स की नीति" के द्वारा कम्पनी ने अपने शासन में ले लिया। इस प्रकार देश में प्रजा और देशी राजा दोनों ही कम्पनी के अत्याचारपूर्ण शासन से घबराये हुए थे। इसी बीच में 'नए कारतूसों' ने आकर कम्पनी की सेना में भर्ती भारतीय सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को बड़ी ठेस पहुँचाई और सन् १८५७ में भारतीयों ने अंग्रेजों के विरुद्ध प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध छेड़ा। एक वर्ष भी पूरा नहीं बीत पाया और दासता के प्रति किया हुआ विद्रोह दबा दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त करके ब्रिटेन की सरकार ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की जिसमें भारतवासियों को बड़े मधुर आश्वासन दिए गए। भारतीयों में एक नवीन चेतना और आशा की लहर दौड़ गई। कम्पनी के अत्याचारपूर्ण शासन और डलहौजी की नीति को देखते हुए विक्टोरिया का शासन भारत की जनता के लिए बड़े सन्तोष का विषय था इसीलिए विक्टोरिया के मरने पर भारत-वासियों ने बहुत दुःख माना। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में देश की जनता में अंग्रेजी राज्य के प्रति राजभक्ति दिखाने और उनसे सुधार की प्रार्थना करने की प्रवृत्ति थी। पर अंगरेजी शासन में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा और उनकी अत्याचारपूर्ण नीति में यन्त्रों के विकास के साथ ही आर्थिक शोषण और टैक्सों का एक नया अध्याय और जुड़ गया। धीरे-धीरे देश की जनता को यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया कि प्रार्थनाओं का परिणाम कुछ भी नहीं होगा। इधर इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने भारतीयों की राजनीतिक चेतना को और अधिक विकसित किया। कांग्रेस की स्थापना से जनता के सामने कुछ निश्चित राजनीतिक सिद्धान्त उपस्थित हुए जिनकी प्राप्ति के लिए देश की जनता में अदम्य उत्साह छा गया। इटली के स्वतन्त्रता युद्ध, आयरलैण्ड के 'होमरूल' आन्दोलन तथा फ्रान्स की राजक्रांति के इतिहास ने जनता की विरोधी भावना को और अधिक उकसाया और बहुत से नवयुवक हिंसात्मक उपायों से अंग्रेजी राज्य को हटाने के इच्छुक हो गए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नवयुग की इस राजनीतिक चेतना का प्रभाव भारतेन्दु-युग में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इसके पश्चात् राजनीतिक चेतना का दूसरा काल सन् १९०५ से आरम्भ

होता है। अब कांग्रेस आवेदन और प्रार्थना की नरम नीति को छोड़ने लगी थी और उसने 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' की घोषणा कर दी। इसी समय कांग्रेस में दो दल हो गए—गरम दल तथा नरम दल। सच तो यह है कि कर्जन की बङ्गाल-विभाजन की भारत विरोधी नीति से राष्ट्रीय भावनाओं से पूरित भारतीय जनता की आँखें खुल गई थीं और वे अंग्रेजों को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। इसीलिए जनता में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा और वर्तमान परिस्थितियों के प्रति क्षोभ उत्पन्न हो रहा था। नेतागण, विचारक और कवि दासता में जकड़ी हुई जनता को अतीत के गौरव का स्मरण कराकर नवीन व्यवस्था के विरुद्ध कर रहे थे। इसके लिए उन्होंने देश की सामाजिक अवस्था में सुधार करना आवश्यक समझा और यही कारण था कि उस युग के विचारक एवं कवि, अछूत, किसान तथा शोषित पीड़ित वर्गों के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं। इस युग में भारतीय राजनीति का आधार मानवतावाद बन गया था। देश के असंतोष को शान्त करने के लिए अंग्रेजी शासकों ने समय-समय पर शासन प्रणाली में सुधार किए। सन् १९०९ में मार्ले-मिन्टो सुधार कानून पास हुआ, इसने मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व दिया। जिससे हिन्दू-मुस्लिम एकता को बड़ी ठेस पहुँची। बड़े प्रयत्न के बाद १९१६ में हिंदू मुस्लिम समझौता हो सका और श्रीमती एनीबेसेंट के प्रयत्न से कांग्रेस के दोनों दलों में भी एकता हो गई। किन्तु इसी बीच योरोप में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। भारतीयों ने अंग्रेजों की दिल खोल कर मदद की किन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् अंग्रेजों ने अपने वायदे पूरे नहीं किए, उल्टे रौलट ऐक्ट (१९१९) के द्वारा भारतीय जनता की स्वतंत्रता के अधिकार छीन लिए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के इतिहास में राजनीतिक चेतना के द्वितीय उत्थान का यह समय द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है।

इसके पश्चात् राजनीतिक चेतना का तृतीय काल प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से प्रारम्भ होता है। महायुद्ध के बाद भीषण जन-संहार के कारण मानवचित्त उद्वेलित हो रहा था, और उसके ऊपर से भारतीयों के ऊपर अंग्रेजों ने 'रौलट-एक्ट कानून' की दमनपूर्ण नीति के द्वारा बड़ा कठोर आघात

किया। एक ओर सुधार का ढोंग था तो दूसरी ओर घोर दमन की अत्याचार-पूर्ण नीति, जिसका भारत की सभी जातियों ने घोर विरोध किया। सन् १९२० में तिलक के देहावसान से कांग्रेस का नेतृत्व पूर्ण रूप से गांधीजी के हाथ में आ गया। राजनीतिक चेतना के इस तृतीय उत्थानकाल को हम ग्राम-उद्धार एवं मध्य-वर्ग की चेतना के विकास में देख सकते हैं। गांधी जी ने अहिंसात्मक उपायों से स्वतंत्रता प्राप्ति को लक्ष्य बनाया और इसका मुख्य आधार था असहयोग एवं ग्राम उद्धार। इस प्रकार गांधीजी अपनी सारी शक्ति रचनात्मक कार्य में लगा रहे थे। इस काल में युग की चेतना का यही कारण था। साथ ही अन्य राजनीतिक विद्वान अपने विचारों से बुद्धिजीवी-वर्ग में देशभक्ति का संचार कर रहे थे। धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी ने भारत के लिए औपनिवेशिक-स्वराज्य की जगह पूर्ण स्वराज्य की मांग की। इस प्रकार कांग्रेस पार्टी के राजनीतिक कार्यों से जनता में राष्ट्रीयता की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गई। असहयोग के दो रूप थे, एक तो विदेशी शासकों के साथ असहयोग और दूसरी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। इसमें मुख्यतया विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार हुआ और खादी राष्ट्रीय भावना की प्रतीक बनी। गांधीजी ने स्वतन्त्रता संग्राम में मानवतावाद को प्रमुख स्थान दिया। गांधीजी की इस मानवतावादी भावना के कई रूप मिलते हैं, जैसे अहिंसा, सत्याग्रह, राजनीतिक समानता, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, धार्मिक समन्वय, ग्रामोद्धार, जमींदारी का विरोध इत्यादि। निस्सन्देह उपरोक्त विभिन्न कार्यों में गांधीजी के रचनात्मक आन्दोलन का बड़ा सुष्ठ स्वरूप दिखाई पड़ता है। इनमें से हरिजन आन्दोलन, जमींदारी प्रथा का विरोध एवं अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह इत्यादि राष्ट्रीय एकता एवं देश-व्यापी राजनीतिक चेतना में विशेष सहायक सिद्ध हुए। इसी युग में बङ्गाल के ठाकुर रवीन्द्रनाथ ने भी मानवतावाद का प्रचार अपने साहित्य द्वारा किया। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व संस्कृति, आध्यात्मिकता इत्यादि का प्रचार किया। इस प्रकार राजनीतिक चेतना के तृतीय उत्थान में गांधी और रवीन्द्र दो महान् व्यक्ति जिन्होंने युग की विचारधारा को बड़े व्यापक रूप से प्रभावित किया।

राजनीतिक चेतना का चौथा युग द्वितीय महायुद्ध से प्रारम्भ होता है।

इस युग में स्वतन्त्रता संग्राम बड़े उत्साह से चल रहा था और भारतीयों का पक्ष विश्व के अन्य राष्ट्र भी लेने लगे थे। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद धीरे-धीरे पूर्ण स्वतन्त्रता मिलने की आशा हो रही थी। परन्तु इसके साथ ही साथ पूंजीवाद बढ़ रहा था और इससे जनता में बड़ा असन्तोष छाया हुआ था। इस युग में स्वतन्त्रता आन्दोलन का स्वरूप प्रथम युद्ध के समय से बहुत बदल गया था। साथ ही राजनीतिक परिस्थितियों में भी बहुत परिवर्तन हो चुका था। अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हिन्दू और मुसलमानों को आपस में समझौता करना था। इसी समय (सन् १९४५) में ब्रिटेन में उदारदल की सरकार बनी जिसको भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ पूर्ण सहानुभूति थी। धीरे-धीरे भौतिकता के विकास के साथ ही देश के जीवन में बड़ी शुष्कता आ गई थी। इस युग की राजनीतिक चेतना की एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात समाजवादी विचारधारा का विकास है। पूंजीवाद के बढ़ने से वर्ग संघर्ष बढ़ रहा था। भारतवर्ष में आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न वर्ग संघर्ष में मार्क्सवादी विचारधारा को विशेष बढ़ावा मिला। इसका मुख्य कारण स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए और विशेषकर राजनीतिक अन्यायों का विरोध करने के लिए अपनाये गए सत्याग्रह और हड़तालों द्वारा जाग्रत मजदूरों एवं कृषक वर्ग का चैतन्य था। इन सब बातों का उस युग की विचारधारा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे वह दिन भी आ गया जब भारत स्वतन्त्र हुआ, गणतन्त्र का आविर्भाव हुआ।

गणतन्त्र के आविर्भाव के साथ ही हमारे देश में राजनीतिक चेतना का पाँचवाँ युग आरम्भ होता है, इसे हम वर्तमानकाल कह सकते हैं। अब राजनीतिक चेतना का स्वरूप किसी विदेशी सरकार के प्रति विद्रोह नहीं रह गया, वरन् राष्ट्रीय एकता और उसका अन्तर्राष्ट्रीयता में विकास हो गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही हमारे देशवासियों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ और उन्होंने विश्व के अन्य दासता में जकड़े हुए लोगों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। साथ ही आन्तरिक संघर्ष से अवकाश पाकर भारतीय राजनीतिज्ञों ने विश्व के अन्य राष्ट्रों से सम्पर्क बढ़ाया तथा सहअस्तित्व के सिद्धान्त को विश्व के सामने रखा। इसलिए आज भारत का स्थान विश्व के अन्य राष्ट्रों में बहुत

ऊँचा है और अपनी विश्वशान्ति की पंचशील नीति के लिए वह प्रशंसा का पात्र है। इस प्रकार हमने हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल की राजनीतिक चेतना के विकास का संक्षेप में विवेचन किया।

सामाजिक व्यवस्था—भारत में अंग्रेजी शासन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारत में सामाजिक जीवन में आधुनिक काल में जो चेतना आई उसका कारण आंग्ल-भारतीय सम्पर्क है। सामाजिक क्षेत्र की परम्पराओं एवं रूढ़ियों पर आंग्ल-सम्पर्क ने आघात किया और भारतीय दृष्टिकोण व्यापक हुआ। अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव भारतीय दृष्टिकोण में परिवर्तन करने में सहायक हुआ। मध्यकालीन हिन्दू धर्म का कट्टरपन अब धीरे-धीरे दूर होने लगा! वैसे भी मुगलों के पतन के साथ ही हिन्दू धर्म की स्थिति दृढ़ एवं सुरक्षित हो गई थी। ऐसे ही समय में आर्यसमाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानन्द का आविर्भाव हुआ और उन्होंने हिन्दू धर्म की अनुदारता एवं कट्टरपन को दूर करने के लिए एक बड़ी क्रांति उपस्थित की। आर्यसमाज के आन्दोलन ने हिन्दू समाज को जाग्रत किया। सचमुच यदि आर्यसमाज के द्वारा क्रांति उपस्थित न की गई होती तो हिंदू समाज बहुत पिछड़ जाता और निश्चय ही दुर्बल हो जाता। कारण स्पष्ट ही पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण, विदेशी सरकार की कृपा प्राप्त करने के लिए ईसाई धर्म अपनाना था। इस प्रकार आर्यसमाज ईसाई-धर्म आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया। पश्चिमी-संस्कृति का प्रभाव बंगाल से होता हुआ सारे देश के सामाजिक जीवन पर छा रहा था। अंगरेजी शिक्षा इस प्रकार के विकास में विशेष सहयोगी थी। इस प्रकार प्राचीन वैदिक प्रेरणा को लेकर स्वामी दयानन्द ने सामाजिक क्षेत्र में क्रांति उपस्थित की। सामाजिक रूढ़ियों का तिरस्कार होने से जीवन के मूल्य बदले। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रथम उत्थान (भारतेन्दु-युग) में सामाजिक द्वंद्व का स्वरूप व्यक्त हुआ। एक ओर विधवा-विवाह के पक्षपाती थे तो दूसरी ओर इसे 'अनहोनी' कहने वाले भी मौजूद थे। इसी प्रकार एक ओर जाति-पाँति के विरोधी थे तो दूसरी ओर इसे 'जगत विदित फूलवारी' को निर्मूल करना मानने वाले पक्षपाती—इन दोनों धाराओं के बीच एक धारा उन विचारकों की थी जो प्रत्येक

कल्याणकारी सामाजिक आन्दोलन की दाद देने को तत्पर रहते थे। तत्कालीन सामाजिक दोषों, जैसे धार्मिक विवाद, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, जाति भेद, अन्धविश्वास, समुद्रयात्रा-निषेध, स्त्री-शिक्षा निषेध, जाति-बहिष्कार इत्यादि के प्रति इनकी आँखें खुली रहती थीं और वे इन समस्याओं को सुलझाने के लिये पुष्ट सुझाव प्रस्तुत करते रहते थे। आर्य-समाज के पक्षपाती विचारकों ने कुछ अति भी की और सभी प्राचीन परम्पराओं एवं रूढ़ियों को 'पोपलीला' के अन्तर्गत मानकर बड़ी कटु आलोचना भी की, जिसके शब्दाडम्बर में उनकी सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बड़ा धूमिल हो गया। किन्तु जब ये विचारक निष्फल वाद-विवाद को छोड़कर समाज-सुधार और देशोद्धार की सक्रिय योजना प्रस्तुत करते हैं तब इनके सदुद्देश्य की प्रशंसा ही करनी पड़ती है। इस प्रकार भारतेन्दु युग में सामाजिक क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन उपस्थित हुआ जिससे सामाजिक परिस्थिति में बड़ी अशान्ति छा गई।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान में (सन् १९०३ से सन् १९१९) सामाजिक क्षेत्र की अशान्ति दूर हो गई और नवीन व्यापक दृष्टिकोण जीवन के नवीन-मूल्य के रूप में स्थापित हो गया। यही कारण है कि इस युग में पूर्वयुग के वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना का प्रायः अभाव है। इस युग के विचारकों ने समाज-सुधार की आवश्यकता को बहुत महत्त्व दिया और बड़े शान्त चित्त से सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के सुझाव प्रस्तुत किये। स्त्री-शिक्षा कोई आश्चर्यजनक वस्तु नहीं रह गई थी, और बाल-विधवाओं के प्रति व्यापक सहानुभूति दिखलाई पड़ती है। बाल-विधवाओं के श्राप में सामाजिक अधःपतन का कारण ढूँढना इस सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण का परिचायक है। इसी प्रकार अछूतों के प्रति सद्व्यवहार, हृदय की विशालता, दहेज की कुप्रथा को दूर करने का प्रयत्न इस युग के समाज सुधारकों में विशेषरूप से दिखलाई पड़ता है। किन्तु पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण का विरोध इस युग में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसके साथ ही इस युग में नवीन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। यह प्रवृत्ति मानवतावाद की है। पूँजीवाद की बढ़ती से उत्पन्न वर्ग-संघर्ष, जमींदारी प्रथा के अभिशाप तथा स्त्रियों की दुर्दशा से उत्पन्न क्षोभ तीनों ही परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप लोगों का

जनवादी विचारों का महत्त्व ज्ञात हुआ। वस्तुतः सामन्तशाही के नाश और देशी राजाओं के पतन के कारण सामाजिक व्यवस्था बदल रही थी। दूसरे राजनैतिक क्षेत्र में भी मध्यवर्ग का सहयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो रहा था। इस कारण इस युग के विचारकों में मानवता के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। देश के महान् विचारकों ने निर्धन और शोषित समाज के प्रति समवेदना और नारी की स्थिति के प्रति करुणा व्यक्त की, उसकी 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' वाली स्थिति का चित्रण करके गम्भीर सहानुभूति एवं उच्च भावना अभिव्यक्त की।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के तृतीय उत्थान (सन् १९१६ से सन् १९३६) में सामाजिक क्षेत्र में और अधिक विकास हुआ और मानवतावादी दृष्टिकोण का महत्त्व बढ़ा। वस्तुतः राजनीति में मानवतावाद को आधार बनाया इसलिए इसकी मान्यता अधिक बढ़ गई। अब जो राजनैतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन था वह सामान्य जन-समुदाय को लेकर चला। इस समय तक अंग्रेजी शिक्षा बहुत फैल चुकी थी, इसलिए बड़े-बड़े विचारक व्यापक दृष्टिकोण को लेकर सामाजिक अवस्था पर मनन करने लगे। गांधी जी की सारी क्रियात्मक योजनायें सामाजिक उत्थान के लिये बड़ी शक्तिशाली सिद्ध हुईं। गांधी जी की इस मानवतावादी भावना ने निम्न स्तर के लोगों की सामाजिक दशा में बड़ा परिवर्तन किया। उनकी मानवतावादी भावना के कई रूप मिलते हैं जैसे अहिंसा, सत्याग्रह, राजनीतिक समानता, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, धार्मिक समन्वय, ग्रामोद्धार, जमींदारी का विरोध। धीरे-धीरे पश्चिमी संस्कृति के विरोध में और भारतीय संस्कृति के प्रतीक-स्वरूप खादी भी उच्च सामाजिक भावनाओं की प्रतीक बनी। साथ ही आर्य समाज के आधार वैदिक युग का पुनरुत्थान भी इस युग में दिखलाई पड़ा। इस वैदिक उत्थान-काल में इसी कारण आध्यात्मिक भावना का भी विकास हुआ और मानवता की सेवा और उसके द्वारा ईश्वर प्राप्ति की भावना पर जोर दिया गया। यही अरविन्द, रवीन्द्र और गांधी का युग है। गांधी ने ग्रामोद्धार को महत्त्व दिया और इसीलिये औद्योगिकता का विरोध किया। अन्त में वे मानव-शोषण की झलक पाते हैं, किसानों की दीनता का उनके जीवन पर बड़ा व्यापक

प्रभाव था और इस महान अभिशाप के कारणों को दूर करने के लिए वे कृषकवर्ग को जाग्रति के महान समर्थक थे। इसी प्रकार जाति-भेद और अछूतों के प्रति अत्याचार से उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था और इस सब में अछूतों को भगवान के मन्दिरों से दूर करने की प्रवृत्ति उन्हें घोर नास्तिकता एवं मूढ़ता की प्रतीत होती थी। इसलिए उन्होंने आध्यात्मिकता के महत्व का भी प्रतिपादन किया।

इस युग के दूसरे महान् विचारक, समाज सुधारक एवं मानवतावाद के समर्थक विश्वकवि रवीन्द्र हुए। इनकी कविता में मानवतावाद बड़े व्यापक रूप में अभिव्यक्त हुआ और इसीलिए वे विश्वकवि हुए। उनकी मानवतावादी भावना के प्रमुख रूप विश्व-संस्कृति, आध्यात्मिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता, मानव-दुख-निवारण और जाति भेद को मिटाने में तत्परता इत्यादि हैं। ब्रह्म-समाज को स्थिरता प्रदान करने में उन्होंने बड़ा सहयोग दिया। निश्चय ही उन पर पश्चिम के मानवतावाद के आदर्शों का व्यापक प्रभाव था और उन्होंने मानव को समग्र मानव-समाज के रूप में देखा। ब्रह्म-समाज के द्वारा उन्होंने बंगाल के रूढ़िग्रस्त सामाजिक संगठन में स्वच्छता का संचार किया और सामाजिक व्यवस्था को नवयुग की चेतना को उचित रूप से आत्मसात करने के योग्य बनाया। रवीन्द्र पर विवेकानन्द का गहरा प्रभाव था। उनकी मानवता की उपासना में विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने दुःख को मानवता की एकसूत्रता के सूत्रमंत्र के रूप में स्वीकार करके उसे साधनात्मक रूप दिया। उनके हृदय की करुण भावनाएं सामाजिक जाग्रति को लक्ष्य में रखकर अभिव्यक्त हुई हैं। इन सबका लक्ष्य है मानवता का विकास और आधार विश्वशांति, जिसे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकसित होने पर ही प्राप्त कर सकते हैं।

इस युग की सामाजिक विचारधारा को प्रभावित करने वाला तीसरा महान् व्यक्तित्व योगिराज अरविन्द का है। श्री अरविन्द मानव जाति के विकास के लिए ही योग-साधना या विचार-साधना कर रहे थे। उनका जीवन मानव की सेवा में रत था, उनके मानवतावाद में अध्यात्मवाद की उच्च

अनुभूति का सम्मिश्रण था और उनका साधनात्मक जीवन और इच्छाशक्ति की दृढ़ता मानव को पूर्ण मानव बनाने में संलग्न थी।

सारांश यह है कि इस युग में सामाजिक व्यवस्था में बड़े ठोस परिवर्तन हो रहे थे और उनका प्रभाव समाज के साथ साहित्य पर भी पड़ रहा था। उपर्युक्त सामाजिक अवस्था में और भारतेन्दु-युग या द्विवेदी-युग की सामाजिक अवस्था में अन्तर भी स्पष्ट ही है। भारतेन्दु-युग में नवयुग की चेतना का विकास हुआ और सामाजिक अवस्था में परिवर्तन की पुकार से बड़ी अशांति फैल गई, द्विवेदी-युग में यह अशांति शांत हो गई और समाज-सुधारक सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों का खण्डन करने के साथ ही सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए ठोस विचार और सुझाव प्रस्तुत करने लगे। धीरे-धीरे मानवतावादी भावनाओं का भी विकास हो रहा था, परन्तु हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के तृतीय उत्थान में सामाजिक अवस्था का मुख्य रूप मानवतावादी भावनाओं में केन्द्रित हो गया और सामाजिक कुरीतियों के निवारण के कुछ ठोस रूप दिखाई पड़े, जैसे सन् १९२९ में शारदा एक्ट द्वारा बाल-विवाह का निषेध हुआ, सन् १९३५ के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' द्वारा अछूतों को मताधिकार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त विधवा विवाह इत्यादि के सम्बन्ध में भी कानून बने। नर-नारी की समानता, एक विवाह, विधवा विवाह इत्यादि की भावना का विकास पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के चतुर्थ उत्थान (सन् १९३६ से सन् १९४४) में सामाजिक क्षेत्र में आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव अधिक मुखरित हुआ। वर्ग-संघर्ष की भावना बढ़ रही थी इसलिये मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभुत्व बढ़ने लगा। देश के आर्थिक शोषण से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन गहन होती गई। आन्तरिक परिस्थितियों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक ही था। द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता ने जीवन को बहुत कटु बना दिया। एक गहरी निराशा की भावना ने जन-जीवन को आच्छादित कर लिया। इस प्रकार यह काल भयानक हलचल का समय था।

इसके बाद वर्तमान काल (सन् १९४७ से आज तक) आता है। इस काल की सामाजिक अवस्था का विवेचन इस प्रकार हो सकता है—(i) जातिगत भेद की भावना का कानून के द्वारा निवारण (ii) स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार और उनका भारतीय शासन में स्थान (iii) कृषक वर्ग की जमींदारी प्रथा के उन्मूलन द्वारा शोषण से मुक्ति (iv) श्रमिक वर्ग की अवस्था में सुधार तथा उनके जीवन की सुरक्षा को महत्त्व प्रदान करना। (v) अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रश्रय तथा विश्वबंधुत्व की स्थापना (vi) नागरिक अधिकारों की पुकार। (vii) समाजवादी शासन की स्थापना का प्रयत्न। (viii) पंचवर्षीय योजना के द्वारा देश का निर्माण।

आर्थिक स्थिति—अब तक हमने आधुनिक काल की सामाजिक अवस्था का वर्णन किया। राजनीतिक चेतना और सामाजिक अवस्था के मूल में देश की जनता की आर्थिक स्थिति रहती है, अतः यहाँ संक्षेप में उसका विवेचन करना भी आवश्यक हो जाता है। यहाँ भी हम १८५७ से ही प्रारम्भ करते हैं। १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध के पश्चात् सत्ता का हस्तांतरण हुआ और यह आशा बंधी कि देश की आर्थिक व्यवस्था में सुधार होगा, क्योंकि एक व्यापारी कम्पनी से तो इस प्रकार की आशा करना समीचीन नहीं था। प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय औद्योगिक विकास में रुचि प्रकट नहीं की। इस प्रकार भारत का धन विदेश की ओर प्रवाहित होने लगा। प्रथम उत्थान के विचारकों के लिये यह चिन्ता का विषय था। ब्रिटिश माल की खपत के लिए ब्रिटिश सरकार ने कुछ कर भी लगाये, जैसे भारतीय कपड़े पर, और इस प्रकार अपने हित को बढ़ाया। इस प्रकार विदेशी वस्तुओं का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता गया और भारतीय उद्योग धन्धों की दशा बिगड़ती गई। राष्ट्रीय विचारों से सम्पन्न महान् विचारक विदेशी वस्तुओं को ही अपनी आर्थिक स्थिति की गिरावट का कारण समझ कर उसका विरोध करने लगे। इस प्रकार महँगी, अकाल, टैक्स और दरिद्रता प्रथम युग की मुख्य आर्थिक समस्याएँ थीं। राजनीतिक चेतना को जन्म देने वाली इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने भी अपने आदर्शों में आर्थिक स्वतन्त्रता की माँग रखी थी। द्वितीय उत्थान में आकर तो आर्थिक स्वतन्त्रता एवं आर्थिक राष्ट्रीयता का आदर्श राजनीति

में एक महत्त्वपूर्ण आधार बनाकर स्थापित हुआ। आर्थिक भावना ने कांग्रेस आन्दोलन को अधिकाधिक प्रेरणा दी। किसानों की दुरवस्था और जमींदारों के अत्याचारों ने आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को और भी दृढ़ कर दिया। भारतवर्ष मुख्यतया कृषि प्रधान देश रहा है और अब भी है। इसलिए कृषक वर्ग पर मालगुजारी का बोझ लादकर और जमींदारों के अत्याचारों को प्रश्रय देकर अंग्रेज सरकार ने उनको अत्यधिक दरिद्र बना दिया। उसके ऊपर उनके गृह उद्योग-धन्धों का नाश हुआ। प्रथम महायुद्ध तक भारतीयों को यह विश्वास था कि अंग्रेज भारत का औद्योगिक विकास नहीं करना चाहते। इसलिए कांग्रेस के उग्रपन्थियों ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का अस्त्र अपनाया जिसकी भारत के पूँजीपतियों ने भी सहायता की। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हम अंग्रेजों की आर्थिक नीति में परिवर्तन पाते हैं। इसका कारण था कि अंग्रेजों को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गया कि भारत के प्राकृतिक साधनों का विकास करने में उनके साम्राज्यवादी हितों को बढ़ावा मिलता है। युद्ध-काल में उन्हें इसकी अनुभूति हुई। इसलिए युद्धकाल और उसके पश्चात् भी भारत की औद्योगिक उन्नति की गई और साथ ही शोषण भी बढ़ा। साथ ही एक बात और ध्यान देने की है, अंग्रेजों ने केवल उन्हीं उद्योग-धन्धों को बढ़ावा दिया जिसमें उनके देश की पूँजी लगी थी। इस प्रकार धीरे-धीरे भारत का औद्योगिक-विकास हुआ और भारतीय पूँजीवाद के पैर जमे। तृतीय उत्थान में हम देखते हैं कि अंग्रेजों की व्यापारी नीति से भारतीय पूँजीवाद ने भी स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहयोग देना प्रारम्भ किया। इसी युग में यन्त्रों के विकास से उत्पन्न बेकारी की समस्या भी सामने आयी। धीरे-धीरे वर्ग-संघर्ष बढ़ने लगा, क्योंकि मध्यवर्ग और मजदूर-वर्ग में राजनीतिक चेतना आ गयी थी। चतुर्थ उत्थान में वर्ग-संघर्ष ने और जोर पकड़ा। बेरोजगारी, महंगाई, पूँजी का कुछ लोगों के पास जमा होना और देशव्यापी दरिद्रता से भारतीय आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ी। पूँजीवाद ने मानव समाज में शुद्ध आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर दिए थे। इसलिए श्रमिक-वर्ग की चेतना का आधार भी शुद्ध आर्थिक स्वार्थ थे। वे अपना संघठन दृढ़ कर रहे थे। धीरे-धीरे इस युग के विचारकों का ध्यान यथार्थ की कठोर परिस्थितियों एवं निम्न वर्ग की करुण

दशा ने पूर्ण रूप से अपनी ओर केन्द्रित कर लिया। वर्ग-संघर्ष से व्यापक जागृति हुई और दलित वर्ग विद्रोह करने के लिये तत्पर हुए। आर्थिक सम्बन्धों में कल्पना और भावुकता न्यून से न्यूनतम होती गई और यथार्थवाद को महत्त्व मिला।

गणतन्त्र के आविर्भाव के साथ ही देश की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुए हैं। बड़ी-बड़ी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के स्तुत्य प्रयत्न किये गये हैं और भविष्य में भी चलते रहेंगे। इस वर्तमान युग की आर्थिक स्थिति के अध्ययन में तीन महत्त्वपूर्ण बातें हैं—

(i) कानून दलित और शोषितवर्ग (कृषक, श्रमिक) की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन।

(ii) समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न और पूँजीवाद की शक्ति का घटना।

(iii) पंचवर्षीय आयोजनों द्वारा देश के प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक उपयोग और देश की आर्थिक स्थिति बदलने का महत् प्रयत्न।

धार्मिक स्थिति—मुगलों का पराभव होने के साथ ही हिन्दू जाति की कट्टरपन्थी शाखा का ह्रास होने लगा। नवयुग की चेतना की सबसे महत्त्वपूर्ण बात धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन है। इस युग में मध्यकालीन धार्मिक भावना का बड़ा परिमार्जित रूप मिलता है। अन्य धर्मों की सहिष्णुता इस युग की धार्मिक परिस्थितियों की विशेषता है। उपासना की पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। द्वितीय उत्थान काल में धार्मिक भावना का प्रमुख आधार मानवतावादी विचारधारा बनी। धीरे-धीरे इस मानवतावादी विचारधारा का विकास हुआ और तृतीय उत्थान में गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द द्वारा मानवतावाद ही विश्वधर्म के रूप में स्थापित हुआ। यह मानवतावाद विश्व-मानवतावाद था। इसीलिये हम गांधी जी में धार्मिक समन्वय का रूप पाते हैं। गांधीजी ने वैष्णव जन की सबसे बड़ी विशेषता 'पराई पीर जानना' बतलाया। उनके अनुसार वही वैष्णवजन है, भगवान का भक्त है जो पराई पीर जानता है। और भगवान के विभिन्न नाम विभिन्न धर्मों के आधार हैं। धीरे-धीरे

आर्थिक प्रगति और औद्योगिक विकास के कारण मानवतावादी विचारों में निम्न एवं शोषित वर्ग को महत्त्व दिया जाने लगा। गणतन्त्र के आविर्भाव के साथ ही असाम्प्रदायिक जनवादी शासन की नींव पड़ी। यद्यपि इसके मूल में प्राचीन मानवतावाद की भावना ही है पर इस युग में जाति-पाँति के विरुद्ध जिहाद सा बोल दिया गया है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की माँग का नया अध्याय खुला और आज धर्म का रूप प्राचीन काल से बहुत कुछ बदल गया है।

साहित्यिक पृष्ठ-भूमि—अब तक हमने हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था एवं धार्मिक स्थिति का विवेचन किया। सच तो यह है कि साहित्य पर युग को बनाने वाली इन सभी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। उपर्युक्त तीन प्रभावों के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रभाव साहित्यिक पुष्ठ-भूमि तथा अन्य साहित्यों का प्रभाव है। आधुनिककाल की पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य का शृङ्गारकाल है। शृंगारकाल में साहित्य का विकास राजदरबारों में हुआ था। कलाकारों को अपने भरण-पोषण के लिए उच्चवर्ग के लोगों का आश्रय खोजना पड़ता था। इस प्रकार शृंगार काल का साहित्य मध्यकालीन दरबारी संस्कृति का प्रतीक है। राज्याश्रय में पली इस शृंगारी कविता में रीति और अलंकार का प्राधान्य हो गया था। जो कवि दरबारी संस्कृति से दूर रहे उनमें 'प्रेम की पुकार' का स्वरूप रीति से मुक्त है। लेकिन बहुमत आचार्यों का ही है जो रीति निरूपण को ही लक्ष्य बनाकर चला। संक्षेप में शृंगारकालीन साहित्य की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ थीं—

१—शृङ्गार रस का प्राधान्य।
२—अलंकार का प्राधान्य।
३—मुक्तक शैली का प्राधान्य।
४—ब्रजभाषा का प्राधान्य।
५—नारी के प्रेमिका स्वरूप का प्राधान्य।
६—लक्षण ग्रन्थों की प्रधानता।
७—प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण।

८—वीर रस की कविता—

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शृङ्गारकाल की कविता पूर्णतया रूढ़िग्रस्त हो गई थी, इसलिए आधुनिक काल में इस परम्परा के विरुद्ध प्रतिवर्तन का आरम्भ हुआ। शृङ्गारकाल की कविता में शृंगार का बाहुल्य और जीवन के प्रति उदार दृष्टि का अभाव दो ऐसे कारण हैं जिन्होंने आधुनिक काल की नवयुग की चेतना को रोका। क्या भाषा, क्या भाव और क्या वृत्त सभीकुछ इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि शृंगारकालीन काव्य की परम्परा के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई, जिसमें आधुनिक नवयुगीन युग-चेतना को बनाने वाली विविध परिस्थितियों ने योग दिया। आधुनिक काल की नवयुगीन चेतना का आरम्भ सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम से ही होता है। इस महान् ऐतिहासिक घटना ने देश के जीवन पर बड़ा व्यापक प्रभाव डाला और जीवन के सभी क्षेत्रों की परिस्थितियाँ बदलीं। इन परिस्थितियों का हम ऊपर विवेचन कर चुके हैं।

इस शृंगारकाल की कविता का विषय और शैली दोनों ही नवयुग की चेतना के अवरोधक थे। यही कारण है कि आधुनिक काल शृंगार-काल के विषयों और उनके प्रकाशन की शैली में क्रान्ति हो गई। साहित्य का प्रवाह रूढ़िबद्ध हो चुका था और आधुनिक युग की बदलती हुई परिस्थितियों में उससे सामंजस्य बैठाना कठिन हो गया था। इसलिए शृंगार काल के साहित्यिक मानदण्डों में परिवर्तन होना अनिवार्य था। आधुनिक युग का उदय और देशी राज्यों के प्रभुत्व का क्षीण होना और सामन्तकालीन सभ्यता का ह्रास दोनों घटनाएँ एक दूसरे से इतनी घुली-मिली हैं कि हम उनका स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकते। इस प्रकार साहित्य पर भी नवयुग की चेतना का प्रभाव पड़ा और साहित्य का विषय सामन्ती संस्कृति से हटकर जनवादी संस्कृति हो गया, इससे साहित्य का रूप ही बदल गया। यह तो विषय की बात रही। शृंगारकाल की शैली भी आधुनिक-काल की परिस्थितियों के उपयुक्त नहीं थी। साथ ही साहित्य क्षेत्र में भाषा का परिवर्तन भी दृष्टि-गोचर होता है। ऊपर हम आधुनिक-काल की नवयुगीन चेतना को जन्म देने वाली परिस्थितियों—राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था और धार्मिक

स्थिति का विवेचन कर चुके हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम नवयुगीन चेतना का स्वरूप भलीभाँति समझ सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में साहित्य के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ वह क्रान्तिकारी परिवर्तन है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में आधुनिक युग की प्रतिक्रिया का प्रभाव इस प्रकार है—"अंग्रेजी राज्य के आने से लोगों का ध्यान जीवन की कठोर वास्तविकताओं की ओर गया। जीवन संग्राम बढ़ा और साथ ही जातीय जीवन में भी जाग्रति हुई।·····लोग अपनी सभ्यता को महत्त्व देने लगे।······ हिन्दू लोगों ने विदेशी धर्मों का मुकाबिला करने के लिए अपने धर्म को बुद्धिवाद के आलोक में परिष्कृत करना प्रारम्भ किया।·····ऐसे बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्द्विता के समय में जनता के भावों के प्रकाशन के लिए पद्ययुक्त माध्यम नहीं हो सकता। अतः अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ गद्य आया।·········पद्य में ब्रजभाषा का साम्राज्य था। किन्तु नवीन युग के आ जाने पर उसकी कोमल-कान्त-पदावली जीवन की संघर्षमय कठोर भूमि के लिए उपयुक्त न ठहरी।"

इस प्रकार बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में यथार्थ की प्रवृत्ति आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता है और इसके लिए खड़ी बोली उपयुक्त भाषा। सच तो यह है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और सभ्यता के विकास के साथ ही समाज का ढांचा ही बदल गया। संस्कृति का ह्रास होता गया और साहित्य का केन्द्र जनवादी विचारधारा हुई। प्रेस के विकास के साथ ही गद्य का आविर्भाव और बहुमुखी विकास युग की परिस्थितियों एवं समस्याओं के अनुरूप था। यहाँ हम संक्षेप में आधुनिक काल के साहित्य की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे—

आधुनिक काल के साहित्य की विशेषताएं—

(१) पद्य के साथ ही गद्य का विकास हुआ। परन्तु गद्य के विकास मे पद्य के विकास में कोई बाधा नहीं हुई। गद्य का आविर्भाव और बहुमुखी विकास इस युग की प्रमुख विशेषता है। मुद्रण के अभाव में साहित्य का केवल काव्यांग ही विकसित हुआ था और वस्तुतः आधुनिक काल से पूर्व साहित्य पद्य का पर्यायवाची भी था। आधुनिक काल की इसी विशेषता को लक्ष्य करके आलोचकों ने इसका नामकरण गद्यकाल किया है।

प्रेस के विकास से मुद्रण की सुविधा हुई और विचारों का प्रवाह पद्य की लय और गति के आश्रित न रहा। गद्य के माध्यम से मानव हृदय की भावनाओं का विविध रूपी विकास हुआ। आधुनिक काल में गद्य साहित्य के विविध रूप ये हैं—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना, गद्य-काव्य, संस्मरणात्मक गद्य, जीवन चरित् या आत्मकथात्मक गद्य, इत्यादि।

(२) आधुनिक काल में दूसरा परिवर्तन भाषा का दृष्टिगोचर होता है। यथार्थ की प्रवृत्ति का प्रभाव पद्य क्षेत्र की भाषा-शैली के परिवर्तन में दृष्टिगत होता है। गद्य के लिए खड़ी बोली ही उपयुक्त भाषा थी। धीरे-धीरे नवयुग की चेतना की अभिव्यक्ति के लिए काव्य में भी इसका व्यवहार होने लगा; धीरे-धीरे वर्तमान युग में यह खड़ीबोली हिन्दी राष्ट्र-भाषा ही हो गई है और उसका वैज्ञानिक विकास हो रहा है। भाषा के सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने योग्य है और वह है अंग्रेजी भाषा का प्रभाव। खड़ीबोली का क्षेत्र व्यापक होने के साथ ही इसमें अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का समावेश भी हुआ। वर्तमान युग में सरकार द्वारा इसे संस्कृत-गर्भित बनाने का प्रयत्न हो रहा है जिससे देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ इसका सामंजस्य स्थापित हो सके।

(३) आधुनिक काल की तीसरी प्रमुख विशेषता राष्ट्रीय भावना की है। राजनीतिक चेतना इस युग की प्रमुख भावना रही है। इस चेतना का रूप प्रत्येक उत्थान में बदलता रहा है। प्रथम उत्थान में राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप राजभक्ति, देश-भक्ति, भारत के अतीत गौरव का गान और उसकी अर्वाचीन शोचनीय दशा पर विलाप, जाग्रति का सन्देश और भारत के बचे गौरव की रक्षा करने का मन्त्र है। द्वितीय उत्थान में कांग्रेस की स्थापना तथा उसका अस्तित्व दृढ़ होने के साथ ही साहित्य में नवीन राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। इस उत्थान की देशभक्ति की कविता में अतीत के गौरव के गान के साथ ही सामान्य जनता का महत्त्व बढ़ गया। कवियों ने गरीब किसान और मजदूरों की चर्चा की, विद्यार्थी-समाज के उत्थान का प्रयत्न किया और नवयुवकों में देशभक्ति का संचार किया। इसके साथ ही हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य भी राष्ट्रीय भावना का एक रूप बना। इस प्रकार द्विवेदी युग की देशभक्ति की

कविता में विविधता है। इस प्रकार प्रथम उत्थान देश की दुर्दशा का ज्ञान कराता है तो द्वितीय उत्थान में संघठन की सच्ची प्रेरणा है, तृतीय उत्थान में इस राष्ट्रीय भावना का और अधिक विकास हुआ। साहित्य में गांधी का अहिंसात्मक राष्ट्र प्रेम सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ, आत्म बलिदान का महत्त्व बढ़ा, सत्याग्रहियों की गौरव-गाथा का गान हुआ, और साथ ही प्राचीन स्वतन्त्रता के पुजारियों का यश-गान भी। मुख्य रूप से तृतीय उत्थान के राष्ट्रीय-प्रेम-भाव में वीर-पूजा, स्वतन्त्रता प्रेम, मानवतावादी विचारधारा का पोषण मिलता है। कहीं-कहीं अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व बन्धुत्व के स्वर भी मुखरित हैं। चौथे उत्थान में हमें राष्ट्रीय-भावना में कांग्रेस की प्रशंसा के साथ ही हरिजन, श्रमिक एवं कृषक वर्ग के महत्व का प्रतिपादन मिलता है और राष्ट्रीय-एकता के सूत्र मिलते हैं। वर्तमान काल में राष्ट्रीय प्रेम अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम से समन्वित होकर विश्वशांति का तथा सहअस्तित्व का प्रतीक बन गया है और पंचशील इसका आदर्श है। राष्ट्रीय-भावना का यह विकास पद्य, गद्य (नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध) सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होता है।

(४) आधुनिक काल की चौथी विशेषता साहित्य में नवयुग की चेतना के अन्य रूपों का जैसे मानव का स्वरूप, सामाजिक अवस्था इत्यादि का विस्तृत विवेचन है। अब साहित्य का साध्य उच्चवर्ग नहीं रह गया है और साहित्य जनवादी विचारों से समन्वित होकर यथार्थ की भूमिका पर विकसित हो रहा है। वर्तमान युग में तो यथार्थ की यह अनुभूति और भी व्यापक हो गई और निम्नवर्ग तथा शोषितों की चेतना को व्यक्त करने में संलग्न हो गई। यहीं पर आकर मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

(५) आधुनिककाल की पाँचवीं विशेषता शैली के परिवर्तन की है। एक तो साहित्य में नई शैली का विकास हुआ जिसे हम गद्य के नाम से जानते हैं। दूसरे पद्य की शैली में भी विविध रूपी परिवर्तन हुआ। प्रथम उत्थान में हमें ग्राम साहित्य का स्वर कजरी, ठुमरी, लावनी, इत्यादि में मिलता है। द्वितीय उत्थान में शैली में इतिवृत्तात्मकता का समावेश होता है और तृतीय उत्थान की शैली का रूप छायावाद और रहस्यवाद के मिश्रण से उत्पन्न कोमलकान्त पदावली

है। चतुर्थ उत्थान में एक बार कोमलकान्त और आलङ्कारिक शैली का फिर से विरोध हुआ और मार्क्सवाद से प्रभावित जनवादी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए सरल और अलङ्कार-रहित शैली का प्रयोग किया। वैसे छायावाद युग में ही मुक्त छन्द को महत्त्व प्रदान किया गया पर फिर भी छायावादी कवि संगीतमयता को नहीं छोड़ सके थे, चतुर्थ उत्थान में उन्होंने छन्द के विधि-विधान को तोड़ दिया और नवीन—नवीन छन्दों की उद्‌भावना की। कहने का तात्पर्य यह कि शैलीपक्ष या कलापक्ष गौण नहीं हुआ अपितु जनवादी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए सरल रूप में गढ़ा गया। वर्तमान युग में शैलीपक्ष के अन्तर्गत नवीन-नवीन प्रयोग हो रहे हैं। इनमें शैली का यह प्रयोगपक्ष भावों को दबाने वाला है।

(६) आधुनिककाल की छठी विशेषता शृङ्गार की भावना के विकास की है। शृंगारकालीन शृंगार परम्परा का प्रथम उत्थान में विरोध हुआ, द्वितीय उत्थान में यह अश्लीलता के नाम से विख्यात हुई किन्तु तृतीय उत्थान में शृंगार की शृंगारकालीन परम्परा का सुष्ठ और स्वस्थ रूप विकसित हुआ। छायावाद युग का काव्य उच्चकोटि का प्रेमकाव्य है। इसमें शृंगारकाल का शृंगार निखरकर और शुद्ध होकर आया है और उसमें काव्य में शास्त्र स्थिति-सम्पादन के स्थान पर गहरी सौन्दर्यानुभूति है। छायावाद युग में नारी वासना की मूर्ति नहीं है, वह सौन्दर्यशालिनी एवं शक्ति विधायिनी है। इस लिए इस उत्थान का साहित्य सौन्दर्यानुभूति का साहित्य है, शृंगार का नहीं। चतुर्थ उत्थान में पाप पुण्य की परिभाषा परिवर्तित हुई और यथार्थ की कटु कसौटी पर शृंगार की भावना कसी गई। कहने का तात्पर्य यह है कि शृंगार की परम्परा शुष्क हो गई। साथ ही उसमें फ्रायड के मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का प्राधान्य हो गया। मनोविज्ञान ने शृंगार की प्राचीन परम्परा का स्वरूप ही बदल दिया। इसी प्रकार आगे भी धीरे-धीरे शृंगार की परम्परा रस-विहीन होती गई।

(७) आधुनिककाल के साहित्य की सातवीं बड़ी विशेषता प्रकृति के मधुर चित्रण हैं। शृंगारयुग में प्रकृति उद्दीपन रूप में व्यवहृत थी। भारतेन्दुयुग से ही प्रकृति स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित हुई। देश प्रेम के वर्णन

में तो प्रकृति-चित्रण मिलते ही हैं, साथ ही प्राकृतिक सौन्दर्य के स्वतन्त्र काव्य भी प्राप्त होते हैं, जिनमें रहस्यवादी पुट भी मिलता है। छायावाद काव्य में प्रकृति के उग्र और सौम्य दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं और यह रहस्यवादी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बन कर आती है। वर्तमान युग में प्रकृति के साधारण रूपों में सौन्दर्य दर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

(८) आधुनिककाल की आठवीं महत्त्वपूर्ण विशेषता साहित्य में 'वादों' की प्रधानता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्य कालों की अपेक्षा इस युग में यह प्रवृत्ति बड़ी बलवती हो गई है। इन वादों से इस युग का साहित्य विशेष समृद्ध हुआ है। इन वादों में प्रमुख इस प्रकार हैं—छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, पलायनवाद, हालावाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद और प्रयोगशीलता को अभिव्यक्त करने वाला प्रयोगवाद। इन विचारधाराओं के संघर्ष से एक ओर तो बौद्धिक परिमार्जन हुआ तथा दूसरी ओर साहित्यिकों की संख्या बढ़ी। इस प्रकार इन वादों के कारण आधुनिक-काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

(९) आधुनिककाल की नवीं महत्त्वपूर्ण विशेषता साहित्य पर आंग्ल प्रभाव है। यह प्रभाव बड़ा व्यापक और बहुमुखी है। अंग्रेजी शिक्षा के विकास के साथ हमारा पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क बढ़ा। यह प्रभाव भावपक्ष और कलापक्ष दोनों पर ही पड़ा। भावपक्ष की दृष्टि से मुख्य प्रभाव गद्य-क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। गद्य के विविध रूपों का जैसा विविध रूपी विकास पाश्चात्य साहित्य में हुआ उसका अनुकरण हिन्दी साहित्य के गद्य में भी हुआ। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या निबन्ध, क्या संस्मरणात्मक गद्य—गद्य के सभी क्षेत्रों में पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। काव्य के भावपक्ष पर भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। मुख्य रूप से रहस्यवाद और छायावाद पर यह प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। काव्य के रूप और शैली पर भी आंग्ल प्रभाव बड़ा व्यापक है। हिन्दी काव्य के रूप में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अतुकान्त छन्द का है। अंग्रेजी 'सॉनेट' का रूप भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग में स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। प्रगतिवाद युग और प्रयोगशील कविता में तो पाश्चात्य काव्य शैलियों

को लक्ष्य करके नवीन-नवीन प्रयोग हो रहे हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में जो विविध वाद जैसे छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, पलायनवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद इत्यादि दिखलाई पड़ते हैं, इन पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट ही है।

(१०) आधुनिककाल के साहित्य की एक विशेषता साधारण विषयों पर रचना करने की है जैसे—विधवा-विवाह, बुढ़ापा, विधि-विडम्बना, जगत-सचाई-सार, गो-रक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत, क्रोध, बात-चीत, करुणा, भिखारी, मिल का भोंपू, किसान का घर, गली, कूड़ा, कर्कट, धोबियों का नाच, कुकुरमुत्ता, कृषक, रेल का इंजिन इत्यादि इत्यादि। नवयुग की चेतना के साथ ही नवीन विषयों पर साहित्य रचना हुई।

सारांश यह कि आधुनिक काल को हम हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं। यह काल बहुत विस्तृत है और विविधमुखी विकास की व्यंजना करता है। इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। पद्य और गद्य दोनों प्रकार के साहित्य का एक साथ विवेचन करना समीचीन प्रतीत नहीं होता, इसलिए प्रथम हम आधुनिक काव्यधारा का और फिर गद्य के बहुमुखी विकास का पृथक-पृथक विवेचन करेंगे।

आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की मुख्य प्रवृत्तियों और युग को बनाने वाली परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन करने के बाद अब हम आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का अध्ययन करने जा रहे हैं। आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का प्रादुर्भाव भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही होता है। हिन्दी काव्य धारा में नवयुग की चेतना का विकास और भारतेन्दुजी का रचनाकाल दोनों ही महान घटनाएँ एक दूसरे से इतनी घुली-मिली है कि हम उन्हें अलग नहीं कर सकते। सच तो यह है कि भारतेन्दुजी का हिन्दी साहित्य की रचना करना प्रारम्भ करना ही नवयुग की चेतना की सूचना देता है। भारतेन्दुजी के साथ ही हिन्दी कविता के विषयों और उनके प्रकाशन के ढङ्ग में महान् क्रान्ति उपस्थित हुई। आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए हम उसके

इस आधुनिक काल को निम्नलिखित युगों में विभाजित कर सकते हैं—

१—भारतेन्दु युग (सन् १८६८ से सन् १९०३)—यह आधुनिककाल की हिन्दी कविता का प्रथम उत्थान है। इस काल का सम्पूर्ण काव्य अधिकांशतः भारतेन्दुजी या उनके मण्डल के सहयोगियों की रचना है। सम्पूर्ण भारतेन्दु युग पर भारतेन्दुजी के व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारतेन्दुजी इस युग की काव्य प्रेरणा के केन्द्र थे और इसलिए इस युग का काव्य उनके चारों ओर रहने वाले सहयोगियों द्वारा ही निर्मित हुआ। भारतेन्दु-युगीन कविता में मुख्यतः राजभक्ति, देशप्रेम, सामाजिक दुरवस्था के प्रति दुःख प्रकाश, सामाजिक कुरीतियों का खण्डन, आर्थिक अवनति के प्रति क्षोभ, टैक्स की भयंकरता, धन का विदेश की ओर प्रवाह, विधवा-अवनति, बाल-विवाह, रूढ़ियों का खण्डन, नए सामाजिक आन्दोलनों एवं स्त्री स्वतन्त्रता का पक्षपात इत्यादि विषयों पर कविताएँ हुई हैं। काव्य की भाषा प्राय: ब्रजभाषा ही रही, यों छुट-पुट प्रयत्न खड़ी बोली में भी हुए, पर वे नगण्य हैं। भारतेन्दु युग की काव्यधारा में नवयुग की चेतना का सबसे प्रमुख रूप शृंगारकाल की सामन्ती संस्कृति का बहिष्कार करके जनवादी विचारधारा को अपनाना है। अब कविता राज्याश्रय से हटकर जनता के आश्रय में आ गई थी। इस प्रकार काव्य का आश्रय बदलने के साथ ही उसके विषयों में भी परिवर्तन हुआ। शृङ्गार की शृङ्गारकालीन-परम्परा के प्रति एक प्रतिक्रिया हुई। कविता का लक्ष्य अब जन-मन के विचारों की अभिव्यक्ति हो गया और युग को बनाने वाली राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था-धार्मिक एवं आर्थिक शक्तियाँ काव्य की विषय-सामग्री पर अपना प्रभाव डालने लगीं। इस प्रकार काव्य में नए विषयों का प्रवेश एवं नवयुग की चेतना दिखलाई पड़ने लगी।

भारतेन्दु युग की काव्यधारा की दूसरी प्रमुख विशेषता काव्य शैली में परिवर्त्तन है। शृंगारकालीन कविता का क्षेत्र प्रमुखतया राजदरबार था, जहाँ चामत्कारिक एवं आलङ्कारिक पदावली का विशेष महत्त्व था और कवियों को अपना आचार्यत्व दिखलाने की पूरी सुविधा और अवकाश था। आधुनिक-काल में ज्यों-ज्यों कविता ने जन-मन के विचारों की अभिव्यक्ति की त्यों-त्यों काव्य शैली में भी परिवर्त्तन हुआ। जन-जाग्रति के अग्रदूत भारतेन्दु ने काव्य-धारा

का प्रवाह ग्रामीणों में प्रवाहित करने के लिए ही कजरी, ठुमरी, लावनी, खेमटा, कहरवा, पद्धा, चैती, होली, साँझी, लम्बे, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामीण छन्दों को काव्य में अपनाया। सच तो यह है कि जन-जागरण का उपाय ही जनता की बोली अपनाना था और उस युग में कवियों का मुख्य उद्देश्य किन्हीं सामन्तों को प्रसन्न करना न होकर जनता में जाग्रति फैलाना था।

२—द्विवेदी-युग (१६०३ से सन् १९१६)—यह आधुनिक काल की हिन्दी कविता का द्वितीय उत्थान है। इस काल में जो रचना हुई वह एक बँधी प्रणाली की थी, जिसके प्रवर्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इन्होंने खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में स्थिर किया और भाषा की शुद्धता और सरलता का आग्रह किया। कविता के विषयों की दृष्टि से यह युग इतिवृत्तात्मक था तथा रीतिकाव्य के शृंगार रस की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकट हुआ। शृंगार को एकदम अश्लील मानकर उसका बहिष्कार किया गया और सौन्दर्यवादी भावना का स्रोत सूखा पड़ा रहा। इस युग की कविता में राजनीतिक चेतना का गहरा प्रभाव है और कविता स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्णतया सम्बद्ध है। कांग्रेस के आदर्शों का पूर्ण पालन दृष्टिगोचर होता है, इसलिए काव्य विषयों में कांग्रेस की प्रशंसा ही नहीं है वरन् उसके सामाजिक आदर्श कृषक एवं दलित वर्ग की स्थिति की करुण व्यंजना भी है। मातृभूमि प्रेम और स्वदेशी गौरव तो इस युग की कविता का प्राण है। यथार्थ की अनुभूति की व्यापक व्यंजना इस युग की कविता की विशेषता है। इस युग में विचार स्वातन्त्र्य के दर्शन होते हैं। बुद्धिवाद के निरन्तर विकास से प्राचीन मूल्यों और मर्यादाओं में क्रांति उपस्थित हो गई और हमारे धर्म, दर्शन, समाज एवं कला की रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ बह गईं। इस युग में एक सन्देहात्मक मनोवृत्ति चल रही थी जिसका मूल राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों में ढूँढा जा सकता है। इस सन्देहात्मक प्रवृत्ति ने हमारी अब तक की समस्त मान्यताओं के सामने एक बड़ी समस्या खड़ी कर दी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से पश्चिम के बुद्धिवाद की लहर हमारे जीवन में छा गई और उसका युग के साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि द्विवेदी युग के

काव्य में हम प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन एवं नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना पाते हैं। मानवतावादी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ रहा था और दुश्चरित्रों में भी मानवीय गुणों का उद्घाटन एवं दलित और शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति का प्रदर्शन हो रहा था। द्विवेदी युग की एक बहुत बड़ी विशेषता नारी उत्थान है। नारी अब उच्च-भावना की प्रतीक बनती जा रही थी। सच तो यह है कि पीड़ित और शोषितों के प्रति द्विवेदी युग की काव्य-धारा में व्यापक सहानुभूति के स्वर मिलते हैं। पुरुष और स्त्री के समानाधिकार की भावना का विकास राजनीतिक कारण से हुआ। स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने लगीं इसलिए अब वह पुरुष की सहकर्मिणी बन गई और उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से विकास हुआ। इसी कारण से काव्य में नारीत्व के प्रति उच्च भावना का विकास हो रहा था। मानवतावादी दृष्टिकोण की व्यापक सीमा में जन-सेवा का महत्त्व भी बढ़ रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग की काव्यधारा के विषयों के मूल में तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं—राष्ट्रीयतावाद, बुद्धिवाद और मानवतावाद।

यहाँ तक हमने संक्षेप में द्विवेदी युग की काव्यधारा की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया। काव्यरूप और शैली की दृष्टि से भी इस युग की काव्यधारा महत्वपूर्ण है। भाषा के क्षेत्र में तो खड़ी बोली स्थापित हो गई और उसका परिमार्जित तथा सरल स्वरूप ही प्रस्तुत करना कवियों ने समीचीन समझा। द्विवेदी जी के प्रभाव से कविता की इस भाषा में अलंकारों से बचने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। काव्य-रूपों के प्रकरण में अतुकान्त का प्रयोग आंग्ल प्रभाव से ही आया है। इसी प्रकार महाकाव्य का रूप भी पाश्चात्य परम्परा के निकट है। इस युग के उपदेश-काव्य एवं व्यंग्य-काव्य भी अंग्रेजी प्रभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

३—छायावाद युग (सन् १९१६ से सन् १९३६) यह हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की काव्यधारा का तृतीय उत्थान है। इस युग में कविता के विषयों का विस्तार हुआ, द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के प्रति विद्रोह हुआ, सूक्ष्म सौन्दर्यवादी दृष्टि को प्रश्रय मिला। अभिव्यंजना के क्षेत्र में भाषा का

परिमार्जन, शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग, आलंकारिक शैली, प्रतीकात्मकता का प्राचुर्य, अन्योक्ति पद्धति का आश्रय, लाक्षणिकता का बाहुल्य, वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति, शब्द-सौन्दर्य पर भाव सौन्दर्य से अधिक दृष्टि इत्यादि को प्रमुख स्थान मिला।

छायावाद युग के कवियों ने द्विवेदी-युग की काव्यधारा के अभावों को दूर करने का प्रयत्न किया। द्विवेदी-युग की कविता में मुख्यतः चार अभाव थे— एक तो उस समय तक कवियों का भावक्षेत्र परिमित था। कुछ गिने चुने विषय थे, जैसे देशप्रेम, राष्ट्रीयता की भावना, दुर्बल और शोषित के प्रति सहानुभूति, नारी के प्रति उच्च भावना इत्यादि। छायावाद युग के कवियों ने इस सीमित भावक्षेत्र का विस्तार किया और उन्होंने नवीन विषयों पर कविता करके इनको विशेष समृद्ध किया। इन नवीन विषयों में उषा, प्रभात, इत्यादि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन से लेकर दार्शनिक चिन्तन का गूढ़ भावक्षेत्र आ जाता है। इस प्रकार स्थूल भावनाओं के स्थान पर सूक्ष्म भावनाओं को महत्त्व प्रदान किया गया। द्विवेदी युगीन कविता का दूसरा अभाव उसका वस्तुगत या, (बाह्य आधारगत होना था)। छायावाद युग में हमें कविता की प्रवृत्ति आत्मगत या रागात्मक मिलती है। इसका कारण छायावाद में एक विशेष सौन्दर्यवादी दृष्टि का होना है। द्विवेदी युगीन कविता का तीसरा अभाव उसकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति थी। वस्तुतः यह कविता अभिधा का आश्रय लेकर चली। छायावाद युग की कविता में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति का अभाव है। वहां तो कवि सौन्दर्य की दृष्टि लेकर चलता है और उसकी कविता का लक्ष्य अपने आत्मा के सौन्दर्य को काव्य में अवतरित करना है। इस युग की कविता में अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना को महत्त्व दिया गया। द्विवेदी-युग की काव्यधारा का चौथा अभाव उसकी अभिधात्मक और इतिवृत्तात्मक शैली थी। छायावादी शैली में कल्पना प्रवणता और व्यंजना का प्राधान्य है। इसीलिए छायावादी कवि प्रकृति के इतने सुन्दर और सजीव चित्र खींच सके। वस्तुतः छायावादी काव्य में प्रकृति सजीव हो उठी है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि छायावाद जीवन के प्रति सौन्दर्यवादी दृष्टि है जिसमें स्थूल की

अपेक्षा सूक्ष्म भावनाओं को प्रधानता दी गई है।

छायावाद की एक बहुत बड़ी विशेषता रहस्य की प्रवृत्ति है। छायावादी कवियों में रहस्य की प्रवृत्ति का बड़े वैज्ञानिक ढंग से विवेचन हुआ है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "अब तक की सारी कविता का मर्म प्रिय को भगवान और भगवान को प्रिय बनाना ही है। प्रथम मनोवृत्ति का पूर्ण विकास भक्तिकाल में हुआ, दूसरी मनोवृत्ति का आज के युग में हो रहा है।" छायावाद युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन करते समय हम रहस्यवादी परम्परा के ऐतिहासिक स्वरूप का वर्णन करेंगे। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि छायावाद युग में धर्म का स्थान आध्यात्मिकता ने ले लिया। इस युग में जो आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है वह धर्म का अन्तस्थ रूप है। धर्म के बाह्य रूप और रूढ़ियों को छायावादी कवियों ने दूर किया और आध्यात्मिकता को विशेष महत्त्व दिया। छायावाद युग में धार्मिक और मत या सम्प्रदायों के बन्धन टूट गये और इस प्रकार दर्शन और संस्कृति सभी क्षेत्रों में छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह स्वरूप प्रतिफलित हुआ।

छायावाद की एक और प्रवृत्ति युगानुरूप वेदना की है। इस युग के कवियों में वेदना-भाव का विकास सेवा के जीवन-दर्शन के रूप में हुआ है। महादेवी और प्रसाद में इस भाव का बड़ा सुन्दर रूप मिलता है। यह वेदना की विवृत्ति महा-मानव के हृदय की भावना है, कवियों की आत्मा का सौन्दर्य है, कोई नखरा नहीं। महादेवी वर्मा के शब्दों में "व्यक्तिगत सुख विश्ववेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है और व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व!"

(४) प्रगतिवाद युग (सन् १९३६ से सन् १९४२)—यह हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की काव्यधारा का चतुर्थ उत्थान है। इस युग में कविता में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ा, वर्ग संघर्ष उग्र रूप में प्रस्तुत हुआ और निम्नवर्ग के चित्रण को महत्त्व मिला। इस प्रकार इस युग में यथार्थ की अनुभूति अत्यन्त उज्ज्वल रूप में अभिव्यक्त हुई। डा० रांगेय राघव के शब्दों में वास्तविक यथार्थवाद की परिभाषा इस प्रकार है—"जीवित रहने वाले व्यक्ति

को चलते समाज के भीतर देखना और उस व्यक्ति के पूर्णत्व को प्रतिबिम्बित करके लोक कल्याण की ओर ले जाने वाला वह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बनाकर सत्य की ओर प्रेरित करता है, वही वास्तविक यथार्थवाद है।"[१] प्रगतिवाद में हमें वास्तविक यथार्थवाद की इस प्रवृत्ति के दर्शन मिलते हैं। वस्तुतः छायावाद के अन्तिम चरण से ही यथार्थ की अनुभूति का महत्त्व बढ़ता जाता है और छायावादी कवि भी इस ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। मैक्सिम गोर्की का सिद्धान्त था कि उठते हुए व्यक्ति की सहायता करो। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित लेखक समाज के शोषित और पीड़ित वर्ग को कर्म का सन्देश सुनाकर उनमें उत्साह का संचार करता है। वे मनुष्य की अपरिमित शक्ति में विश्वास करते हैं। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ जाता है कि ईश्वर का अस्तित्व भी सन्देहात्मक हो जाता है। वे एक नवीन संस्कृति के निर्माण की कामना करते हैं जो पूँजीवादी संस्कृति के विरोध में हो और जनवादी भावनाओं से समन्वित हो। इसलिए वे श्रमजीवी-क्रान्ति की प्रेरणा देते हैं। यही समाजवादी एवं जनवादी विचारधारा प्रगतिवाद का प्राण है। इसी विचारधारा को पुष्ट करने के लिए उन्होंने अन्य बहुत से सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं—जैसे, अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना, सामयिक समस्याओं के प्रति सचेष्टता, बौद्धिकता एवं व्यंग्य का प्रसार, जीवन के यथार्थ स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन, नारी स्वतन्त्रता की पुकार इत्यादि।

उपर्युक्त सिद्धान्तों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से तात्पर्य विश्व के शोषित तथा पीड़ित वर्ग से सहानुभूति ही है। निम्नवर्ग या शोषित वर्ग के जीवन में जो हाहाकार है, व्यथा है वह सभी देशों में एक सी है। इतनी व्यापक पीड़ा का सृजन करने वाली व्यवस्था भी सभी स्थानों में प्रायः एक सी है। प्रगतिवादी विचारधारा के अनुसार सारे विश्व में पूँजीवादी अर्थ नीति से पीड़ित निम्नवर्ग का एक विशाल समुदाय निर्मित हो गया है। इन्हीं मजदूरों और दीन जनों की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवादी कवि का मुख्य लक्ष्य माना जाता है। रूस इस दिशा में पर्याप्त प्रगति कर चुका है अतएव अनेक प्रगतिशील लेखकों में हमें रूस के प्रति सद्भावना के विचार मिलते हैं।

---

१. काव्य, यथार्थ और प्रगति—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ ६

इसके साथ ही इन कवियों ने फासिस्ट-विरोधी विचारों को भी महत्त्व दिया है। फासिस्ट राज्य में जनता का शासन न होकर कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों का शासन होता है और जनता की इच्छा को इन्हीं कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों की इच्छा का अनुगमन करना पड़ता है। इसीलिये प्रगतिशील लेखकों ने फासिस्ट विरोधी विचार प्रकट किये हैं। प्रगतिवाद की रचनाएँ जनसाधारण के उपभोग की वस्तु हैं अतः वह अत्यन्त सरल हैं। उसमें छायावाद की दूरारूढ़ कल्पना और दुरुह कलात्मकता को छोड़कर कलाकार सरलता के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। प्रगतिशील लेखकों ने व्यंगात्मक शैली पर कविताओं की रचनाएँ कीं। मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण कवियों ने लोक-गीतों के अनुसरण पर भी कविताएँ कीं। प्रगतिवादी कवि के रूपक और प्रतीक परवर्ती जीवन से लिये गये हैं, छायावादी कवियों की तरह प्रकृति के विविध उपकरण भावनाओं के प्रतीक स्वरूप व्यवहृत नहीं हैं। सारांश यह कि प्रगतिवादी कवि की भाषा, शैली, उसकी उपमाएं, रूपक और प्रतीक सुगम और सरल होते हैं। इस सम्बन्ध में वे उपयोगितावाद के समर्थक हैं।

प्रगतिवाद-युग में ही एक और विचारधारा प्रवाहित हुई है और वह है फ्रॉयड से प्रभावित मनोविश्लेषणवादी काव्य की। इस युग में मनोविज्ञान की उन्नति एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस मनोविश्लेषण के युग में प्रकृतवाद को अपने लिए उपयुक्त वातावरण मिला। मनोविश्लेषणवादी काव्यधारा के मूल में प्रवाहित होने वाली प्राकृतवादी विचारधारा को हम अज्ञेयजी के इन शब्दों में भलीभाँति समझ सकते हैं—"पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नहीं चिरन्तन पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध—अनिवार्यतः एक गतिशील सम्बन्ध है। गति उसके किसी एक क्षण में हो या न हो, गतिशीलता—गति पा सकने की आन्तरिक सामर्थ्य उसके स्वभाव में निहित है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति एक कर्षण की अवस्था है। वह शक्ति आकर्षण का रूप ले ले अथवा विकर्षण का, अथवा आकर्षण और विकर्षण की विभिन्न प्रवृत्तियों के सन्तुलन द्वारा एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले, जिसमें बाह्य रूप से कोई गति-प्रेरणा नहीं है, किन्तु किसी न किसी प्रकार आन्तरिक खिंचाव बना रहना अनिवार्य है। नाटकीय भाषा में हम इसे पुरुष और स्त्री का चिरन्तन संघर्ष कह

सकते हैं।"5 वस्तुतः यही स्त्री पुरुष का द्वन्द्व मनोविश्लेषणवादी कविता की मूल प्रवृत्ति है। इन कवियों ने सेक्स की समस्या को बहुत महत्त्व दिया है। पुरुष के हृदय में स्त्री विरोधी भावनाओं का पल्लवित होना इन कवियों ने बड़ा स्वाभाविक दिखलाया है। इसी कारण आज की सभ्यता में मनुष्य का सारा भावात्मक एवं सेक्स सम्बन्धी जीवन अत्यन्त शुष्क और क्षुद्र हो गया है। मनोविश्लेषण की सहायता से मन के बहुत से राज खुल गये और मनुष्य को अपने अचेतन मन में दबी भावनाओं को जानने की शक्ति मिली। मनुष्य ने अपने दमित अहं का, अपनी वासना का स्वरूप देखा और इसीलिए प्रकृतवादी कवियों ने 'सेक्स' को समस्त मानवीय प्रवृत्तियों का केन्द्र माना है।

इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद युग में एक विचारधारा प्रवाहित हो रही थी, वह है सांस्कृतिक समन्वय की धारा। कुछ प्रगतिशील लेखक एक नवीन विश्व संस्कृति की कल्पना करते हैं। मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का निर्माण नहीं होता तो उसका मतलब यह था कि पुरानी संस्कृति के तत्त्व और रूपों को साहित्यकार अपने में समेट कर उन्हें अधिक पुष्ट और विकसित करें। इस प्रकार एक नवीन समन्वयात्मक सांस्कृतिक दृष्टि का जन्म हुआ। हिन्दी के प्रमुख प्रगतिशील कवि पंत की काव्यधारा में मूल सांस्कृतिक समन्वय की यह विचारधारा प्रतिफलित हुई है जिसका मुख्य आधार अरविन्द का चेतनावाद और मार्क्सवाद है। इन दोनों के समन्वय से पन्त ने एक ऐसी विश्व संस्कृति की कल्पना की है जिसमें धर्म, जाति, वर्ण इत्यादि के सब भेद मिट जावेंगे। इस प्रकार पन्त के अनुसार मार्क्सवाद और भारतीय आध्यात्मवाद दोनों के समन्वय से ही विश्व कल्याण सम्भव है।

(५) प्रयोगवाद-युग (सन् १९४४ से आज तक) यह हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की काव्यधारा का पंचम उत्थान है। प्रयोगवाद हिन्दी काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति है। प्रगतिवाद के अत्यन्त जनवादी दृष्टिकोण की प्रयोगवादी कवियों में प्रतिक्रिया मिलती है। धीरे-धीरे कुछ प्रगतिशील कवियों

---

5 स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'—'चिन्ता' की भूमिका।

ने अनुभव किया कि कला को केवल जीवन के लिए मानना उपयुक्त नहीं है, कला का स्वतन्त्र भी कुछ महत्त्व है और वे कला को कला के लिए मानकर चले। वैसे प्रयोगवाद के मूल में भी प्रगतिवाद के समान ही राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक असन्तोष रहा है। जहाँ तक विचारधारा का सम्बन्ध है वहाँ वे मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण विज्ञान से प्रभावित हैं। काव्य के कलापक्ष के सम्बन्ध में प्रयोगशील कवि नवीन प्रयोगों के पक्षपाती हैं और यहीं उनकी प्रयोगशीलता का रूप देखने को मिलता है।

वैसे तो हिन्दी काव्यधारा के विकास में प्रारम्भ से ही प्रयोग होते रहे हैं और भक्तिकाल में तो उसकी पुष्ट परम्परा भी दिखलाई पड़ती है। दूर कहाँ जाएँ, हिन्दी काव्यधारा के आधुनिक काल में ही भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग और प्रगतिवाद युग में भी अनेक नवीन प्रयोग हुए हैं; किन्तु वाद के रूप में नवीनतम काव्य साहित्य को ही प्रयोगवाद की संज्ञा मिली। पंत जी तो प्रयोगवाद का जन्म छायावाद के प्रवर्तक प्रसाद से ही मानते हैं। उनके अनुसार 'प्रलय की छाया' और 'वरुणा की कछार' में प्रसाद जी ने वस्तु तथा छन्द के नवीन प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार निराला ने मुक्तछन्द को अनेक रूपों और शैलियों में प्रस्तुत किया। 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में छन्द के यह नवीन प्रयोग दर्शनीय हैं। प्रयोगवाद के कला-पक्ष के विकास में आंग्ल कवि टी० इस० इलियट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रयोगशील कविता की विषय-सामग्री सामयिक जीवन और समाज से गृहीत है। उसमें यौन कल्पनाओं से लेकर सामाजिक विषय भी अपनाए गये हैं। इन विषयों के अभिव्यंजन में प्रयोगशील कवियों ने बौद्धिकता को कहीं नहीं छोड़ा। अधिकांश प्रयोगवादी कवितायें घोर वैयक्तिकता, बुद्धिवादिता और शृङ्गारिकता से परिपूर्ण हैं। यहाँ तक कि प्रकृति चित्रण में भी शुष्कता और बुद्धिवाद की झलक मिलती है, उसमें मन के तारों को झकझोरने की शक्ति नहीं है। प्रयोगवादी कविता में मनुष्य की व्याकुल चेतना के दर्शन होते हैं जो नवीन प्रयोगों द्वारा अपनी जटिल भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयत्न करती है। प्रयोगशील कवियों के अनुसार प्राचीन उपमान, रूपक एवं

साहित्यिक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ वर्तमान जीवन की कुंठाओं और जटिलता को पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं। श्री रामेश्वर वर्मा ने प्रयोगशील कवियों की इस कठिनाई को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"जब लेखक अपने दैनिक जीवन की परिस्थिति विशेष को, पारिवारिक व सामाजिक कठिनाईयों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है, काव्य का चोला पहनना चाहता है तब यह कठिनाई मूर्तिमान होकर सम्मुख उपस्थित होती है, उस समय लेखक के मानस में एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है। यह संघर्ष होता है शैली और वस्तु के बीच में।..........एक कारण और है जो उक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति में बाधक रहता है—वह है मस्तिष्क के शैलीगत संस्कार।" आगे चलकर वे प्रयोगों की उद्भावना का मूल इन्हीं कठिनाइयों को बतलाते हुए कहते हैं "इन्हीं कारणों को लेकर प्रयोगवाद की नई कविता का जन्म हुआ जो सचेतन रूप से नवीन शिल्प का आग्रह करती है और जिसमें जीवन संघर्ष से उद्भूत नूतनतम अनुभूति को उसी तीखेपन के साथ, जितना कि कलाकार ने अनुभव किया है, अभिव्यक्त करने का प्रयास भर रहता है। इस प्रयास के अन्तर्गत लेखक प्राचीन शैली का परित्याग कर एक ऐसी नई शैली के निर्माण में संलग्न होता है, जिसमें रूढ़ परम्परागत एवं बँधे हुए प्रतीक उपमान तथा वाक्य-विन्यास न रहें—जो वास्तविकता से दूर केवल कल्पना की वस्तु रह गये हैं। लेखक अब भावाभिव्यंजना में सूक्ष्म नवीन प्रतीक एवं उपमानों का सहारा लेता है।"

आधुनिक-काव्य-धारा का उपर्युक्त पाँच उत्थानों में विभाजन काल-विशेष की मुख्य प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर ही किया गया है। वैसे तो आज प्रयोगवाद के युग में छायावाद के ढंग की रचनाएँ बहुतायत से हुई हैं। इसका कारण छायावाद की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा है। फिर भी प्रमुख रूप से और नवीन मानी जाने वाली प्रवृत्ति के रूप में हिन्दी की आधुनिक काव्यधारा का वर्तमान काल प्रयोगवाद के नाम से ही जाना जाता है। इसी प्रकार अन्य उत्थानों की बात है। यद्यपि आधुनिक काल की हिन्दी कविता की विभिन्न धाराएँ रही हैं तथापि उन सब में कुछ ऐसी समान प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं जिनके कारण उन सबको एक ही काल—आधुनिककाल—के अन्तर्भुक्त किया जा सकता

है। एक बात जो आदि से अन्त तक प्राप्त होती है वह है नवयुग की चेतना। आधुनिककाल की कविता के मूल में स्थित भावना शृङ्गारयुग की सामन्ती संस्कृति का ह्रास और नवयुग की चेतना का विकास है। उपर्युक्त वर्णित आधुनिक काल की कविता की विभिन्न धाराओं में भेद केवल प्रतिक्रिया मूलक है अन्यथा सब धाराओं का आधार एक ही है। जब कभी कोई विशेष राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई तभी उससे प्रभावित काव्य की एक पृथक धारा का प्रवर्तन हो गया। किन्तु यह पार्थक्य केवल बाह्य रूप में दृष्टिगोचर होता है। इन विभिन्न धाराओं में कुछ ऐसी समान भावनाएँ हैं कि पार्थक्य की भावना नष्ट हो जाती है और आदि से अन्त तक नवयुग की चेतना के दर्शन होते हैं। यहाँ संक्षेप में हम आधुनिक काव्य की नवयुग की चेतना को दर्शाने वाली समान भावनाओं का विवेचन करेंगे।

आधुनिक काव्य में सामान्य रूप से पाई जाने वाली सबसे प्रमुख भावना देशप्रेम अथवा राष्ट्रीयता की है जिसका वर्तमान स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयता है। भारतेन्दुयुग में यह भावना अंग्रेजी शासकों के प्रति राजभक्ति के साथ ही शासन की बुराइयों की आलोचना के रूप में है। धीरे-धीरे इस राजनीतिक चेतना का प्रसार सुधार की प्रार्थनाओं में परिवर्तित होता है और द्विवेदी युग के साथ ही प्रार्थनाओं तथा नरम नीति का त्याग और स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय भावना का विकास कांग्रेस के प्रभाव से होता है। यह राष्ट्रीय भावना द्विवेदी-युग में पुष्ट होती है और स्वतन्त्रता के देश-व्यापी आन्दोलन का प्रतिफलन करती है। द्विवेदी युग की कविता में देश-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, विदेशी शासन का विरोध और साधारण जनता का स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहयोग देना एवं देश-व्यापी राजनीतिक जाग्रति स्पष्ट ही परिलक्षित होती है। छायावाद युग की कविता में इस राष्ट्रीय भावना का विकास जयशङ्करप्रसाद की उत्कृष्ट कविता में परिलक्षित होता है। अब भारतेन्दु युग की निराशा दूर हो गई है और एक गरिमा आ गई है—प्रसाद जी का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। इसी युग में आकर खादी राष्ट्रीयता की प्रतीक बनती है और देश के अतीत गौरव की ओर कवियों का ध्यान जाता है। प्रगतिवाद युग में राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता है। वर्तमान-

युग की कविता में भी राष्ट्रीयता की भावना का विकसित रूप अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वबन्धुत्व और विश्व-मानवतावाद इत्यादि—अनेक प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है।

आधुनिक-काव्य की दूसरी सर्वसामान्य भावना सामाजिक चेतना की है। आधुनिककाल की विभिन्न धाराओं के प्रायः सभी कवियों का ध्यान सामाजिक उत्थान की ओर आकर्षित हुआ है। भारतेन्दु युग के कवियों को सामाजिक चेतना का भाव अन्धविश्वास तथा कुरीतियों की आलोचना में लक्षित होता है। स्त्रियों को विलासिता की सामग्री समझने वाली मनोवृत्ति की बड़ी कटु-आलोचना हुई। आर्य समाज की बढ़ती हुई सामाजिक स्वतन्त्रता का रूप भी इसी युग में देखने को मिलता है। आर्यसमाजी कवि सामाजिक रूढ़ि के विरुद्ध हैं। ये अंधविश्वास और मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं। बाल-विवाह का विरोध इन कवियों ने सबसे अधिक किया है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भी समाज पर बढ़ रहा था, इससे सामाजिक अव्यवस्था एवं सांस्कृतिक संघर्ष उपस्थित था। इस युग के सुधारवादी कवियों ने आपत्तिजनक पश्चिमी विचारों और रहन-सहन का विरोध किया है। इस प्रकार इस युग में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति करने वाले तीन प्रकार के कवि हैं—अपरिवर्तनवादी (प्राचीन सामाजिक नियमों में श्रद्धा रखने वाले), सुधारवादी और आर्यसमाजी। किन्तु इन तीनों प्रकार के कवियों की सामाजिक चेतना के मूल में समाज का हित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग के कवि सामयिक सामाजिक समस्याओं को महत्त्व देने लगते हैं। सामाजिक सुधार के मुख्य विषय ये हैं—वर्णाश्रम धर्म का पालन, अशिक्षा-निवारण, बाल-विवाह, विधवा-विवाह समुद्र-यात्रा, गोरक्षा। द्विवेदी युग में सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होता है और कविता में उसका प्रतिफलन होता है। द्विवेदी युग की कविता में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बड़ी सफलता से निरूपण हुआ है। धीरे-धीरे आर्यसमाज का खंडन-मंडन, सामाजिक कुरीतियों की आलोचना-प्रत्यालोचना समाप्त हो चली थी और सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए जनता में पूर्ण जागृति हो चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से लोगों का दृष्टिकोण व्यापक हो रहा था और सामाजिक कुरीतियों को लोग छोड़ रहे थे। अब कवियों का सामाजिक समस्याओं को परखने का दृष्टिकोण भी बदल रहा था। धीरे-धीरे कवि स्त्री

शिक्षा के समर्थक हो रहे थे और दमयन्ती, सीता, गार्गी जैसी विदुषियों के देश की स्त्रियों की अविद्या एवं हीनदशा पर सहानुभूति प्रकट करने लगे थे। ज्यों-ज्यों स्त्री शिक्षा और नारी जागृति का प्रादुर्भाव और विकास हुआ त्यों-त्यों स्त्रियों के प्रति उच्च भावना का भी विकास हुआ। हिन्दी साहित्य की काव्य-धारा के द्वितीय उत्थान-काल में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ स्वतन्त्रता आन्दोलन में कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य कर रहीं थीं इसीलिए 'साकेत' की उर्मिला भी स्वयं सेना लेकर जाने की कामना करती है। हरिऔध की राधा की समाज सेवा की भावना भी तत्कालीन नारी जाग्रति की परिचायक है। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विवेदी युग की कविता में तत्कालीन सामाजिक चेतना पूर्ण रूप से मुखरित है।

छायावादी युग की कविता में भी सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इस युग में सामाजिक समस्याओं का रूप बदला। मानवतावादी विचारधारा का पल्लवन हो रहा था और इस युग के कवि अपनी कविता में उन भावनाओं को उतार रहे थे। धीरे-धीरे राष्ट्रीय एकता की भावना के मूल में मानवतावाद की विचारधारा का विकास हुआ और दुःख और अत्याचार से पीड़ित मानवता की स्वतन्त्रता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया था। छायावाद-युग के कवियों ने एक ऐसी नवीन व्यवस्था का सन्देश सुनाया जिसके अन्तर्गत सभी जातियाँ भेद-भाव भूलकर सुख और शान्ति से रह सकती हैं। सामाजिक जीवन की उलझन भी छायावादी कविता में अभिव्यक्त है। सुमित्रानन्दन पन्त जी के अनुसार छायावाद युग के कवियों की मनःस्थिति सामाजिक जीवन की वास्तविकता के अनुरूप ही दुःख सुख में, भीतर बाहर में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वन्द्वों में सामञ्जस्य स्थापित करने लगी थी। इस युग की पीढ़ी का समाज बहुत ही निराश था। प्रथम-महायुद्ध के पश्चात् अङ्गरेजों ने अपने वचन पूरे नहीं किये और देश के आर्थिक शोषण ने नवयुवकों का जीवन दुःखद बना दिया। बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी इससे नवयुवकों की मानसिक स्थिति बड़ी कष्टपूर्ण थी। इस पीढ़ी की विफल आशाओं का चित्रण छायावादी कवियों ने अपनी कविता में किया है। हाँ, इस सम्बन्ध में एक ही बात स्मरणीय है और वह यह कि समाज की

निराशा और भाग्यवादिता का यह चित्रण इस युग के कलात्मक एवं सौन्दर्यवादी काव्य में रहस्यमय ढंग से हुआ है। इसका रूप कविता में प्रच्छन्न है।

छायावादी कविता में सामाजिक चेतना 'सूक्ष्म' रूप में अभिव्यक्त हुई है। इसका स्थूल रूप प्रगतिवादी कविता में देखने को मिलता है। प्रगतिवाद के मूल में समाजवादी दर्शन है। यह पूर्णतया जनवादी काव्य है और लोकमत की अभिव्यक्ति इसका सौन्दर्य है। इस प्रकार इस युग के काव्य में सामाजिक चेतना पूर्णरूप से मुखरित है। इसका विस्तार से विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रगतिशील कवियों ने तत्कालीन सामाजिक चेतना का एकांगी रूप ही प्रस्तुत किया। वे निम्न वर्ग, श्रमिक वर्ग, और शोषितों की कहानी सुनाते रहे, बुर्जुआ वर्ग के प्रति उनकी घृणा होने के कारण उनकी सामाजिक स्थिति के प्रति उपेक्षा ही दर्शायी गई है। वर्तमान युग में भी प्रगतिवादी विचारधारा का ही पल्लवन हुआ है। प्रयोगवादी कविता में सामाजिक गतिक्रम की क्षिप्र अवस्था का अच्छा परिचय मिलता है। यह काव्य सामाजिक आधार को अंशतः ही लेकर चलता है। आज मनोविश्लेषण विज्ञान के विकास से व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन की जो बहुत सी जटिलताएँ हमारे सामने प्रकट हुई हैं उनका प्रयोगवादी कविता में पूर्ण प्रतिफलन हुआ है। यथास्थान इसका विवेचन करेंगे।

आधुनिक काव्य की तीसरी सर्व-सामान्य-भावना यथार्थ की अनुभूति है। शृंगारकालीन कविता यथार्थ की अनुभूति से बहुत दूर है। आधुनिक काव्यधारा में यथार्थानुभूति नवयुग की चेतना को लेकर ही आई है। शृंगारयुग का काव्य राज्याश्रित था, जनवादी भावनाओं का चित्रण उसमें नहीं हो पाया। आधुनिक काल की कविता में जनता की भावनाओं का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसीलिए उसमें जन-जीवन की समस्याओं का प्रवेश हुआ और यथार्थ की अनुभूति की व्यंजना हुई। सामान्य जन-जीवन काव्य का विषय बना; शोषित पीड़ित कविता के साध्य बने। सम्पूर्ण जीवन को उसकी सुन्दरता और कुरूपता सहित स्वीकार करके कवियों ने सच्चाई के साथ काव्य में उसकी अभिव्यक्ति की है। आधुनिक युग का कवि जन-जीवन को लेकर चलता है इसलिए वह जीवन की कुरूपता एवं जटिलता पर परदा नहीं डालना चाहता।

यही वास्तविकता समस्त आधुनिक कविता का प्राण है। भारतेन्दु युग से वर्तमान युग तक की कविता से यथार्थ की अनुभूति भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिफलित हुई है। भारतेन्दु युग में तो शृंगारयुग की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य के विषयों और उनकी प्रकाशन शैली दोनों को जन-जीवन से सम्बद्ध कर दिया गया। अब छन्दों में कजरी, ठुमरी, लावनी इत्यादि का प्रयोग करके कविता में यथार्थ को महत्व मिला। इसी प्रकार युग की परिस्थितियों का वर्णन भी यथार्थ की अनुभूति है। भारतेन्दु ने स्वयं लोक-साहित्य का सृजन किया और अपने मण्डल के अन्य कवियों को भी प्रेरणा दी। द्विवेदी-युग में कविता पूर्णतया राष्ट्रीय आन्दोलन को लेकर चली। इस युग की कविता में समाजपक्ष पूर्णतया मुखरित है। अछूतों द्वारा आन्दोलन और कृषकों की अवस्था के चित्रण इत्यादि में यथार्थ की अनुभूति का विकास हुआ है। छायावादी कविता भी लोक-मंगल को सम्मुख रखकर चलती है। उसमें युगानुरूप वेदना की प्रवृत्ति पाई जाती है। छायावाद के प्रमुख कवियों प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी में यह प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि छायावादी कवियों की कल्पना प्रवणता के कारण यथार्थ की अनुभूति सूक्ष्म रूप में व्यक्त हुई है। प्रगतिवाद में यथार्थ की अनुभूति अपने स्थूल रूप में मुखरित है। प्रगतिशील कवियों के सामने वास्तविक यथार्थवाद का आदर्श रहा है। प्रगतिवाद-युग की काव्यधारा में यथार्थ की अनुभूति की अभिव्यक्ति मनोविश्लेषणवाद की विचारधारा को लेकर भी चलती है। समाज-पक्ष के निरूपण में यथार्थ की अनुभूति समाज के अन्तर्गत अपना प्रभाव दिखाने वाले आर्थिक कारणों की व्यवस्था करके शोषण का रूप दिखाती है। वर्तमान युग में प्रयोगवादी कविता में भी वास्तविक यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। समाजपक्ष में यथार्थ की अनुभूति राष्ट्रीयता की भावना से लेकर अन्तरराष्ट्रीयता तक की भावना को व्यक्त करती है और मनोविश्लेषण के क्षेत्र में "यौन वर्जनाओं" को। यथास्थान इस प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन किया जायगा।

आधुनिक काव्यधारा में चौथी सर्वसामान्य और महत्त्वपूर्ण भावना मानवतावाद की प्रतिष्ठा है। मानवतावादी विचारधारा का क्रमशः विकास हुआ है। भारतेन्दु युग के साथ ही हिन्दी कविता में जनवादी विचारधारा का

विकास हुआ और कवियों का ध्यान दुःखी तथा पीड़ित वर्ग की ओर आकर्षित हुआ। यह सहानुभूति बड़ी व्यापक है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। श्रृंगारयुगीन कविता में स्त्री विलासिता की वस्तु समझी गई। भारतेन्दु युग में आकर कवियों को स्त्री के प्रति और उसकी गिरी हुई दशा के प्रति सहानुभूति हुई। उनका ध्यान बाल-विवाह की कुरीतियों और विधवा जीवन की विडम्बनाओं की ओर गया। इसी प्रकार इस युग में कवियों का ध्यान धार्मिक समस्याओं की ओर गया। विचार-स्वातंत्र्य की भावना बलवती हुई और भ्रातृत्व की भावना का विकास हुआ। इन बातों में मानवतावादी विचारधारा की झलक मिलती है। द्विवेदी युग की कविता में मानवतावादी विचारधारा बड़ी बलवती है। यह दृष्टि पश्चिमी शिक्षा का परिणाम थी। शिक्षा के विकास से दृष्टिकोण व्यापक हुआ और द्विवेदी युग की कविता में मानवीय मूल्यों की स्थापना हुई। दुश्चरित्रों में भी मानवीय मूल गुणों की उद्भावना हुई और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भक्तिकालीन कविता की तिरस्कृत पात्र कैकेयी को उदारतापूर्वक प्रायश्चित करने का अवसर प्रदान किया। द्विवेदी युग की कविता में मानवतावादी विचारधारा का प्रवाह निरंतर प्रवाहित है। उसकी प्रेरणा में तीन विचारों का विशेष महत्त्व रहा है। एक तो निम्नवर्ग तथा शोषितों के प्रति सहानुभूति और उनके दुःखी जीवन की करुण अभिव्यक्ति, दूसरे नारी के उत्थान का प्रयत्न और तीसरे मानवता की सेवा करने की आध्यात्मिक भावना। निर्धन तथा शोषित जैसे कृषक, श्रमिक, अछूत इत्यादि के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन मैथिलीशरण, सियाराम शरण इत्यादि की कविता में, नारी के उत्थान का प्रयत्न रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त जी की कविता में और जन-सेवा का आदर्श अयोध्यासिंह उपाध्याय की कविता में मुखरित हुआ। छायावादी कविता में इस मानवतावाद का और अधिक विकास हुआ और इसमें विश्व-बन्धुत्व की पुकार सुनाई पड़ी। छायावाद का सौन्दर्यवाद मानवतावादी विचार-धारा से अनुप्राणित है। प्रसादजी ने कामायनी में मनु के रूप में हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर पर बैठकर अपने कुटुम्ब को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता को देखने का प्रयत्न किया है। प्रगतिवादी मानव की शक्ति में अद्भुत विश्वास

लेकर आया और उसे सर्वोपरि मानकर उसने निम्न स्तर के जीवन में मानवता के दर्शन किए। सच तो यह है कि प्रगतिवादी कवि ने मानवता की शक्ति में इतना अधिक विश्वास दिखाया कि वह ईश्वर के अस्तित्व में भी सन्देह करने लगा। प्रकृति पर मनुष्य की विजय और विजयिनी मानवता की ध्वनि प्रगतिवादी काव्य में स्पष्ट सुनाई देती है। इसके अतिरिक्त शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति भी स्पष्ट है। अब मानवता उच्चवर्ग या महलों एवं अट्टालिकाओं में बन्द न रहकर झोंपड़ियों तथा निम्न-वर्ग के निम्नकोटि के जीवन तक पहुँच गई। यहीं पर हम विश्व-संस्कृति एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का भी विकास पाते हैं। वर्तमान युग के काव्य में भी मानवतावादी विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है क्योंकि इस युग के काव्य में भी प्रगतिशील विचार-धारा प्रवाहित है।

सारांश यह है कि आधुनिक हिन्दी कविता में उपर्युक्त सर्व सामान्य प्रवृत्तियों का विकास आदि से अन्त तक देखने को मिलता है। सच तो यह है कि नवयुग की चेतना का विकास ही इन प्रवृत्तियों में दिखलाई पड़ता है। इन्हीं समान भावनाओं को लक्ष्य करके हम आधुनिक काव्य की विभिन्न धाराओं को आधुनिक काल के अन्तर्भूत कर सकते हैं। आगे हम आधुनिक हिन्दी कविता की इन विभिन्न-धाराओं का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

भारतेन्दुकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काव्यधारा का प्रथम उत्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम पर भारतेन्दु युग कहलाता है। भारतेन्दु इस उत्थान की काव्यधारा में महान् व्यक्तित्व के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। उन्होंने कविता में नवयुग की चेतना का प्रादुर्भाव किया, साथ ही कवियों का एक मण्डल स्थापित किया जिसने कविता में नवयुग की चेतना को उतारा। इस मण्डल के केन्द्र और प्रेरणाबिन्दु भारतेन्दुजी ही थे। वस्तुतः आधुनिक काल के प्रारम्भिक दिनों में कविता का क्षेत्र सिमट कर प्रायः काशी में केन्द्रित हो गया और कवि शिरोमणि भारतेन्दु और उनके सहयोगी इसके प्रधान अभिनेता बने।

हम आधुनिककाल के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिख चुके हैं कि इस

काल में नवयुग की चेतना का प्रादुर्भाव तत्कालीन राजनीतिक चेतना, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति, प्रवृत्तियों और साहित्यिक पृष्ठभूमि में ढूंढ़ा जा सकता है। यदि भक्तिकालीन कविता में समाज पक्ष प्रबल था तो शृंगारकालीन कविता में दरबारी संस्कृति का प्रभुत्व झलकता है। इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य जनवादी साहित्य है। भारतीय जनता (मध्यवर्ग) की सांस्कृतिक चेतना का विकास आधुनिक-काल के साहित्य में दिखलाई पड़ता है। इस सांस्कृतिक चेतना के विकास में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ तथा पाश्चात्य सभ्यता का योग स्पष्ट लक्षित होता है, लेकिन नव जागृति से उत्पन्न विचार-स्वातन्त्र्य केवल अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव हो ऐसा मानना उचित नहीं है। किसी भी युग का साहित्य एक सांस्कृतिक विकास की परम्परा का द्योतक होता है। उसमें अपने कुछ जातीय गुण हैं। भारतेन्दु युग का साहित्य पूर्णतया जनवादी साहित्य है और भारतेन्दु जन-जाग्रति के अग्रदूत।

अब हम भारतेन्दु-कालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे। ये इस प्रकार हैं—

(१) इस युग की कविता की मूल धारा देश-भक्ति की है। सन् ५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् भारत का शासन कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश सरकार ने ले लिया, इसलिए अत्याचारपूर्ण राजनीति का अध्याय समाप्त हुआ और जनता को शान्ति और सुरक्षा की आशा बंधी। इसलिए कविता में राज-भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है। यह राज-भक्ति का प्रदर्शन कोरी ब्रिटिश शासकों की गुलामी ही नहीं है, इसमें देश की दशा सुधारने की प्रार्थना भी सन्निहित है, जो देशभक्ति की परिचायक है और यही इस युग की राष्ट्रीयता की भी द्योतक है। एक ओर तो हरिश्चन्द्र 'ब्रिटिश राजपद का परसन' परम मोक्ष फल मानते—

> परम-मोक्ष फल राजपद परसन जीवन माँहि।
> बृटन-देवता राजसुत पद परसहु चित चाहि॥

तो दूसरी ओर उनके सहयोगी प्रेमघन अंग्रेज-शासक तथा उनके प्रतिनिधि भारतीय अधिकारियों की नीति का विरोध करते हुए उन्हें केवल भारत के

हित में शासन करने के लिए कहते हैं—

"करहु आज सों राज आप केवल भारत हित;
केवल भारत के हित-साधन में दीने चित।"

इस प्रकार राजभक्ति के भीतर देशभक्ति का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है। और राजभक्ति के प्रदर्शन का कारण कम्पनी के अत्याचारपूर्ण शासन की समाप्ति और नवीन शासन व्यवस्था का स्थापित होना है—

ईस्ट इण्डिया कम्पनी कियो राज-काज इत,
कियो समित उत्पात होत जे रहे इहाँ नित।
पै वाकी स्वारथपरता अरु लोभ अधिकतर;
राख्यो चित नित ही निज राज-बढ़ावन।

× × ×

लेकर राज कम्पनी के कर सौं निज हाथन,
किय सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन।

यह राजभक्ति, विक्टोरिया की घोषणा का स्वागत, विक्टोरिया की मृत्यु पर 'मातृहीन सब प्रजावृन्द' कह कर शोक प्रकट करना, उस युग की राजनीतिक चेतना का स्वरूप है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस युग के कवि अपने देश के गौरव को भूल गए, नहीं वे तो भारत की अतीतकालीन सभ्यता का गुणगान करके देश की तत्कालीन अवस्था पर बड़े दुःखी हैं, उनसे यह भारत दुर्दशा देखी नहीं जाती—

जहाँ शाक्य भए हरिचन्द नहुष ययाती,
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती,
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुख दिखाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि का हृदय भारत की स्थिति को देखकर द्रवित हो जाता है। इस शोक में भारत की सांस्कृतिक महत्ता और पाश्चात्य सभ्यता की ओर साम्प्रतिक जनता के आकर्षण का भी संकेत है। वे उनका

ध्यान प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर, जिसके नेता हरिश्चन्द्र; राम, युधिष्ठर, वासुदेव आदि थे, ले जाते हैं। यह नवीन सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावाद युग की कविता में स्पष्ट है। भारतेन्दु के शब्दों में—

जिनके भय कंपित संसारा, सब जग जिनको तेज पसारा।....
युरुप अमरीका इहिहि सिहाहीं, भारत भाग सरिस कोउ नाहीं

आज जन-समुदाय बिना पथ-प्रदर्शक के बिगड़ रहा है, पाश्चात्य संस्कृति को अपना रहा है, इससे इन कवियों को बड़ा दुःख होता है। अंग्रेजी सभ्यता का 'केरीकेचर' हरिश्चन्द्र की एक मुकरी में देखने योग्य है—

सब गुरुजन को बुरो बतावै, अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्व न, झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहीं अंग्रेजी।

इतना ही नहीं उन्हें वीरता, एकता, ममता का अभाव खलता है। भारतीयों का उद्यम छोड़कर दास-वृत्ति अपनाना हीनता का द्योतक लगता है। इससे उन्हें बड़ी निराशा होती है और वे 'लावनी' में कह उठते हैं—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होई एहि नासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥
+ + +
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहे।
मूरखता को तम चारहु ओर पसरिहै॥
वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दास वृत्ति अनुसरिहै॥
है जैहैं चारहु वरन शूद्र बनि दासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥

इसी सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावाद का एक पक्ष अपनी भारतीय वस्तुओं को छोड़ कर विदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर प्रकट क्षोभ में है। भारतेन्दु ने विदेशी मलमल और मारकीन का व्यवहार करने वालों की कटु आलोचना की है—

"मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम,
परदेसी जुलहान के मानहुँ भये गुलाम।"

केवल आलोचना ही नहीं जाग्रति के स्वर भी हैं—

परदेसी की बुद्धि अरु करि वस्तुन की आस ;
परबस ह्वै कब लौं कहौ रहिहौ तुम ह्वै दास ।
काम सिताब सिताब सों अब नहीं सरिहै मीत,
तासों उठहु सिताब अब छाँड़ि सकल भयभीत ।

और यही तो भारतीय आर्थिक स्थिति बिगड़ने का भी कारण है । एक ओर देश की आर्थिक दुरवस्था और दूसरी ओर साहबी रंग में रंगे नवयुवक । अम्बिकादत्त व्यास ने इन नवयुवकों की विशेषताएँ बतलाई हैं—

"पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर ;
भालू चरबी चरबी लवेंडर को लगाइ फिर
निज भाइन के रचे बसन भूषन नहिं भावत ;
मैनचेस्टर अरु लिवरपूल से लादि मँगावत ।"

इस युग के कवियों में देश की दयनीय अवस्था से उत्पन्न क्षोभ की परिणिति ईश्वर की प्रार्थना में भी हुई है । वे बड़ी करुण पुकार करते हैं । 'नीलदेवी' में राष्ट्र को बचाने की नीलदेवी की प्रार्थना भारतेन्दु की अपने युग को बचाने की प्रार्थना है—

कहाँ करुणानिधि केशव सोए ?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए ।।

इसी प्रकार अपने ही हाथ सबकुछ खोने वाले भारतवासियों की दशा सुधारने की यह प्रार्थना—

"निज हाथन सर्वसु खोय चुके कहँ लौं दुख पै दुख ही भरिए ।
हम आरत भारतवासिन पै अब दीन दयाल दया करिए ।।"

—प्रतापनारायण मिश्र

ईश्वर की शक्ति में विश्वास रखने वाले ये कविगण एक ओर देश की दयनीय स्थिति देखते हैं तो दूसरी ओर ईश्वर से भूतल पर अवतरित होने की प्रार्थना करते हैं—

प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए ।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ।।

महा अविद्या राक्षस ने या वेसहिं बहुत सतायो ।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सब ही विधिन गंवायो ।।

—राधाकृष्णदास

इस प्रकार भारतेन्दु युग की कविता की प्रमुख प्रवृत्ति उनकी राष्ट्रीय भावना है। उसमें अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीति के प्रति असन्तोष है और कांग्रेस के देश-व्यापी स्वन्त्रता आन्दोलन के लिए ठोस भूमिका की तैयारी। विद्रोह का स्वर पूर्णरूप से मुखरित है और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का पर्दाफाश है—

"भीतर भीतर सब रस चूसे, बाहर से तन मन धन मूसे ।।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज

—भारतेन्दु

इसीलिए स्वन्त्रता का महत्त्व उन्होंने इन शब्दों में बतलाया है—

सब तजि गहो स्वतन्त्रता, नहिं चुप लातें खाव ।
राजा करैं सो न्याव है, पाँसा परे सो दाँव ।।

(२) भारतेन्दुकालीन कविता की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति जनवादी विचारधारा की है। इस जनवादी विचारधारा का स्वर भारतेन्दु युग की कविता की विषय-वस्तु और शैली दोनों में ही समान रूप से मुखरित हुआ है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में भारतेन्दु युग की जनवादी भावना उसके समाज सुधार में निहित है। अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' के तीसरे संस्करण की भूमिका में उन्होंने इस जनवादी प्रवृत्ति की सोदाहरण व्याख्या की है, वह इस प्रकार है—"भारतेन्दु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज में पुराने ढाँचे से सन्तुष्ट न होकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई चारे का भी साहित्य है। भारतेन्दु स्वदेशी आन्दोलन के ही अग्रदूत न थे, वे समाज सुधारकों में से भी प्रमुख थे। स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह' विदेश यात्रा आदि के समर्थक थे। इससे भी बढ़कर महत्त्व की बात यह थी कि भारतीय महाजनों के पुराने पेशे सूदखोरी की उन्होंने कड़ी आलोचना की थी। लिखा था, 'सर्वदा से अच्छे लोग व्याज खाना और चूड़ी पहिनना एक-सा

समझते हैं पर अब के आलसियों को इसी का अवलम्ब है; न हाथ हिलाना पड़े न पैर, बैठे-बैठे भुगतान कर लिया।" (कविवचन सुधा, २२ दिसम्बर १८७३)।

भारतेन्दु युग की कविता में जनवादी विचारधारा के मुख्य स्वरूपों का विवेचन यहाँ हम सोदाहरण करने जा रहे हैं। जनवादी विचारधारा का एक स्वरूप तो समाज के दोषयुक्त अङ्ग की कटु आलोचना है। बनिये के सम्बन्ध में भारतेन्दुजी की फब्तियाँ बड़ी सटीक हैं—

गल्ला कटै लगा है कि भैया जो है सो है।
बनियन कों गम भला है कि भैया जो है सो है॥

गल्ला कटने से बनिये का गला सा कट जाता है। इस प्रकार वह किसान की दीनता का लाभ उठाने से रह जाता है। और भी—

कुप्पा भए हैं फूल के बनियाँ बफर्ते माल।
पेट उसका दमकला है कि भैया जो है सो है॥

'बफरते माली बनिया' से समाज को शिकायत है। उन्हें यों ही बफरने को नहीं छोड़ा जा सकता। यह है भारतेन्दु युग की प्रगतिशील जनवादी प्रवृत्ति। और भी; 'लाला' का चित्र भी देख लीजिये। यह भी भूलने वाला नहीं है—

लाला की भैंसी श्रीर मिचोवत में शाशो अब
दूध श्रोहमाँ मिल गया है कि भैया जो है सो है।

और यह 'भैया जो है सो है' क्या है, यह भी जनवाणी ही तो है। भारतेन्दु का सूत्र इस सम्बन्ध में मूल-मन्त्र है—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।

जरा जनवादी-वाणी को भारतेन्दुजी के इस मेम-मेहरिया के सम्बन्ध में कही गई उक्ति में भी देखिये—

का भवा, आवा है ए राम जमाना कैसा।
कैसी मेहरारू है ई, हाय जनाना कैसा॥

उस समय की मेम के प्रति जनवादी-विचारधारा का रूप इस उपेक्षा भरी उक्ति में व्यक्त हुआ है।

भारतेन्दुयुग की कविता में साम्प्रतिक समाज की दशा का, विदेशी सभ्यता के संकट का, पुराने रोजगार सराफी-हुन्डी के बहिष्कार का, युगानुरूप जनवादी विचारधारा में स्वरूप देखना हो तो भारतेन्दुजी की जनवाणी में देखिए—

लोक क्रिस्तान भए आयँ बन-थँ साहब।
कैसा अब पुन्न धरम गंगा नहाना कैसा॥
हाल रोजगार गया धूर में बेवहार मिला।
का सराफी रहो हुन्डी का चलाना कैसा॥
खोय के लाज सरम पोगप्र सब लड़कन लोग
काहे के बाप मतारी रहे नाना कैसा॥

वेदमार्ग को छोड़कर मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित लोगों की कटु आलोचना राधाचरण गोस्वामीजी की कविता में देखने को मिलती है—

यज्ञ, याग सब मेट पेट भरन में चातुर;
पितर पिंड नहिं देत यवन-सेवा में आतुर
पढ़ें जनम तें फारसी छोड़ वेद मारग दियो।
हा हा हा विधि बाम ने सर्वनाश भारत कियो॥

एक और चीज है। जिसकी भारतेन्दु युग की कविता में अत्यन्त कटु आलोचना हुई है। यह चीज है अंग्रेजों की शोषण नीति का प्रतीक 'टैक्स'। देखिये भारतेन्दु की बानी—

सबके उप्पर लगा टिक्कस कि उड़ा होस मोरा।
रोवें क चाहिए हंसो ठोठी ठठाना कैसो॥

महँगी और कर के कारण क्या दशा हो रही है—

मंहगी और टिक्कस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन छाम।

यहाँ आपको बीच में ही रोककर यह और बतलाना है कि यह मध्यम-वर्ग की भावना है। भारतेन्दु-युगीन कविता में मध्यम-वर्ग की जनवाणी मुखरित हुई है। अब आगे चलिए।

जरा बफरते माल महाजन और धनिक वर्ग द्वारा सताए कृषकों का दुखड़ा भी सुनिए—

जिनके कारण सब सुख पावें जिनका बोया सब जन खांय ।
हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लांय ॥
अहा बिचारे दुख के मारे निस दिन पच पच मरें किसान,
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवाले जाय लगान ।

—बालमुकुन्द गुप्त

भारतेन्दु युग में दो विचारधाराएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। एक तो पुराण-वादी परम्परा के समर्थकों की और दूसरी आधुनिक व्यापक दृष्टि वालों की। हरिश्चन्द्र ने प्रायः मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र की क्रान्ति को इस युग के कवियों ने वाणी दी। हरिश्चन्द्र ने सामाजिक दोषों, रूढ़ियों, कुरीतियों का घोर विरोध किया है। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले ढोंग की पोल खोल दी है।

छूआ-छूत के अशुभ प्रचार का भी संकेत भारतेन्दु की कविता में मिलता है—

बहुत हमने फैलाये धर्म बढ़ाया छुआछूत का कर्म ।

प्रेमघन जी की कविता में अंधविश्वास की खिल्ली उड़ाई गयी है—

प्रचलित हाय अंध परिपाटी पर तुम चलते जाते;
आर्यवंश को लज्जित करते कुछ भी नहीं लजाते ।
धर्म आग्रह सब है केवल करने ही को झगड़ा;
नहिं तो सत्य धर्म प्रेमी से कैसा किससे रगड़ा ।

यह मानवतावाद है, व्यापक दृष्टिकोण की सूचना है, यही नवयुग की चेतना का स्वरूप है। इसी को हम जनवादी विचारधारा के नाम से पुकारते हैं। प्रतापनारायण मिश्र स्त्रियों की शिक्षा के पक्षपाती हैं, बालविवाह के विरोधी हैं, विधवाओं के दुःख से क्षुब्ध हैं—

निज धर्म भलीं विधि जानें, निज गौरव पहिचानें ।
स्त्रीगण को विद्या देवें, करि पतिव्रता यश लेवें ।
झूठी यह गुलाब की लाली धोवत ही मिटि जाय;
बालब्याह की रीति मिटाओ रहे लाली मुंह छाय ।
विधवा विलपें नित धेनु कटें कोउ लागत हाय गोहार नहीं ।

आर्य समाज की धार्मिक क्रान्ति भी इसी युग में हुई थी और उसका स्वर भारतेन्दु युग की कविता में पूर्ण रूप से मुखरित हुआ है। इस प्रकार दुरंगी विचारधारा का प्रवाह इस युग में लक्षित होता है। इस स्थिति से उत्पन्न परिताप को भारतेन्दु जी ने एक 'कजरी' में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है, देखिए।

भारत में एहि समय भई सब कुछ
बिनहि प्रमान हो दुइ-रंगी।
आधे पुराने पुरानहि मानें
आधे भये क्रिस्तान हो दुइ-रंगी।
क्या तो गदहा को जना चढ़ावें।
कि होइ दयानंद जायें हो दुइ-रंगी।
क्या तो पढ़ें केथी कोठिवालियें
कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी।
एहीं से भारत नास भया सब
जहां तहां यही हाल हो दुइ-रंगी।
होइ एक मत भाई सबै अब
छोड़हु चाल कुचाल हो दुइ-रंगी।

भारतेन्दु युग की इस मूल जनवादी धारा का इतना ही विवेचन पर्याप्त है। एक बात विशेष रूप से स्पष्ट करनी है और वह है जनवादी विचारधारा के आधार की ठोस यथार्थवादी अनुभूति की। यही वास्तविक यथार्थवाद है। यहां हम डा० रांगेय राघव के वास्तविक यथार्थवाद के सम्बन्ध में व्यक्त शब्दों को रखने का लोभ-संवरण नहीं कर सकते। उन्होंने लिखा है—"जीवित रहने वाले व्यक्ति को चलते समाज के भीतर देखना और उस व्यक्ति के पूर्णत्व को प्रतिबिम्बित करके लोक कल्याण की ओर ले जाने वाला वह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बनाकर सत्य की ओर प्रेरित करता है, वही वास्तविक यथार्थवाद है।" और आगे डा० रांगेय राघव ने जनवादी विचारधारा से उत्पन्न मानवतावाद की पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया है—"इस मानवतावाद की पृष्ठभूमि में यहां की विषमताओं और संघर्षों में चलने वाले

ये आन्दोलन हैं, जो जन समाज की आवाज को शक्ल देते रहे हैं, तो स्पष्ट ही उन शक्लों के पीछे उत्पादन के साधन न बदलने, या धीरे बदलने, या असम रूप से बदलने के कारण मौजूद रहे हैं, जिन्होंने झटकों के स्थान पर विकास को ही ग्रहण किया है।" कहने का तात्पर्य यह है कि जनवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव और विकास सांस्कृतिक संघर्ष से हुआ है और यह समाज की आवाज को शक्ल देता रहा है। इसके लिए उसे यथार्थ की अनुभूति का आश्रय लेना पड़ता है तभी तो उसमें सजीवता आ गयी। यह वास्तविक यथार्थवाद ही भारतेन्दुकालीन जनवादी धारा की आधार भूमि है।

यह तो हुई जनवादी धारा की विषय-वस्तु की बात, अब इसकी प्रकाशन शैली का भी परीक्षण करना चाहिए। जैसे विचार हैं वैसी ही उसकी प्रकाशन शैली है। जन-वाणी को न अलंकार चाहिए और न शब्दाडम्बर। फिर जन-जागरण का उपाय ही इससे अच्छा क्या हो सकता है कि ग्रामीण जनता में नवयुग की जनवादी विचारधारा का प्रचार उन्हीं के छन्दों में किया जाय। गीतों का ग्रामीण जनता पर विशेष प्रभाव है, इसलिए भारतेन्दुजी का विचार है कि "ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में साधारण भाषा में बनें, वरंच गवाँरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषाओं में विशेष हो। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, गजल इत्यादि ग्राम गीतों में इनका प्रचार हो।" भारतेन्दु जी के इन शब्दों में हम जन-वाणी का महत्त्व भली-भाँति समझ सकते हैं। पहले हमने 'भैया जो है सो है' में जनवाणी के रूप की ओर संकेत किया था। भारतेन्दुयुग की कविता में कजरी, ठुमरी, लावनी, मुकरी, पहेली इत्यादि जन-बानी के रूप हैं। यहाँ आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय जी के ये शब्द विशेष महत्त्व-पूर्ण सिद्ध होंगे—"वह (भारतेन्दु जी) 'ग्राम कविता' का भक्त नहीं, पर ग्राम-भाषा भी 'अमृत बानी' से रिक्त न रहे, यह उसकी लालसा अवश्य है। इसी से उसका यह विज्ञापन है। (तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहे) इस विज्ञाप्ति के द्वारा जिस जनवाणी का सत्कार बढ़ा वह किसी कोने की भाषा नहीं, प्रत्येक जनपद की जनवाणी है। 'जनपद' को 'विष्णुपद' तक लाने और 'भारती' को विश्वभारती बनाने के लिये जो उसने उद्योग किए उसकी इति कहाँ ? उसकी तो कामना थी भारत को एक देखना। उसकी तो

दृष्टि में—

एक भाषा, इक जीव, इक मति के लोग।
तबै बनत है सबन सों, मिटत मूढ़ता सोग॥
भारत में सब भिन्न अति, ताहीं सों उत्पात।
विविध देस मतहू विविध, भाषा विविध, लखात॥[1]

एक अन्य स्थान पर पांडेय जी ने कहा है—"क्या यह हमारे अभिमान की बात नहीं है कि हमारी नागरी का नेता नागर हरिश्चन्द्र था जो 'गंवारी' (भाषा) का रसपान करने में तनिक भी नहीं हिचकता था। उसकी एक नायिका का आग्रह है—

लिखाय नाहीं देस्यो पढ़ाय नाहीं देस्यो, सैंया फिरगंन बनाय नाहीं देस्यो।
लहंगा दुपट्टा नीको न लागै, मेमन का गौना मंगाय नाही देस्यो॥[2]

भारतेन्दु जी ने जन-जाग्रति के लिए जातीय संगीत के प्रचार का महत्त्व बतलाया था। उन्होंने जनता में प्रचार के लिए ग्रामगीतों के विषय चुने थे जिससे उनकी यथार्थवादी मनोवृत्ति स्पष्ट झलकती है। ये विषय इस प्रकार हैं—

बाल-विवाह—इसमें स्त्री का बालक पति होने का दुःख फिर परस्पर मन न मिलने का वर्णन, उससे अनेक भावी अमंगल और अप्रीतिजनक परिणाम।

जन्मपत्री की विधि—इससे बिना मन मिले स्त्री पुरुष का विवाह और इसकी अशास्त्रता।

बालकों की शिक्षा—इसकी आवश्यकता, प्रणाली, शिष्टाचार शिक्षा, व्यवहार शिक्षा आदि।

बालकों से बर्ताव—इसमें बालकों से योग्य रीति पर बर्ताव न करने से उनका नाश होना।

---

१. जन-जागरण का अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लेखक श्री चन्द्रवली पाण्डेय, पृ० ११

२. वही पृ० १३.

अंग्रेजी फैशन—इससे बिगड़ कर बालकों का मद्यादि सेवन और स्वधर्म विस्मरण।

स्वधर्म चिन्ता—इसकी आवश्यकता।

भ्रूणहत्या और शिशुहत्या—इसके प्रचार के कारण, उसके मिटाने के उपाय।

फूट, हत्या और बैर—इसके दुर्गुण, इसके कारण भारत की क्या-क्या हानि हुई इसका वर्णन।

मैत्री और ऐक्य—इसके बढ़ने के उपाय, इसके शुभ फल।

बहुजातित्व और बहुभक्तित्व के दोष—इससे परस्पर चित्त का न मिलना, इसी से एक दूसरे के सहाय में असमर्थ होना।

योग्यता—अर्थात् केवल वाणी का विस्तार न करके सब कामों को करने की योग्यता पहुँचाना और उदाहरण दिखलाने का विषय।

पूर्वज आर्यों की स्तुति—इसमें उनके शौर्य, औदार्य, सत्य, चातुर्य, विद्यादि गुणों का वर्णन।

जन्म-भूमि—इससे स्नेह और इसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन।

आलस्य और संतोष—इसकी संसार के विषय में निन्दा और इससे हानि।

व्यापार की उन्नति—इसकी आवश्यकता और उपाय।

नशा—इसकी निन्दा इत्यादि।

अदालत—इससे रुपया व्यय करके नाश होना और आपस में न समझने का परिणाम।

हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दोस्तानियों को व्यवहार करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इनके न होने से हानि का वर्णन।

भारतवर्ष के दुर्भाग्य का वर्णन—करुणारस सवलित।

ऐसे ही और-और विषय जिसमें देश की उन्नति की सम्भावना हो, लिये जायें, यद्यपि यह एक विषय एक-एक नाटक, उपन्यास या काव्य आदि के ग्रन्थ बनाने के योग्य है और इन पर अलग ग्रन्थ बने तो बड़ी ही उत्तम बात

है, पर यहाँ तो इन सबके छोटे-छोटे सरल देशभाषा में गीत और छन्दों की आवश्यकता है जो पृथक पुस्तकाकार मुद्रित होकर साधारण जनों में फैलाये जायँगे।

—हरिश्चन्द्र

वस्तुतः भारतेन्दुयुगीन कविता की सबसे बड़ी देन यथार्थ की अनुभूति है जो विविध रूप से व्यक्त हुई है। इस काव्य में डा० रांगेय राघव की पदावली में 'जीवित रहने वाले व्यक्ति को चलते समाज के भीतर' देखने का प्रयत्न है "और उस व्यक्ति के पूर्णत्व को प्रतिबिम्बित करके लोक-कल्याण की ओर ले जाने वाला यह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बनाकर सत्य की ओर प्रेरित करता है।"

(३) भारतेन्दु युगीन काव्यधारा की तीसरी मुख्य प्रवृत्ति उसमें प्राचीन परिपाटी की कविता का सृजन है। भक्ति और शृंगार की परम्पराएँ भारतेन्दु युग तक चलती आई थीं। यही कारण है कि भारतेन्दु जी ने स्वयं तथा उनके अनन्य सहयोगियों ने सैकड़ों पद पुराने भक्त कवियों की परिपाटी पर बना डाले। कुछ कवि नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में भी संलग्न थे। दान-लीला, मृगया इत्यादि विषयों को लिखने के लिये रीति-काव्य-पद्धति अपनाई गई। भारतेन्दु जी को एक भक्त-हृदय प्राप्त था। उनके भक्ति के पदों में भक्त के हृदय की स्निग्धता देखने को मिलती है—

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन को रज जामैं सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे मुख यह बर मुँह माग्यो हरि दीजै॥

× × ×

छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत सब जानि जात हैं घूंघट मैं न खगे॥
कितनो करो दुराव दुरत नहीं जब ये प्रेम पगे।
निडर भये उघरे से डोलत मोहन रंग रंगे॥

भारतेन्दु जी ने रीति परिपाटी पर बहुत सी कविताएँ की हैं। उनकी 'प्रेम माधुरी' में पद्माकर तथा देव का सा शृंगार वर्णन मिलता है। कहीं-

कहीं तो प्रेम की चंचल एवं पर पीड़क वृत्ति का उद्घाटन पद्माकर तथा बिहारी की कोटि का मिलता है, जैसे —

सजि सेज रंग के महल में उमंग भरी।
पिय गर लागी काम-कसक मिटायें लेत ॥
ठानि विपरीति पूरी मैन मसूसन सों।
सुरत-समर जयपत्रहि लिखायें लेत ॥
हरीचन्द उझकि उझकि रति गाढ़ी करि।
जोम भरी पियहिं झकोरन हरायें लेत ॥
याद करि पी की सब निरदय घातें आजु।
प्रथम समागम को बदलो चुकायें लेत ॥

उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों की भाँति यौन-विकृति जैसे स्वरति, समरति, चित्ररति, वस्त्ररति, पपड़ीपन रति इत्यादि का वर्णन भी किया है।

इस प्रकार भारतेन्दु में शृंगारकालीन आचार्यों के भी दर्शन होते हैं। उन्होंने कुछ त्योहारों का वर्णन शृंगारकालीन परम्परा पर किया है। 'होली' शृंगार रस का मुख्य त्योहार है—देखिये—

खेलौ मिलि होरी ढोरा केसर कमोरी फेंको।
भरि-भरि झोरी लाज जिय में बिचारो ना ॥
डारो सबै रंग संग चंगहू बजाओ गाओ।
सबन रिझाओ सरसाओ संग धारो न ॥
कहत निहोरि कर ओरि 'हरिचंद' प्यारे।
मेरी विनती है एक हा हा ताहि टारो न ॥
नैन हैं चकोर मुख चन्द तें परैंगो ओट।
यातें इन आँखिन गुलाब लाल धारो ना ॥

यह तो हुआ शृंगार रस का रीति-परम्परा का वर्णन। भारतेन्दु जी ने कहीं-कहीं प्रेम की गम्भीर एवं संवेदनशील वृत्ति का बड़ा उत्कृष्ट चित्रण किया है। इनमें कहीं-कहीं सूर की गोपियों की सी विदग्धता मिलती है—

हों तो याही सोच में विचारत रही री काहे,
दरपन हाथ तें छिन विसरत है।

त्यों ही हरिचन्द जू वियोग और संयोग दोऊ,
एक से तिहार कछु लखि न परत हैं।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात,
तू तो परम पुनीत प्रेम पथ विचरत है॥
तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैनदिन देखिबो करत है।

इस कवित्त में कवि ने पहले प्रौढ़ा नायिका और पीछे अनूढ़ा नायिका का वर्णन किया है। इन वर्णनों में हम सूर की गोपियों की सी प्रेम विदग्धता एवं संवेदनशीलता की झलक पाते हैं। सूर की पंक्तियों से मिला लीजिए—

तातें मिले हू प्रतीत न आवति।
यदपि नाथ बिधु बदन विलोकत दरसन को सुख पावति॥

भारतेन्दु जी ने नवोढ़ा नायिका की क्रिया-प्रतिक्रिया का बड़ा सजीव वर्णन किया है जो मध्यकालीन शृङ्गार की परम्परा में आता है—

आई केलि के मन्दिर में प्रथम नवेली बाल।
जोरा-जोरी पिय मन-मानिक छुड़ायें लेत॥
सौ-सौ बार पूछे एक उतरू मरू कै देति।
घूंघट के ओट जोति मुख की दुराए लेति॥
चूमन न देत 'हरिचन्द' भरि लाज अति।
सकुचि-सकुचि गोरे अंगनि चुराये लेति॥
गहत हि हाथ नैन नीचे किये आंचर में।
छबि सौं छबीली छोटी छातिन छुपाये लेति॥

भारतेन्दु जी की 'चन्द्रावली' नायिका के प्रेम-वर्णनों में मध्य-युगीन झलक स्पष्ट लक्षित होती है। चन्द्रावली की प्रेममग्न अवस्था देखिए—

तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैन-दिन देखिबो करत है॥

इसी का उत्कर्ष आगे इन शब्दों में है—

जिन आंखिन में तुव रूप बस्यो,
उन अंसुवनि सौं अब देखिए का?

आनन्दघन की भाँति इन्होंने भी पवन-दूत की योजना की है—

अरे पौन सुख भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहो राधिका रौन सों मौन निवारो॥

शृंगारयुग की पद्धति पर कविता करने वालों में भारतेन्दु युग के बाबू राधाकृष्णदास का नाम भी उल्लेखनीय है। मोहन मोहिनी मूर्ति पर इनकी रीझ भी अनोखी है—

मोहन की यह मोहिनी मूरत, जीय सों भूलत नाँहि भुलाये।
छोरन चाहत नेह को नातो, कोऊ विधि छूटत नाँहि छुराये॥
'दासजू' छोरिकै प्यारे हहा, हमें ग्रौर के रूप पै जाइ लुभाये।
भूलि सकै ग्रब कौन जिया उन, तो हंसिके पहिले चुराये॥

ग्रौर भी; बिहारी की दुखिया ग्राँखों के सम्बन्ध में कही हुई इस उक्ति 'इन दुखिहा ग्रँखियान को सुख सिरज्यो ही नाँहि' की व्याख्या भारतेन्दुजी से सुनिये ग्रौर मिलाइये कि शृंगार-युग की परिपाटी का कहाँ तक ग्रनुकरण है—

इन दुखियान को न सुख सपनेहूँ मिल्यो
यों ही सदा व्याकुल विकल ग्रकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्दजू की बीति जानि ग्रौधि जो पै
जै हैं प्रान तऊ ये तो संग न समायँगी।
× × ×
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हा,
देखि लीजो ग्राँखें ये खुली ही रह जायँगी॥

भारतेन्दुयुग की कविता में केवल शृङ्गारकाल की ही परम्परा नहीं है उसमें भक्ति-युगीन-परम्परा भी जीवित है। फिर इसकी ग्रभिव्यक्ति में सूरदास के पद ग्रौर तुलसी की विनयपत्रिका की वन्दनाग्रों की झलक भी स्पष्ट है। इस पद को सूरदास के पदों से मिला लीजिये—चन्द्रावली कृष्ण के प्रति ग्रपने प्रेम को सखियों से पहले तो छिपाती रहती है परन्तु ग्रन्त में स्वीकार कर लेती है ग्रौर ग्रपने नेत्रों को दोष देती है—

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे॥

मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक बुरे।
मेरी सखि प्रीत सब छाँड़ौं ऐसे ये निगुरे।।
जग खोझ्यो बरज्यो पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे
अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे।,

इसी प्रकार तुलसीदास की विनय-पत्रिका की ध्वनि भी इस पंक्ति में सुन लीजिए—

"नवल नील मेघबरन, दरसन अघ-ताप हरन,
परसत सुखकरन, भक्त सरन-जमुनावारी।"

इस प्रकार भक्तिरस के पदों में भारतेन्दुजी में सूरदास की परम्परा की झलक स्पष्ट लक्षित होती है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—"किन्हीं-किन्हीं शृङ्गार-रस के पदों में वह सूरदास के इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पदों से टक्कर लेते हैं—

"आजु उठि भोर वृषभानु नन्दिनी फूल के महल तें निकसि ठाढ़ी भई।
खसित सुभ सिसतें कलित कुसुमावली मधुप की मंडली मत्त रस ह्वै गई।।"

छन्द की विलम्बित गति, शब्दावली का लालित्य और चित्र का सौन्दर्य सभी सूरदास के उत्कृष्ट पदों से होड़ करते हैं।"[१]

(४) भारतेन्दुयुगीन काव्यधारा की चौथी मुख्य प्रवृत्ति उसमें कलात्मकता का अभाव है। नवयुग की अभिव्यक्ति करने वाली यह कविता कलात्मक न हो सकी। इसमें कलात्मकता लाने में बहुत समय लगा। डा० केशरी-नारायण शुक्ल के शब्दों में इस युग की कविता में कलात्मकता का अभाव इस उत्थान में विचारों का संक्रान्तिकाल होना है। वे कहते हैं—"प्रथम उत्थान नवयुग का आरम्भमात्र था। इसलिए हमें इस समय की कविता में उस कलात्मकता के दर्शन नहीं होते जो कालान्तर में सतत् परिश्रम के अनन्तर प्रकट हुई। काव्य-विषयों के सर्वथा नवीन होने के कारण, इनकी काव्य-पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए समय की आवश्यकता थी।" फिर जनता की मनोवृत्ति भी बदलनी थी, उस पर से प्रेम गीतों

१—भारतेन्दु युग—डा० रामविलास शर्मा, तृतीय संस्करण, पृ० १३६

का प्रभाव हटाना था। डा० शुक्लजी ने इसी प्रसंग में आगे लिखा है— "इसलिए जब देशवासियों के सामने ऐसी कविता उपस्थित की गई, जिसका प्रधानविषय आधुनिककाल की समस्याओं का—जिनसे जनता, उदासीन थी—निरूपण था तो वे अपने को शीघ्र इसके अनुकूल न बना सके।............इस प्रकार काव्याभिव्यक्ति का अभाव तथा विचारों की मौलिकता दोनों प्रथम उत्थान की कविता में कर्कशता तथा कलाहीनता के कारण बने।....कवि नवीन विचारों को पचाकर पूरी तरह से अपना नहीं बना सके। फलतः ये इसकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति में असफल रहे।"[१]

इस युग की कविता में कलात्मकता के अभाव का एक और कारण भी है, वह है उस युग गद्य का और समाचार-पत्रों का प्रचार। कवि समाचार-पत्रों द्वारा ही अपनी कविता का प्रचार करते थे इसलिए उन्हें इसे काव्यपूर्ण बनाने की विशेष चिन्ता नहीं थी। डा० शुक्लजी ने इस युग की कविता में कलात्मकता के अभाव का एक और कारण बतलाया है, वह है भाषा का अस्तित्व एवं नागरी आन्दोलन। इस आन्दोलन के लिए कवियों को जनमत जागरित करना था इसलिए उन्होंने जनबानी को अपनाया और उसमें कलात्मकता से बचे रहे। कवियों ने नागरी-आन्दोलन सम्बन्धी अपने विचारों को पद्यबद्ध रूप दिया। सारांश यह कि उस युग के कवि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भाषा-सम्बन्धी समस्याओं में इतने व्यस्त थे कि वे नवयुग की चेतना को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त न कर सके और उसमें सर्वत्र यथार्थ की अनुभूति की सच्चाई सरल भाषा-शैली में अभिव्यक्त हुई है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस युग के कवियों के उदगारों की अनुभूति में कुछ दोष था। वस्तुतः उनके उदगारों की अनुभूति की सत्यता तो प्रशंसनीय है। इससे उन्होंने जन-जागरण का महान् प्रयत्न किया। देखिए धार्मिक उदारता की कितनी सरल अभिव्यक्ति है—

खंडन-मंडन की बातें सब करते सुनी सुनाई।
गाली देकर हाय बनाते वैरी अपने भाई॥

१—आधुनिक काव्यधारा—डा० केशरीनारायण शुक्ल पृ० ९५

हैं उपासना भेद न उसके अर्थ और विस्तारो।
सभी धर्म के यही सत्य सिद्धान्त न और विस्तारो।

इसलिए जब हम मुख्य प्रवृत्ति की बात कहते हैं तो यही कहना पड़ता है कि नवीन कविता में कलात्मकता का अभाव तथा प्रभावहीनता है। कविता-प्रचार के लिए और विशेषकर ग्रामों में प्रचार करने के लिए और वह भी पुस्तकाकार नहीं—समाचार-पत्रों में—छपती थी, इसलिए यह प्रवृत्ति और भी विकसित हुई।

(५) भारतेन्दुयुगीन कविता की भाषा मुख्यतया ब्रजभाषा ही रही है। वैसे इस युग के अन्तिमकाल में खड़ी बोली में भी रचनाएँ हुई। खड़ीबोली का प्रचार गद्य तक सीमित रहने का कारण गुलाबराय जी की इस युक्ति में ढूँढ़ा जा सकता है, "गद्य की अपेक्षा पद्य में रूढ़िवाद अधिक दिन तक ठहरता है।" किन्तु इस युग के अन्तिम दिनों में खड़ीबोली में कविता करने का आन्दोलन प्रारम्भ हो जाता है और द्विवेदी युग में पद्यक्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा हो जाती है। अयोध्यानाथ खत्री, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र इत्यादि भारतेन्दु युग के कवियों ने खड़ीबोली में कविता करने का प्रयास किया है। प्रेमघन जी की कविता का एक उदाहरण—

हमें जो हैं चाहते निबाहते हैं प्रेमघन,
उन दिलदारों से ही मेल मिला लेते हैं।

हरिश्चन्द्र जी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब एक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है॥

प्रतापनारायण मिश्र का एक पद देखिये—

जब से देखा प्रियवर मुखचन्द्र तुम्हारा,
संसार तुच्छ जँचता है हमको सारा।
इच्छा रहती है नित्य यह शोभा देखें,
लावण्यमयी यह दिव्य मधुरता देखें॥

श्रीधर पाठक की कुछ पंक्तियाँ—

यह भूमि भारती, अब क्या पुकारती।
इसके ही हाथ से तो हुई इसकी दुर्गती॥
होते हैं पाप घोर लाखों प्ररब करोर।
सब शोर करते हैं पचपच के मरते हैं॥

श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली को पुष्ट करने के लिये कुछ अंग्रेजी काव्यों के अनुवाद प्रस्तुत किये। दिन पर दिन खड़ीबोली का स्वर पुष्ट होता गया। निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये—

वन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बान्धवता में बँधे, परस्परता के ज्ञानी हों।

उपर्युक्त उद्धरणों से एक बात तो स्पष्ट हो गई, वह यह कि भारतेन्दुयुग में खड़ीबोली में उच्चकोटि की रचना नहीं मिलती। इसका कारण स्पष्ट ही ब्रजभाषा की माधुरी पर उस युग के कवियों की रीझ है। भारतेन्दु जी ने खड़ीबोली में कविता करने का प्रयत्न किया, पर कर न सके। वस्तुत: उस युग में भाव-व्यंजना का प्रधान माध्यम ब्रजभाषा ही रही। खड़ीबोली के आचार्य पं० श्रीधर पाठक भी ब्रजभाषा की माधुरी मानते थे—

"ब्रजभाषा-सरीखी रसीली वाणी को कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत करने का विचार केवल उन हृदय-हीन अरसिकों के हृदय में उठना सम्भव है, जो उस भाषा के स्वरूप-ज्ञान से शून्य और उसकी सुधा के आस्वादन से बिलकुल वंचित हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रजभाषा की माधुरी का भारतेन्दु युगीन कवियों पर बड़ा गहरा प्रभाव था।

(६) भारतेन्दु युग में कवियों ने छन्द के क्षेत्र में कोई नवीन एवं स्वतन्त्र प्रयास नहीं किया है। डा० केशरीनारायण शुक्ल ने लिखा है—"भारतेन्दु युग के कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए, परम्परा से चले आते हुए छन्दों का ही उपयोग किया है। इनमें छन्द सौन्दर्य का नवीन उपक्रम नहीं लक्षित होता। भक्ति तथा रीतिकाल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा और छप्पय इस युग में भी प्रचलित थे। इन छन्दों में सवैया तथा रोला इस समय के कवियों को

अधिक प्रिय थे। इन दो छन्दों के उपयोग में किंचित स्वन्तत्र उद्भावना के दर्शन होते हैं। प्रेम तथा शृंगार की अधिकांश कविता, सवैया (और कहीं-कहीं कवित्त) छन्द में लिखी गई है और आधुनिक विषय रोला छन्द में वर्णित है। भारतेन्दु युग में नवीन छन्दों की कल्पना नहीं हुई।" आगे लोक-साहित्य की चर्चा करते हुए डा० शुक्ल लिखते हैं—"तत्कालीन लोक-साहित्य (Popular literature) के अध्ययन से भारतेन्दु युग में नवीन छन्दों का अभाव इतना नहीं खटकता। शुद्ध साहित्यिकों से दूर रहकर भी साधारण जनता भिन्न-भिन्न छन्दों में अपनी भावना व्यक्त कर लोक-साहित्य की वृद्धि कर रही थी। इनके प्रमुख छन्द लावनी और कजली में प्रयुक्त हुये हैं और इसी से इनकी रचनाएँ लावनी तथा कजली के नाम से प्रसिद्ध और संग्रहीत हैं।"

जातीय संगीत का गाँव-गाँव के साधारण लोगों में प्रचार करने के लिये भारतेन्दुजी ने कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, गजल, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लबें, लावनी, बिरहा, चनैनी इत्यादि छन्दों को अपनाने पर जोर दिया था। उन्होंने लिखा था—"उत्साही लोग इसमें जो बनाने की शक्ति रखते हैं वे बनावें, जो छपवाने की शक्ति रखते हैं वे छपवा दें और जो प्रचार की शक्ति रखते हैं वे प्रचार करें। मुझसे जहां तक हो सकेगा मैं भी करूँगा।"

भारतेन्दुकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करने से उसकी काव्य-स्थिति स्पष्ट हो चुकी है। अब हम द्विवेदी युग की काव्यधारा के विकास का अध्ययन करेंगे।

द्विवेदी युग की कविता की प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काव्यधारा का द्वितीय उत्थान आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर द्विवेदी युग कहलाता है। आचार्य द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के साथ ही आधुनिक काव्यधारा में पुनः परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन बड़ा व्यापक था। इसका प्रभाव उस युग की काव्य-वस्तु और शैली एवं भाषा दोनों पर ही पड़ा। सन् १९०२ में महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'सरस्वती' का सम्पादन का भार संभालना एक महत्त्वपूर्ण घटना है और इस घटना के साथ ही परिवर्त्तन प्रारम्भ होता है। इस युग के काव्य पर द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की इतनी

गहरी छाप है कि इसे हम उन्हीं के नाम पर 'द्विवेदी युग' कह सकते हैं।

अधिकांश भारतेन्दुकालीन कविता रूढ़िग्रस्त थी और पुरानी ब्रजभाषा की परिपाटी का अनुसरण हो रहा था। नवयुग की चेतना का विकास होने पर भी भारतेन्दु युग की कविता शृंगारकालीन परिस्थितियों को पूर्णतया छोड़ने में समर्थन हो सकी और इन पुरानी प्रवृत्तियों के साथ ही नवीन जनवादी धारा में प्रवाहित होती रही। द्विवेदी युग में इस नवीन काव्यधारा का उद्रेक बड़े वेग से हुआ, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा की पुरानी धारा लुप्तप्रायः सी हो गई। शृंगारकालीन काव्य परम्पराओं का ही लोप नहीं हुआ वरन् उनको अभिव्यक्त करने वाली ब्रजभाषा को काव्य के माध्यम के रूप में प्रायः सर्वथा त्याग दिया और उसके स्थान पर खड़ीबोली की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार काव्य-भाषा विषयक एक बड़ी समस्या सुलझ गई और खड़ीबोली काव्य-भाषा के रूप में सर्व सम्मत्ति से स्वीकृत कर ली गई। भाषा के साथ द्विवेदी जी ने कविता की शैली में भी सुधार किया। द्विवेदी जी का यह भी आग्रह था कि कविता की भाषा गद्य की व्यवहारिक भाषा होनी चाहिए। द्विवेदीजी मर्यादा-वादी थे इसीलिए शृंगार की भावना को प्रोत्साहन नहीं देते थे। उनके प्रभाव से आधुनिक युग की कविता के द्वितीय उत्थान में शृंगारकालीन शृंगार की प्रवृत्ति को अश्लील मानकर उसका बहिष्कार किया गया। द्विवेदी जी के व्यापक प्रभाव से उनके समय की कविता में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता हो गई और उस युग का सम्पूर्ण काव्य अभिधा का उत्कृष्ट काव्य बनकर रह गया। उसमें लक्षणा का, चित्रमयता एवं अलंकारों का और व्यंजना का प्रायः अभाव हो गया। मातृभूमि-प्रेम और स्वदेश-गौरव, मानवतावाद तथा बुद्धि-वादी प्रवृत्ति इस युग की कविता की प्राण बनी। अब कविता का उद्देश्य केवल मनोरंजन न रहा, और उसमें मानव-जीवन की सामान्य भावनाओं का समावेश भी होने लगा। साथ ही गम्भीरता का तत्व विशेष रूप से आया। द्विवेदी-युग की कविता प्रायः एक बंधी प्रणाली में हुई थी, जिसके प्रवर्तक आचार्य द्विवेदी थे, इसीलिए इस युग का नामकरण उनके नाम पर उपयुक्त ही है।

द्विवेदी-युग की काव्यधारा के विकास पर उस युग की राजनीतिक चेतना,

सामाजिक अवस्था और धार्मिक स्थिति का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। फिर भी इस युग के साहित्य में राजनीतिक चेतना का स्वर अधिक मुखरित हुआ है। इस युग की कविता राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है। उसने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रमुख विषय बना लिया है। उस युग में कांग्रेस धीरे-धीरे प्रार्थना और नरम नीति छोड़ने लगी थी। देश की स्वतन्त्रता के लिए एक बड़ा राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ होने वाला था। इसीलिए कांग्रेस मध्य-वर्ग को साथ लेकर चलने लगी थी। उधर बंग-भंग के पश्चात् स्वदेशी आन्दोलन का प्रसार हो रहा था। इटली के स्वतन्त्रता युद्ध, रूस-जापान युद्ध और जापान की विजय, आयरलैण्ड के होम रूल आन्दोलन इत्यादि घटनाओं से भारतीय राजनीति में एक नवीन युगान्तर उपस्थित हुआ। इन परिवर्तनों का तत्कालीन काव्य-धारा पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। 'देश-प्रेम' कविता का प्रमुख विषय हो गया। उधर नवीन शिक्षा के प्रसार से एवं पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से शिक्षित भारतीय जनता में नया उत्साह उत्पन्न हुआ। उन्हें स्वातन्त्र्य-युद्ध में नवीन प्रेरणा मिली। तत्कालीन काव्यधारा में इस राजनीतिक चेतना से उद्भूत देश-प्रेम की भावना में देश के प्रति प्रेम और आदर उसके प्राचीन गौरव एवं संस्कृति की महानता का वर्णन और देव-स्वातन्त्र्य-युद्ध आदि भावनाएँ समन्वित हैं।

द्विवेदी-युग में सामाजिक क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ। अब पूर्वयुग के वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना का स्थान ठोस सामाजिक-उत्थान करने की भावना ने ले लिया और स्त्री-शिक्षा इत्यादि आश्चर्यजनक वस्तु नहीं रह गई। मानवता के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण आविर्भूत हुआ। मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया और निरन्तर शोषण के बीच जीवन-यापन करने वाले अशिक्षित और श्रमिकों का जीवन अब हिन्दी कवियों का प्रिय विषय बन गया। इसका कारण मध्यवर्ग में राजनीतिक चेतना का संचार और उनका राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ़ता हुआ प्रभाव ही था। साथ ही नारी के रूप को भी महानता प्रदान की गई। अब वह भी पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले रही थी। अब वह शृङ्गारकालीन सामन्ती विलासिता का उपकरण समझी जाने वाली नारी नहीं रह गई थी। मैथिली-

शरण गुप्त की कविता में हमें नारी के महान् स्वरूप के दर्शन होते हैं।

द्विवेदी-युग में नवीन शिक्षा के प्रसार एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव बड़ा व्यापक पड़ा। वैसे तो आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही हमें पुरातनता के प्रति एक विद्रोह सुनाई पड़ता है परन्तु द्विवेदी युग में बुद्धिवाद का बोलबाला है। इसीलिए हिन्दी के धार्मिक काव्य में अवतारवाद की भावना का विरोध दिखलाई पड़ता है। माईकेल मधुसूदनदत्त ने अपने 'मेघनाथ-वध' नामक महाकाव्य में अवतारवाद के प्रति विद्रोह किया। इस बुद्धिवाद का प्रभाव द्विवेदीयुगीन मानव जीवन पर बड़ा व्यापक पड़ा। अब हम रूढ़िवादिता एवं गली सड़ी प्राचीन परम्पराओं को छोड़ रहे थे। इसीलिए दलित एवं निम्न वर्ग का भी उद्धार हो रहा था और रूढ़ि से दुष्ट माने जाने वाले पात्रों में भी नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना हो रही थी। कहने का तात्पर्य यह कि लोगों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैज्ञानिक तार्किक दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। इसीलिए अलौकिक चरित्रों का वैज्ञानिक-तार्किक कसौटी पर शुद्ध रूप न पाकर बहिष्कार हो रहा था। अलौकिक कृत्यों का भी मानवीकरण हो रहा था।

द्विवेदी-युगीन काव्यधारा की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था एवं धार्मिक स्थिति की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से उस युग की काव्य स्थिति का आधार स्पष्ट हो गया है। अब हम द्विवेदीयुगीन काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का विचार करेंगे—

१—भारतेन्दु युगीन काव्यधारा की भाँति द्विवेदी युगीन काव्यधारा की मूलधारा भी देश-भक्ति की है। हाँ, इतना अन्तर है कि देशभक्ति की प्रवृत्तियों पर नवीन समय और नवीन कवियों की छाप पड़ी है। कवियों की नवीन मनो-दृष्टि के अनुसार पुरानी प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ परिवर्तित हो गई हैं और यह परिवर्तन भी स्पष्ट लक्षित होता है। कांग्रेस अब राष्ट्रीय संस्था के रूप में विकसित हो रही थी और अब देशभक्ति के क्षेत्र से प्राचीन हिन्दू इतिहास तथा परम्परा का महत्त्व हट गया और कवियों का ध्यान अतीत से अधिक वर्तमान की ओर है। साथ ही कांग्रेस मध्यवर्ग के हाथ में चली गई है। इसका स्वरूप मध्यवर्ग की राजनीतिक चेतना में देखने को मिलता है। इसीलिए इस युग

के कवि समस्त जनता—विद्यार्थी, मजदूर, किसान, स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे सभी—को देश की स्वतन्त्रता और समृद्धि के लिए आत्मबलि कर देने को प्रेरित करते हैं। कवियों का विशेष आग्रह साम्प्रदायिक सामंजस्य और सदिच्छा में दिखलाई पड़ता है क्योंकि भारत की उन्नति के लिये सभी जातियों का सच्चा मेल आवश्यक है। रामनरेश त्रिपाठी में एकता का विशेष आग्रह है। ये देशवासियों को द्वेष-भाव छोड़कर देश की सर्वतोमुखी उन्नति करने के लिये प्रेरणा देते हैं और इस लक्ष्य की प्राप्ति में आत्मबलिदान करने का महत्त्व सिद्ध करते हैं—

उठो त्याग दें द्वेष एक ही सब के मत हों।
सीख ज्ञान विज्ञान कला-कौशल उन्नत हों॥
सुख सुधार संपत्ति शांति भारत में भर दें।
अपना जीवन इसे सहर्ष समर्पित कर दें॥
भारत की उन्नति सिद्धि से हम सबका कल्याण है।
दृढ़ समझो इस सिद्धान्त को हम शरीर यह प्राण है॥

वस्तुतः उस युग में ऐसी भावनाओं का महत्त्व स्पष्ट ही है। बंग-भंग की भारत विरोधी और जाति-भेदीकरण की नीति से राष्ट्रीय भावनाओं से पूरित भारतीय जनता की आँखें खुल गई और वे अंग्रेजों को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखने लगे और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप तथा राष्ट्रीयता के अनुरूप सभी जातियों में भ्रातृत्व भावना का प्रचार हुआ। रूपनारायण पांडेय एक कविता में ईसाई, मुसलमान, पारसी, जैन, बौद्ध इत्यादि सभी भारत-देश में निवास करने वाली जातियों में भ्रातृत्व का विकास करने पर जोर देते हैं—

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई भाई॥
पुण्य भूमि है, स्वर्ग भूमि है, जन्म भूमि है देश यही।
इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं॥

इस प्रकार उस युग की राष्ट्रीयता में एक तत्त्व साम्प्रदायिक विभेद दूर करने का था; क्योंकि अंग्रेज भेदीकरण की नीति पर अपने साम्राज्य की नींव दृढ़ कर रहे थे। इसलिये देश-प्रेम एवं राष्ट्रीयवाद के लिये साम्प्रदायिक

एकता एक आवश्यक तत्त्व हो गया था।

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा की राष्ट्रीय भावना की दूसरी विशेषता उसका सांस्कृतिक पक्ष है। कवियों ने देश के प्राचीन स्वरूप के प्रति बड़े पूज्य भाव व्यक्त किये हैं। गुप्त जी संसार द्वारा सम्मानित प्राचीन भारत को श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं—

जगत ने जिसके पद छुए।
सकल देश ऋणी जिसके हुए॥
ललित लाभ कला सब था जहाँ।
वह हरे! अब भारत है कहाँ॥

जहाँ भारतेन्दु-युग में केवल प्राचीन के प्रति पूज्य भाव था और नवीन के प्रति निराशा वहाँ अब कवियों में शक्ति और साहस का अपूर्व मिश्रण दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु-युगीन निराशा के स्थान पर इस युग की कविता में आशा और विश्वास के स्वर मुखरित हैं। इन भावनाओं को जगाने में मैथिलीशरण गुप्त का कार्य महत्त्वपूर्ण है। 'भारत-भारती' जन-जन के कण्ठ की भारती बनी, उसने आशा एवं उत्साह का संचार किया, देखिये—

क्षत्रिय! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेंट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो॥
वैश्यो! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का॥

द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय-भावना की तीसरी विशेषता जन्मभूमि के दैवीकरण और उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन है। मातृभूमि का सौन्दर्य दर्शन श्रीधर पाठक की इस कविता में देखिये—

बन्दहु मातृ भारत-धरनि।
सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि तेज तप मय तरनि।
सरित वन कृषि भरित भुव छवि सरस कवि-मनहरनि॥

बंकिमचन्द ने 'वन्दे मातरम्' के मनोहारी गीत में मातृभूमि की वन्दना करते हुए उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। यह मातृभूमि सु-जलाम है, सु-फलाम है, इसमें शीतल मलयज प्रवाहित होता है, शस्य

से श्यामलाम है और फुल्ल कुसुमित द्रुमदल-शोभिनीम-सुहासिनीम तथा सुमधुर भाषिणीम है, तभी तो करोड़ कण्ठों से कलकल कराल निनाद निकलता है। यह उस युग की राष्ट्रीय भावना का प्रतीक गीत है और द्विवेदी-युग के हिन्दी कवियों पर इसका यथेष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

द्विवेदी-युगीन काव्यधारा में व्यक्त राष्ट्रीय भावना की चौथी विशेषता उसका राजनीतिक चेतना का स्वर है। कांग्रेस के आन्दोलन से स्वदेशी की लहर दौड़ गई थी। स्वराज्य तथा 'होमरूल' से सम्बन्ध रखने वाली अनेक कविताएँ द्विवेदी युग में लिखी गईं। राजनीतिक चेतना की झलक मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही की कविताओं में देखने को मिलती है। इन कवियों ने अपनी कविताओं द्वारा स्वदेशी वस्तुओं को व्यवहार में लाने तथा भारत के स्वातन्त्र्य युद्ध के लिए तत्पर रहने की प्रेरणा दी थी। इन कवियों का लक्ष्य सर्वतोन्मुखी जाग्रति था। इसलिए जाग्रति और संगठन का सन्देश सुना रहे थे। इन कवियों ने नवयुवक विद्यार्थी-वर्ग में चेतना का संचार करके उन्हें उद्बुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया। श्रीधर पाठक एक कविता में विद्यार्थियों को सत्सेवा का व्रत धारण कर देश की उन्नति करने को प्रेरित करते हैं—

अहो छात्रवर-वृंद नव्य भारत-सुत प्यारे।
मातृगर्व - सर्वस्व मोदप्रद गोद - दुलारे।
सत्सेवा व्रत धार जगत् के हरो क्लेश तुम।
देश-प्रेम में करो प्रेम का अभिनिवेश तुम।

रामनरेश त्रिपाठी ने जनता में राजनीतिक चेतना फैलाने के लिये कुछ वर्णनात्मक काव्य लिखे, जिनमें 'मिलन', 'स्वप्न' तथा 'पथिक' मुख्य हैं। इस प्रकार द्विवेदी युग का काव्य कांग्रेस की राष्ट्रीयता को लेकर प्रवाहित हुआ है। इसीलिये इसमें एकता और आशापूर्ण उत्साह सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। देशवासी अब स्वतन्त्रता के लिये बड़े से बड़ा मूल्य देने को तैयार थे। कांग्रेस की 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' पुकार का तत्कालीन काव्य पर उचित ही प्रभाव पड़ा है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में द्विवेदी युग की कविता की राष्ट्रीय भावना का स्वरूप गुप्तजी के सम्बन्ध में कही गई इस उक्ति में

झलकता है "राष्ट्रीयता की जो तान भारतेन्दु जी ने छेड़ी थी उसका स्वर गुप्तजी में बहुत ऊँचा हो जाता है।"

(२) द्विवेदी युग की काव्यधारा की दूसरी मुख्य विशेषता उसकी मानवतावादी विचारधारा की है। डाक्टर रवीन्द्रसहाय वर्मा ने अपनी पुस्तक हिन्दी काव्य पर 'आंग्ल प्रभाव' में द्विवेदी युग की कविता में व्यक्त मानवतावाद के स्वरूप की शृंगारकालीन पृष्ठभूमि के आधार पर बड़ी मार्मिक व्यंजना की है। देखिये—"मानवता के प्रति रीतिकालीन हिन्दी कवियों का दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण था। उसके लिए समस्त पुरुष नायक थे और स्त्रियाँ नायिकाएँ। उस ह्रासोन्मुखी युग में मानव व्यक्तित्व के केवल इसी एक रूप की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी। रीतिकाल से पहले भक्तिकाल में भी मानव व्यक्तित्व की साहित्य क्षेत्र में पूर्णाभिव्यक्ति धार्मिक वातावरण के कारण न हो सकी थी। किन्तु द्विवेदी युग में प्रथम बार मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया और शृंगारिकता एवं धार्मिकता की संकीर्ण-कारा में दीर्घकाल से वन्दिनी मानवता को मुक्त करने का प्रयास किया गया। काव्य अब उच्चवर्गीय जीवनमात्र का प्रतिबिम्ब न होकर, निम्नवर्ग के जीवन का भी चित्रण करने लगा। निरन्तर शोषण के बीच जीवन-यापन करने वाले अशिक्षित कृषकों और श्रमिकों का जीवन अब हिन्दी कवियों का प्रिय विषय बन गया। इस प्रकार काव्य दुःख और दैन्य से त्रस्त मानवता के जीवन को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हो गया।" इस मानवतावादी विचारधारा के द्विवेदीयुगीन काव्य में तीन स्वरूप मिलते हैं—(१) समान भावना— इसके अन्तर्गत स्त्री पुरुष की समानता आती है। (२) पीड़ित और दुखियों के प्रति सहानुभूति और (३) मानवीय गुणों की सहज स्थापना द्वारा परम सत्य के स्वरूप की विवृत्ति।

जहाँ तक द्विवेदीयुगीन काव्यधारा में व्यक्त समानता की भावना का सम्बन्ध है इसका मूल कांग्रेस के मध्यवर्गीय आन्दोलन और उसके व्यापक स्वरूप में ढूँढ़ा जा सकता है। कांग्रेस का आन्दोलन समाज की पूर्ण व्याप्ति को आधार बना कर चलता है इसमें नारी का योग भी सहज ही प्राप्त हुआ। अब नारी पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाली वीरप्रसू के रूप में आती है। इस प्रकार शृङ्गारकालीन नायिका भेद के लक्षण-स्वरूप नारी जीवन की मान्यताएँ

बदलीं । स्त्री-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी भावनाओं का विकास नवयुग की चेतना के विकास के साथ ही हुआ था, अब समानता की भावना दृढ़ हो रही थी और इस समानता की चर्चा में ही नारी के प्रति पूत भावनाओं का सहज ही विकास हो रहा था। इस सम्बन्ध में प्राचीन रूढ़ियों में भी नवयुग-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। नारीत्व के प्रति उच्च भावना की अभिव्यक्ति करने वाले द्विवेदी युग के चार कवि प्रमुख हैं—श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त। श्रीधर पाठक ने स्त्री के प्रति अत्याचारों की ओर ध्यान आकृष्ट किया और प्रभु से उसमें सुधार करने की प्रार्थना की है—

प्रार्थना अब ईस सों सब करहु कर जुग जोर।
दीन बंधु सुदृष्टि कीजै बाल-विधवा-ओर।

श्रीधर पाठक महिला समाज में जागृति चाहते हैं। उनके प्राचीन महत् स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—

अहो पूज्य भारत-महिला-गण अहो आर्य कुल प्यारी।
अहो आर्यगृह लक्ष्मि सरस्वति आर्यलोग उजियारी।
आर्य जगत में पुनः जननि निज जीवन-ज्योति जगाओ।
आर्य-हृदय में पुनः आर्यता का शुचि स्रोत बहाओ।

यह तो हुआ द्विवेदी युग की प्रारम्भिक अवस्था की भावना का स्वरूप। उत्तरोत्तर नारी समाज का महत्व बढ़ता गया। रामनरेश त्रिपाठी के काव्य में नारीत्व के प्रति उच्च-भावना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। त्रिपाठी जी के 'स्वप्न' नामक खंडकाव्य की नायिका महान् भावनाओं से ओत-प्रोत है। वह अपने पति को कर्ममार्ग में स्थित हो जाने का उपदेश देती है—

सेवा है महिमा मनुष्य की न कि अति उच्च विचार द्रव्य बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही न कि उच्चस्थल।
मन की अमित तरंगों में तुम खोते हो इस जीवन का सुख।

नायिका के उद्बोधन से उसका प्रिय स्वदेश-प्रेम से विह्वल हो जाता है और अपनी अद्भुत वीरता द्वारा सब का नेता बनकर विजय प्राप्त करता है।

इसी प्रकार 'मिलन' काव्य की नायिका अपने पति की जीवन-सहचरी तथा राष्ट्र-सेविका है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य में भी नारी के महान् स्वरूप का उद्‌घाटन हुआ है। उन्होंने नारी के प्रति उच्च भावना के स्वरूप को सम्मुख रखकर ही नायिका के नवीन भेद किये हैं। उन्होंने 'रसकलश' में देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, जन्म-भूमि-प्रेमिका, लोक-सेविका, धर्म-प्रेमिका इत्यादि नायिकाओं के नवीन रूपों की उद्‌भावना की है जो नवयुगीन विचारधारा के अनुकूल ही हैं। प्रियप्रवास की राधा लोकसेविका नायिका है। वह अपने प्रिय से अलग होकर रोती नहीं रहती वरन् समाज की सेवा में ही अपने प्रेम की चरम परिणति देखती है। वह अपने प्रिय के सामीप्य का त्याग भी लोकहित के लिए कर सकती है—

प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।

इस प्रकार हरिऔध जी की वैदेही भी आधुनिक जाग्रत नारी का सुष्ट स्वरूप है। वह स्वयं बनवास के लिए उद्यत है।

नारीत्व के प्रति उच्च भावना को प्रमुख रूप में लेकर चलने वाले इस युग के प्रमुख एवं प्रतिनिध कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। उनकी कविताओं में नारी का बहुत महान् स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसके लिए उन्होंने मुख्य-रूप से कवियों द्वारा उपेक्षित नारी को ही अपने काव्य में चित्रित किया है। 'साकेत' की उर्मिला और कैकेयी, 'यशोधरा' की यशोधरा और 'द्वापर' की विधृता ऐसी ही नारी हैं। 'साकेत' महाकाव्य के मूल में उर्मिला और लक्ष्मण की वह मर्मस्पर्शी कथा अनुस्यूत है जिसको गोस्वामी तुलसीदास ने राम और सीता के महात्म्य के चकाचौंध में दबा दिया था। इसके साथ ही एक और विशेषता है। साकेन की उर्मिला और कैकेयी का स्वरूप पौराणिक नारियों का सा नहीं है। वरन् उन पर आधुनिक युग की छाप स्पष्ट द्रष्टव्य है। यहाँ तक कि उर्मिला स्वयं सैन्य संगठन कर लंका प्रस्थान करने के लिए तत्पर होती है। बिल्कुल स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाली नारी की छाप है। उसमें त्याग भी कम नहीं है, वह अपने घर रहना उचित समझती है, प्रिय के पथ में विघ्न नहीं बनना चाहती है—

कहा उर्मिला ने—हे मन ! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन ।

प्रेम के शुभ प्रभाव का उर्मिला के हृदय पर बड़ा व्यापक प्रभाव लक्षित होता है । वह वियोग के उन्माद में लक्ष्मण को अपने सम्मुख देखकर व्याकुल होकर कहने लगती है—

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ।
हम गिरे, अहो । तो गिरे, गिरे ।

'साकेत' की उर्मिला में आधुनिकता की झलक भी है। प्राचीन रूढ़ियों को त्याग दिया है । उर्मिला के हृदय का औदार्य देखते ही बनता है । सूरदास की गोपियाँ कृष्ण के वियोग में कहती हैं कि—

मधुबन तुम क्त रहत हरे ।
बिरह-वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े काहे न जरे ।

पर उर्मिला की विचारधारा भिन्न है, वह कहती है—

रह चिर दिन तू हरी भरी
बढ़ सुख से बढ़, सृष्टि सुन्दरी ।

प्रसंगवश जरा उर्मिला का उदात्त स्वरूप भी देख लीजिए—

ऊषा-सी आगई उर्मिला उसी ठौर तब ।
वीणांगुलि-सम सती उतरती-सी चढ़ आई,
तालपूर्ति-सी संग सखी भी खिचती आई ।
आ शत्रुघ्न-समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी ।
घटा-जाल-से बाल विलम्बित छूट पड़े थे,
आनन पर सौ अरुण, घटा में फूट पड़े थे ।
माथे का सिंदूर सजग अंगार-सदृश्य था,

उर्मिला के रूप में नारी की महान् मूर्त्ति के दर्शन होते हैं । यह उस युग की चेतना का ही प्रभाव है । 'मृदूनि कुसमादपि' नारी कितनी कठोर एवं वीर मूर्त्ति धारण कर सकती है यह देखने योग्य है । नारी का यह रूप शृङ्गारकाल में तिरोहित हो गया था । भारतेन्दु युग में नारी को पुनः नारी रूप में देखने

का प्रयत्न हो रहा था और द्विवेदी युग में नारीत्व के प्रति उच्च-भावनाओं की ठोस स्थापना हुई। गुप्तजी ने यशोधरा में भी नारी का, युग युग की तपस्विनी नारी का बड़ा उदात्त चित्र खींचा है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आंखों में पानी॥

गुप्तजी की यशोधरा में नारी का विश्व-कल्याणी रूप है। नारी पुरुष के मार्ग का विघ्न नहीं है वरन् वह उनकी साधना की पुजारिन है, वह पति को क्षात्रधर्म पालन हेतु रणाङ्गण में प्रस्तुत कर सकती है—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते ।

द्विवेदी-युगीन काव्यधारा में नारी भारतीय संस्कृति की मूर्त्ति है। इसलिए उसमें तपस्या, संयम, त्याग एवं आत्मोत्सर्ग की भावनायें कूट-कूट कर भरी हैं। वह तिल-तिल कर मिटना जानती है। यशोधरा के ये शब्द नारी जीवन की इसी साधना के द्योतक हैं—

इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी भारी।
आर्य पुत्र ले चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

फिर यदि वह पतिव्रता है तो कौन भय। इस श्रद्धा के सहारे वह अनेक संकट सह सकती है। गुप्तजी की यशोधरा की छोटी सी उक्ति में उसका आत्मसम्मान भी झलकता है—

मेरे ये निश्वास व्यर्थ यदि उनको खींच न लायें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युगीन कविता में नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं स्वस्थ रूप है। शृङ्गारकालीन ह्रास-युग का अवशेष समाप्त हो चुका है और नारी पुरुष की सहचरी एवं सहायिका बन गई है। वह शक्ति का अवतार है और अपने मानुषी रूप में ही महान् गुणों से परिपूर्ण है।

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा के मूल में जो मानवतावादी विचारधारा प्रवाहित

हो रही थी उसकी दूसरी विशेषता सत्य और न्याय के समर्थन की है। इस युग के कवि सामाजिक अत्याचार और धार्मिक असहिष्णुता की बड़ी आलोचना करते हैं। पीड़ित जनता के प्रति इनकी सहानुभूति अत्यन्त प्रबल है। इसीलिए गरीब किसान, विधवा, अछूत आदि का इन कवियों के काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसान की बात लीजिए। द्विवेदी युग में किसान की बड़ी लम्बी चर्चा मिलती है। कारण कांग्रेस-आंदोलन है, जो कृषक वर्ग को बड़ा महत्त्व देता है। मैथिलीशरण गुप्त की कविता में कृषक-वर्ग के जीवन के बड़े सुन्दर चित्र हैं, जैसे 'किसान' में।

शोषितों में नारी वर्ग का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए मानवतावादी विचारधारा के पोषक द्विवेदी-युग के कवियों का ध्यान नारी वर्ग की ओर आकर्षित हुआ है। इसीलिए द्विवेदी युग में नारी स्वातन्त्र्य, नारीशिक्षा, नारीमहात्म्य का पाठ सुनाई पड़ता है, साथ ही दहेज प्रथा के कारण जो कन्याओं का अपमान होता है उसकी ओर भी संकेत है।

यह सहानुभूति एवं समवेदना का चित्रण यथार्थवादी एवं इतिवृत्तात्मक ढङ्ग से ही अधिक हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त के काव्यों में (जैसे यशोधारा में नारी स्वरूप का) यह सहानुभूति अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं अनुभूतिपूर्ण हो गई है।

द्विवेदी युग में मानवतावादी विचारधारा का तीसरा स्वरूप मानवीय गुणों की सहज स्थापना द्वारा परम सत्य के स्वरूप की विवृति में मिलता है। द्विवेदी युग की राजनीति मानव-हितवादी-धर्म को आधार बनाकर चली थी, इसीलिए मानव सद्प्रवृत्तियों का विकास, मानवता की सेवा और उसकी आराधना का आदर्श सम्मुख रखकर चलना सहज एवं स्वाभाविक ही था। इस युग के कवियों ने मानव-सेवा में ही ईश्वर भक्ति की परिणति दिखाई। यहाँ भक्ति-मार्ग का पूर्व इतिहास भी स्मरणीय है। भक्तिकाल में ईश्वर-भक्ति के दो स्वरूप मिलते हैं—एक शास्त्र सम्मत रूढ़ियों एवं परम्पराओं को लेकर चलने वाला धर्म का रूप—जिसमें आचार, विचार, मर्यादा, मूर्तिपूजा, धार्मिक कट्टरता इत्यादि मुख्य आधार थे। दूसरा समाज सुधारकों का धर्म जो खण्डन-मण्डन

करके एक ऐसे व्यापक धर्म की स्थापना कर रहे थे जो सब जाति, वर्ग एवं वर्णों को आत्मसात करने की शक्ति रखता था—'जाति पाँति पूछे नहिं कोई हरिको भजै सो हरि का होई।' शृङ्गारकाल में धर्म का स्वरूप एक तो कृष्णभक्त कवियों की परम्परा का है, दूसरा धर्म का राजदरबारी रूप है। इसी युग में घनानन्द की विरह-व्यथा हृदय की गहरी अनुभूति को व्यक्त करती है, उसमें प्रेमी की कातरता ही अधिक मुखरित है। शृंगारकाल के अन्य कवि जैसे बिहारी, मतिराम, केशव इत्यादि धर्म को संकुचित रूप से ही चित्रित कर सके। उसमें मानव की महानता की अनुभूति नहीं है। भारतेन्दु जी के साथ ही धर्म के प्राचीन स्वरूप का नवीन मानवतावादी विचारधारा से संघर्ष होता है। इसके मूल में सामन्ती संस्कृति का ह्रास स्थित है। द्विवेदी युग में आकर तो मानव सेवा में ही ईश्वर सेवा का रूप व्यंजित हुआ। कवियों ने मानव सेवा द्वारा ईश्वर सेवा का स्वरूप हमारे सामने रखा और यहाँ तक हुआ कि रामावतार को मानव रूप में ही व्यक्त किया। मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत' में मानव रूप में चित्रित राम को ईश्वर भी मानते हैं; देखिये उनका प्रश्न—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?

इसीलिए गुप्तजी के 'साकेत' महाकाव्य में राम ईश्वरत्व का सन्देश देने नहीं आते, वरन् मानव को ईश्वरता प्राप्त कराने आये हैं—

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

'पंचवटी' नामक काव्य में लक्ष्मण मानव के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी कह सकता हूँ।

यह है उस युग की मानव सेवा की दृष्टि की मूल भावना। इस भावना का स्वरूप अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, सनेही, रामनरेश त्रिपाठी तथा रामचरित उपाध्याय की कविता में बड़ी सुन्दरता से

व्यक्त हुआ है। बंगला के महान् कवि टैगोर भी मानव-सेवा द्वारा ईश्वर सेवा का आदर्श लेकर चले थे और उनका प्रभाव द्विवेदी-युग के उक्त कवियों की कविताओं पर विशेष पड़ा था। कुछ उदाहरण—अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य में राधा के चरित के द्वारा मानव-सेवा में ईश्वर सेवा की अनुभूति कराई है। वियोगिनी राधा लोक-सेवा में ही प्रभु की भक्ति का उत्कृष्ट रूप मानती हैं और इस प्रकार वे मानवता ही में विश्वात्मा का रूप देखती हैं। जिस प्रकार 'साकेत' के राम मानव की सेवा हेतु अवतरित होते हैं उसी प्रकार हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' के कृष्ण लोक सेवा करते हुए दिखाए गए हैं। वे दीन, आर्त-जनों की सेवा करते हैं।

वस्तुतः द्विवेदी युग की परिस्थितियाँ ही इस भावना की मूल कारण हैं। राजनीतिक चेतना के कारण बड़ी सक्रियता प्रसरित हो रही थी, वीतरागात्मकता के प्रति विद्रोह की भावना पल्लवित हो रही थी और ठोस जीवन के निर्माण का प्रयत्न था। इसके लिए मानव-सेवा का आदर्श लेकर चलना स्वाभाविक ही था। यह बुद्धिवाद का युग था और अवतारवाद की स्थापना प्राचीन पौराणिक प्रणाली पर सम्भव नहीं थी। यही कारण है कि साकेत में राम सीता से कहते हैं—

> मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
> जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन शापित हैं।

यह उस युग की मानवतावादी विचारधारा थी। यह धर्म की भौतिक रूप में प्रतिष्ठा थी। उस युग के महान् दार्शनिक कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी ईश्वर की प्राप्ति का स्थल श्रमजीवी वर्ग बतलाया है। वह मन्दिर में आँख मूँदने पर नहीं दिखलाई देगा। दृष्टि खोलो और ईश्वर तुम्हारे सामने है। इसीलिए वे भक्त को मन्दिर में प्रार्थना के गीत गाने और माला के मनके फेरने के स्थान पर दीन श्रमिकों के बीच ईश्वर की खोज करने के लिए उत्साहित करते हैं।[1]

---

1 गीताञ्जलि, कविता ११; अनुवादक—काशीनाथ।

टैगोर की कविता में उस युग की विचारधारा स्पष्ट झलक रही है। पीड़ित एवं शोषित मानवता में ईश्वर के दर्शन करना उस युग का राजनीति से पोषित धर्म बना।

द्विवेदी युग की कविता की मानवतावादी विचारधारा का स्वरूप-विवेचन पर्याप्त हो चुका। यह नवयुग का नवदर्शन था जिसने मानव को मानव के रूप में स्थापित किया, और इसने स्वतन्त्रता की राजनीति को दृढ़ किया।

(३) द्विवेदी युगीन काव्य-धारा की तीसरी मुख्य प्रवृत्ति उसमें बुद्धिवाद की प्रमुखता है। नवीन वैज्ञानिक युग के अनुकूल ही इस विचारधारा का विकास हुआ। नवयुग के प्रारम्भ से ही विचार स्वातन्त्र्य का विकास हुआ। पाश्चात्य संस्कृति के संघर्षण एवं नवीन परिस्थितियों के परिवर्तन से भारतीय संस्कृति की परीक्षा वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से होने लगी। इस बुद्धिवादी विचारधारा का द्विवेदी युग में बड़ा व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। द्विवेदी युग की कविता में भी यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। सबसे अधिक क्रांति धार्मिक क्षेत्र में हुई। पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराओं को वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टि से परखा गया। काव्य में भक्ति के दो प्रमुख रूप रामभक्ति और कृष्णभक्ति के नाम से प्रचलित थे। इन दोनों प्रकार की भक्ति के अवलम्बन राम और कृष्ण के चरित्र का आधुनिक परिस्थितियों एवं मानवतावादी विचार-धारा के अनुकूल विवेचन हुआ। आज का मनुष्य प्राचीन रूढ़ियों एवं आस्थाओं के प्रति विद्रोह की भावना लेकर उत्पन्न हुआ है। उसका कारण है। वह यह कि प्राचीन मान्यताएँ विदेशी संस्कृति के प्रभाव से विकृत हो गई। उनका दार्शनिक आधार खो गया और इस प्रकार वह अनुभूति-रहित कथनी बन गई। यही हमारे प्राचीन वेद, शास्त्र इत्यादि के पतन का मूल कारण बना। नवीन वैज्ञानिक एवं पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति के आलोक में हमारी प्राचीन आध्यात्मिक एवं सूक्ष्म दार्शनिक मान्यताएँ बड़े विकृत रूप में व्यक्त हुईं। एक साहित्यिक कारण भी विचारणीय है। हिन्दू-पूजा पद्धति में प्रतीक उस परम शक्तिमान की छाया या संकेत-मात्र नहीं करते वरन् उस शक्ति के रूप को स्वयं धारण कर सकते हैं। जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन भी प्रतीकों के द्वारा ही होता है। कालांतर में कल्पित

रूप की एक भिन्न सत्ता हो गई और हम प्रतीक द्वारा प्रदर्शित तत्त्व का वास्तविक स्वरूप भूलकर उस प्रतीक के रूप को ही प्रधान मानने लगे। एक उदाहरण—गोपियों को श्रीमद्भागवत में एक ओर तो आत्मा का प्रतीक माना है दूसरे एक पौराणिक कथा का भौतिक एवं स्थूल रूप। कालान्तर में यह स्थूल रूप अपने आप में सत्य एवं सजीव माना जाने लगा और उसका सूक्ष्म एवं मुख्य साध्य आत्मा का स्वरूप निरूपण भूल गाया।

आधुनिक काल में पाश्चात्य शिक्षा के प्रादुर्भाव एवं विकास से हम अपनी प्राचीन संस्कृति के मूल में स्थित दार्शनिक आधार को भूलकर उसके स्थूल शरीर की आलोचना में प्रवृत्त हुए। यह थोथा विवाद मूल दार्शनिक आधार से बहुत दूर था। कुछ आधुनिक तत्त्व का भी समावेश हुआ और बुद्धिवाद का एक स्वरूप विकसित हुआ। इस काल के धार्मिक काव्य पर इसका प्रभाव अवतारवाद की भावना के विरुद्ध प्रतिफलित हुआ। द्विवेदी युग में राम और कृष्ण-चरित्र के गायक मुख्य दो कवि थे—मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय। इन दोनों के काव्यों में यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। बंगाल के माईकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाथ वध' महाकाव्य में भी बुद्धिवादी विचारधारा बड़े प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुई और 'मेघनाथ' काव्य का नायक बना। तर्क की कसौटी पर राम के चरित्र को कसा गया। राम में मानवीय दुर्बलताओं का दर्शन और रावण में मानवीय गुणों की योजना बुद्धिवाद की प्रबलता के कारण ही है। और सच तो यह है कि आज का प्राणी राम के शास्त्रानुमोदित स्वरूप को अपनी लघुता के कारण ठीक से पहचान नहीं सका। वह राम को दासरथी राम में संकुचित कर चुका था, साथ ही उस रूप के साथ वह घुल-मिल नहीं पा रहा था। राम वह व्यापक तत्त्व है जो वसुन्धरा में ही नहीं वरन् आकाश और पाताल के विस्तार के परे भी प्रसरित है। सबसे सहज उपाय रामायण के दासरथी राम, जो मानवीय अवतार में भी निष्कल निरञ्जन हैं, का पूर्ण मानवीय रूप प्रतिष्ठित करना था। पहले ईश्वर को मानव अवतार लेते दिखाया गया था, अब मानव में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा हुई। 'साकेत' महाकाव्य को आरम्भ करते समय उसके मूल में स्थित भावना को कवि इस प्रश्न में रखता है—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?

इस प्रकार नर में नारायणत्व की उद्भावना इस युग की बुद्धिवादिता का स्वरूप है। यह बुद्धिवाद राम के अवतार लेने का कारण प्राचीन शास्त्र विदित 'दुष्टानाम विनाशाय साधुनाम् रक्षणाय' नहीं मानता। राम का आगमन नर में नारायणत्व स्थापित करने के लिये है।

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।

× × ×

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

(४) द्विवेदी-युगीन काव्यधारा की चौथी प्रमुख प्रवृत्ति शृंगार को अश्लील मानकर छोड़ने की है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से इस युग की काव्यधारा नैतिकता के कठोर बन्धन में जकड़-सी गई है। भारतेन्दु युग में नवीन भावनाओं के समावेश के साथ ही प्राचीन शृंगार की धारा भी प्रवाहित हो रही थी किन्तु द्विवेदी-युग में रीतिकालीन शृंगाररस की धारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, यहाँ तक कि शृंगाररस-मात्र को अश्लील की संज्ञा दे दी गई। इस प्रतिक्रिया के कुछ अपवाद भी हैं, जिनका संकेत यथास्थान करेंगे। द्विवेदी-युग में शृंगार और प्रेम का जो डटकर विरोध हुआ, उसके स्वरूप का विवेचन करने के लिए एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। रामचरित उपाध्याय की एक कविता 'काम की करतून' में शृंगार का स्वरूप देखिये—

अंग-विहीन अनंग ! यदपि है तो भी तू है अद्भुत घोर,
सह सकता है कौन त्रिलोकी में वे तेरे तीखे तीर।
धन्यवाद है विधि को जिसने दिये तुझे फूलों के बाण,
यदि मिल जाता वज्र तुझे तो फिर कोई क्यों पाता त्राण?
रति के पति ! तू प्रेतों से भी बढ़कर है सन्देह नहीं,
जिसके सिर पर तू चढ़ता है उसको रुचता गेह नहीं।

मरघट उसको नन्दन-वन है, सुखद अँधेरी रात उसे।
कुश कण्टक हैं फूल-सेज से, उत्सव है बरसात उसे॥

इस वर्णन में कितनी नीरसता एवं संवेदनहीनता है, यह सहृदय पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति का भी अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार के नीरस एवं इतिवृत्तात्मक प्रेम और शृंगार के वर्णन इस युग में बहुतायत से मिलते हैं। 'साकेत में गुप्त जी ने शृंगार का वर्णन किया है, उसमें कुछ हास्य एवं सरसता है, फिर भी वह नैतिकता से मर्यादित है, उसमें शृंगारकालीन शृंगार की सरसता, विह्वलता एवं आवेग नहीं है, न उसमें नायक-नायिका-भेद इत्यादि का विस्तार से वर्णन ही मिलता है।

हरिऔधजी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'प्रियप्रवास' में शृंगार-बहिष्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट ही है। उनकी राधा शृङ्गारकालीन राधा की भाँति शृङ्गार की प्रतिमूर्त्ति नहीं है। वह पूर्णतः मानवी है और मानवीय दुःखों के प्रति संवेदना प्रकट करती है। वह धीरे-धीरे प्रेम, सेवा तथा त्याग के पथ पर अग्रसर हो रही है। वह कृष्ण के लोक-सेवा पथ का अनुसरण करने तथा व्यक्तिगत दुःखों से ऊपर उठ कर संसार के लिये आदर्श बन जाती है। वही राधा कृष्ण के नेत्रों में स्त्री जाति की रत्न है, विलास की सामग्री नहीं।

जो राधा वृष-भानु भूप तनया स्वर्गीय दिव्यांग।
शोभा है ब्रज प्रान्त की, अवनी की, स्त्री जाति की, वंश की।
होगी हा! वह भग्न मूर्ति अति ही मेरे वियोगाब्धि में।

इसी प्रकार सूर के सर्वगुण सम्पन्न शृङ्गारकाल में कामी, चोर, रसलम्पट, विषयी, पर-स्त्रीगामी, व्यभिचारी एवं त्याज्य बन गये हैं। हरिऔध जी ने ऐसे काम-लोलुप कृष्ण को महापुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्हें शृङ्गार-रसराज एवं नायक के रूप में चित्रित नहीं किया वरन् एक लोक-सेवक के रूप में प्रदर्शित किया है। कृष्ण शृङ्गार का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यहाँ आकर उनकी रासलीला भी समाप्त हो गई है, उसके स्थान पर कौमुदी महोत्सव का महात्म्य वर्णित है—

पुत्र-प्रिया सहित मंजुल राग गा गा,
ला-ला स्वरूप उनका जन-नेत्र आगे।
ले-ले अनेक उर-वेधक चारु तानें,
की श्यामल ने परम मुग्धकारी क्रियाएँ।

(५) द्विवेदी युग की कविता की पाँचवीं प्रमुख प्रवृत्ति उसकी इतिवृत्तात्मकता एवं गद्यात्मकता की है। द्विवेदीयुग में कविता की शैली सरल गद्य की शैली हो गई। कविता का उद्देश्य केवल उपयोगिता हो गया। इस युग के काव्य में उपयोगितावाद की झलक दिखाई पड़ती है। उपयोगितावाद का स्वरूप काव्य में इतिवृत्तात्मक वर्णनों में दिखाई पड़ता है। उसमें विशेष कल्पना प्राचुर्य एवं सरसता और माधुर्य नहीं है। देखिये ठाकुर गोपालशरणसिंह की विश्व-प्रेम एवं मानवता की सेवा में मुक्ति की झलक दर्शाने वाली दो पंक्तियाँ—

जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार।
विश्वप्रेम के बन्धन ही में मुझको मिला मुक्ति का द्वार॥

मातृभूमि की प्रशंसा वाले बहुत से पद कोरे वर्णन-प्रधान गद्य की कोटि की रचनाएँ हैं। द्विवेदी-युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता एवं गद्यात्मकता प्रसिद्ध है। कविगण 'सन्तोष', 'आशा', 'साहस' आदि विषयों पर कविता लिख-लिख कर लम्बे-चौड़े उपदेश देते हैं जो पद्य-निबन्ध बनकर रह जाते हैं। इन कविताओं में कवियों की भावना विश्लेषणात्मक तथा आलोचनात्मक है। इनमें हृदयतत्त्व अथवा कल्पनातत्त्व का अभाव है। इस इतिवृत्त शैली ने इस युग की कविता को नीरस बना दिया। यही कारण है कि द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में कुछ सुन्दर मुक्तक गीतों की रचना हुई। 'साकेत' महाकाव्य में गुप्त जी ने कुछ सुन्दर गीतों की योजना कर उसे सरस बनाया। देखिये—

वेदने ! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी॥

× × ×

मेरे चपल यौवन बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल॥

× × ×

लाला, लाला, सखि तूली।
आँखों में छवि भूली।।

× × ×

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।

× × ×

मेरी ही पृथ्वी का पानी,
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी।

× × ×

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है।

इस प्रकार अभिधेयात्मक द्विवेदी-युगीन कविता में धीरे-धीरे अनुभूति पक्ष का प्रवेश हो रहा था। उसमें इतनी बौद्धिकता आ गई कि यह बोझिल बन गई और इसीलिये इतिवृत्तात्मक कविता के प्रति धीरे-धीरे प्रतिक्रिया हुई। मुकुटधर पाण्डेय और लोचनप्रसाद पाण्डेय की कविताओं में हमें 'रहस्यात्मक खोज' एवं रहस्योन्मुख प्रेम के दर्शन होते हैं। सारी प्रकृति उस प्रिय की खोज में निमग्न है—

अन्धकार में दीप जलाकर किसकी खोज किया करते हो।
तुम खद्योत क्षुद्र हो तब फिर तुम क्यों ऐसा दम भरते हो।
तम में ये नक्षत्र आज तक घूम रहे हैं उसके कारण।
उसका पता कहाँ है किसको होगा यह रहस्य उद्घाटन।।

मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में भी रहस्योन्मुख भावना का संकेत है—

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं।।

(६) द्विवेदी-युगीन कविता की छठी विशेषता स्वतन्त्र प्रकृति का चित्रण है। इस युग की कविता में सच्चा प्रकृति प्रेम प्रतिफलित हुआ है। इससे पहले

परम्परायुक्त प्रकृति-चित्रण था जिसका उद्देश्य शृङ्गार-भावना को उद्दीप्त करना था। भारतेन्दु-युग में भी प्रकृति-चित्रण आलंकारिक ही अधिक है, उसमें सौन्दर्यानुभूति का अभाव है—जैसे भारतेन्दु की 'यमुना वर्णन' कविता। भारतेन्दु युग में ठाकुर जगमोहनसिंह की कविता में जन्मभूमि इत्यादि के सजीव चित्र भी प्रस्तुत हुए हैं। गाँव के निकट बहती 'अरपा' नदी का बड़ा सुन्दर वर्णन है। ठाकुर साहब का पहाड़ों का, दण्डकारण्य का वर्णन भी बड़ा सजीव है।[1] उसी युग के अन्तिम चरण के कवि बालमुकुन्द गुप्त को गाँवों की प्राकृतिक सुषमा के प्रति बड़ा प्रेम है। उनकी 'वसन्तोत्सव' कविता में प्रकृति का बड़ा सजीव चित्रण है। द्विवेदी-युग में कवियों को प्रकृति से सच्चा प्रेम है। श्रीधर पाठक प्रकृति-प्रेम में तन्मय होकर उसकी माधुरी का वर्णन करते हैं। काश्मीर का वर्णन देखिये—

> प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
> पल-पल पलटति भेष छनिक छवि छिन-छिन धारति।
> विहरति विविध विलास भरी जोबन में मद सनि।
> ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनठनि॥

यह तो प्रकृति का संवेदनात्मक वर्णन है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति-वर्णन बड़े चित्रात्मक हैं। शुक्लजी ने ग्राम सुषमा का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। वे ग्राम सौन्दर्य के पुजारी हैं—

> गया उसी देवल के पास से है ग्राम्य-पथ,
> श्वेत धारियों में कई घास को विभक्त कर।
> थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
> गोरज से धूमले जो खड़े हैं किनारे पर॥
> उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाये हुए,
> कंठ को उठाय चुपचाप हो रही हैं चर।
> जा रही हैं घाट ओर ग्राम वनिताएं कई
> लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर॥

---

१. श्यामा स्वप्न—ठा० जगमोहनसिंह

सत्यनारायण-कविरत्न ने अपने 'भ्रमरदूत' में प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमें बड़ी सरलता एवं कमनीयता है, तथा प्रकृति का आलम्बन-विभाव के रूप में चित्रण है—

अलबेली कहुँ बेलि द्रुमनि सों लिपटि सुहाई,
धोए-धोए पातन की अनुपम कमनाई।
चातक शुक कोयल ललित, बोलत मधुर लोल।
कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल॥
निरखि घन की घटा।

इस युग के महान् कवि हरिऔधजी का प्रकृति-चित्रण भी अपनी विशेषता रखता है। उन्होंने प्रकृति को पाँच रूपों में चित्रित किया है—आलम्बन रूप, उद्दीपन रूप, बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप, उपदेशात्मक रूप एवं आलंकारिक रूप। इन पाँच रूपों में आलम्बन एवं बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में उनके प्रकृति-चित्रण उत्कृष्ट हैं। प्रियप्रवास के प्रारम्भ में प्रकृति का आलम्बन विभाव-रूप मिलता है—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखर पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

रामनरेश त्रिपाठी प्रकृति के सच्चे पुजारी हैं। उनके खण्डकाव्यों में प्रकृति के सुन्दर चित्रण भरे पड़े हैं। 'पथिक' और 'स्वप्न' प्राकृतिक-सौन्दर्य-चित्रण के लिये प्रसिद्ध हैं। कथा का प्रवाह प्रकृति के चित्रों से प्रवाहित हो रहा है। 'स्वप्न' में वेगवती पहाड़ी सरिता का यह चित्र देखिये—

पर्वत शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर।
छोटे-बड़े चोकने अगणित शिला समूहों से टकराकर।
गिरता उठता फेन बहाता अति कोलाहल हर हर।
और वाहिनी की गति से बहता रहता निसवासर॥

सागर की उमड़ती लहरों का वर्णन 'पथिक' खण्डकाव्य में बड़ा संवेदनात्मक है—

रेणु स्वर्णकण-सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं।
बड़ी दूर से चलकर लहरें मौज भरी आती हैं।
चूमि चूमि निज देश-चरण यह नाच नाच गाती हैं।
यह शोभा यह हर्ष कहाँ आँखें जग में पाती हैं।

इस युग की प्रकृति में रहस्य के संकेत भी मिलते हैं। 'स्वप्न' में एक स्थान पर सायंकाल के वर्णन में कवि रहस्यात्मक संकेत का प्रदर्शन करता है—

जग को आँखों से ओझल कर बरबस मेरी दृष्टि उठाकर।
झिलमिल करते हुए गगन में तारों के पथ पर पहुँचाकर॥
करता है संकेत देखने को किसका सौन्दर्य मनोरम।
आकर के चुपचाप कहीं से यह संध्या का तम अति प्रियतम॥

किन्तु द्विवेदी युग में प्रकृति के इन उत्कृष्ट संवेदनात्मक एवं चित्रात्मक वर्णनों के अतिरिक्त परम्परायुक्त चित्र भी मिलते हैं जो उपदेश की प्रवृत्ति लिये होने के कारण अत्यन्त शुष्क एवं नीरस हैं और उनमें प्रकृति के सच्चे सौन्दर्य एवं मधुरिम साम्राज्य का अभाव है। इस प्रवृत्ति के दो उदाहरण यहाँ रखते हैं—

संध्या वर्णन

संध्या समीप रवि-रश्मि-निकर, स्थित शैल के शिखरों पर।
सुजनों को अस्त-समय भी नित, है निश्चय उच्च स्थान उचित॥

—मैथिलीशरण गुप्त

बसंत विकास

पल पल अंश घटे रजनी के बढ़े दिवस का मान।
यथा अविद्या सकुचे ज्यों-ज्यों त्यों-त्यों विकसे ज्ञान॥
द्रुम दलहीन हुए पुनि पाई हरयाली भरपूर।
देखो यों अवनति को उन्नति कर देती दूर॥

—नाथूरामशंकर 'शर्मा'

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग के प्रकृति-चित्रण की अपनी विशेषताएं हैं। उसमें परम्परायुक्त प्रकृति के सुन्दर चित्र प्रथम बार देखने को मिलते हैं। ये चित्रात्मक अधिक हैं और उनमें कवि अधिक रमे नहीं हैं। उन्होंने प्रकृति की अन्तरात्मा की झलक नहीं पाई है।

(७) द्विवेदी युग की कविता की सातवी विशेष प्रवृत्ति इसमें अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद की है। द्विवेदी युग में 'सरस्वती' में अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद छपा करते थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया, और अंग्रेजी की प्रसिद्ध कविताओं के अनुवाद हुए। श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का 'एकान्तवासी योगी', 'ट्रैवलर' का 'श्रान्त पथिक' तथा 'डेजर्टेड विलेज' का 'ऊजड़ ग्राम' में पद्यानुवाद किया। डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव' में द्विवेदी युग की इस प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है, वे लिखते हैं—"द्विवेदी युग के हिन्दी काव्य में अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद विशिष्ट स्थान रखते हैं। १९०३ से १९०८ के मध्यवर्ती काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास के लिए अथक परिश्रम किया था। ये अनुवाद अनुवरत रूप से 'सरस्वती' में प्रकाशित होते रहे। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण अनुवादों की सूची इस तथ्य को और भी पुष्ट करने में सहायक होगी—

मास और वर्ष	अंग्रेजी कविता	हिन्दी अनुवाद
जून १९०३	बायरन की Fare thee Well	'आशीर्वाद', गौरीदत्त वाजपेयी द्वारा।
फर्वरी १९०४	जेम्स टेलर की 'My Mother	'मेरी मैया', जैनेन्द्र किशोर द्वारा।
जून १९०४	बायरन की And art thou dead so young and fair	'तारुणी तू चल बसी अभी', गौरीदत्त वाजपेयी द्वारा।
अगस्त १९०४	लॉगफैलो की Psalm of life	'जीवन गीत' लक्ष्मीनारायण द्वारा।

फर्वरी १६०५	शेक्सपीयर की Friendship	'मित्रता', कालीशंकर व्यास द्वारा।
जुलाई १६०५	सदे की Sleep	'निद्रा', सनातन शर्मा द्वारा
फर्वरी १६०६	Peace at Home	'घर में शान्ति' रामरण विजयसिंह द्वारा।
अप्रैल १६०६	The cuckoo	'कोयल' जीतनसिंह द्वारा
जुलाई १६०६	अर्नेस्ट जोन्स की The Poet and liberty	'कवि और स्वतन्त्रता' महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा।
मार्च १६०८	ग्रे की Elegy	कामताप्रसाद गुरू द्वारा 'ग्रामीण गीत'[१]

इसी प्रकार कुछ अन्य अङ्गरेजी कविताओं का हिन्दी में पद्यानुवाद हुआ। जैसे बायरन की Woman पोप की Happyness of Retirement कुछ अंग्रेजी कवियों की कविताओं का छायानुवाद भी किया गया। इनमें पोप, टेनीसन तथा लावेल मुख्य हैं।

द्विवेदी-युग के काव्य में अन्य भारतीय भाषाओं के काव्य का अनुवाद भी उल्लेखनीय है। बंगला तथा मराठी दो भारतीय भाषाएँ उल्लेखनीय हैं। बंगला से काव्य सामग्री ली गई तो मराठी से शैली। मैथिलीशरण गुप्त ने माईकेल मधुसूदनदत्त के दो काव्यों का—'मेघनाथ वध' और 'वीरांगना' तथा नवीनचन्द्रसेन के 'पलासीर युद्ध' का बड़ा सरस अनुवाद प्रस्तुत किया। इस युग के कुछ कवियों जैसे सियारामशरण गुप्त, मुकुटधर पांडे इत्यादि पर टैगोर की 'गीताञ्जलि' तथा अन्य रहस्यात्मक कविताओं का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

(८) द्विवेदी युग की कविता की आठवीं विशेषता नवीन एवं साधारण विषयों को अपनाना है। शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में

१—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव पृ० ६०, ६१

लिखा है "बात यह थी कि खड़ीबोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिए कुछ नई-नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रह कर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी, पर गहराई के साथ नहीं। त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए जिनके बीच-बीच में जन्म भूमि-प्रेम, स्वजातीय गौरव, आत्मसम्मान की व्यंजना करने वाले जोशीले भाषण रखे गए। उदाहरण के लिए 'पराधीन प्रकृति' कविता में कामताप्रसाद गुरु ने मैना की स्वतन्त्रता की साधारण घटना में अंग्रेजों के खुशामदी भारतीयों पर व्यंगोक्ति की है—

> पराधीनता में रहकर यह, अपना सब कुछ भूल गई ;
> भाषा, भोजन, भेष, भाव, भावी—सब बातें हुईं नई।
> अपनी जन्मभूमि का भी अब इनको कोई ध्यान नहीं।
> वन के जो प्यारे साथी हैं उनकी भी पहचान नहीं ॥[1]

मैथिलीशरण गुप्त ने 'विकट भट', 'तिलोत्तमा', 'वक संहार', 'सैरन्ध्री', 'द्वापर', 'रंग में भंग', 'किसान', 'विश्व वेदना', 'अर्जन और विसर्जन', 'काबा और कर्बला' इत्यादि में इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है। कामता प्रसाद गुरु की 'दुर्गावती' (सरस्वती, फरवरी १९१५) कविता भी इस प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। रामचरित उपाध्याय की 'देव सभा', 'देवदूत' इत्यादि कविताएँ भी इसी कोटि की हैं।

यहीं पर कवियों के नवीन एवं सामाजिक विषयों की ओर झुकाव का संकेत करना भी उचित है। उदाहरण के लिए गोपालशरणसिंह की 'उलहना' (सरस्वती जनवरी १९१४), बद्रीनाथ भट्ट की 'मौत का डङ्का' (सरस्वती, फरवरी १९१५), 'समय का फेर' (सरस्वती, मार्च १९१५), गोपालशरण सिंह की 'हृदय की वेदना', ज्योतिषचन्द्र की 'रे मन' (सरस्वती, अप्रैल १९१५), रामचरित उपाध्याय की 'विधि विडम्बना' (सरस्वती, मई १९१५)

१—सरस्वती दिसम्बर १९१८

मैथिलीशरण गुप्त की 'सम्बन्ध' (सरस्वती, जून १९१५), अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'भोर का उठना' इत्यादि।

(९) द्विवेदी युग की कविता की नवीं प्रमुख प्रवृत्ति भाषा का परिवर्त्तन है। अब खड़ीबोली काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। प्रारम्भ में तो यह भाषा बड़ी अव्यवस्थित रही किन्तु महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयत्न से इसकी पदावली का परिष्कार हुआ। इन्होंने सरस्वती में प्रकाशित होने वाली कविताओं की पदावली में अपने मन से ही बहुत से सुधार किये और कवियों को भी त्रुटियों की ओर से सचेत किया। उन्होंने मार्ग-प्रदर्शन के लिए स्वयं खड़ी बोली की रचनाएँ भी कीं, जिनका अनुकरण उस युग के कवियों ने किया। द्विवेदी जी ने भाषा तथा व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियों को ही दूर नहीं किया वरन् उसको सामर्थ्यवान बनाने का भी प्रयत्न किया। द्विवेदी जी का दूसरा प्रभाव कविता में संस्कृत पदावली का प्रसार करना है। अयोध्यासिंह उपाध्यायजी ने तो 'रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय:कलिका राकेंदु बिम्बानना' में बिलकुल संस्कृत का रूप उतार दिया। द्विवेदी जी ने गद्य और पद्य का पद-विन्यास भी एक सा करने का आदर्श रखा।

सुरम्य रूपे - रसराशि रंजिते,
विचित्र-वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?

इसका परिणाम यह हुआ कि द्विवेदी जी की भाषा बहुत गद्यमय हो गई। किन्तु इसके साथ ही उपाध्यायजी का बोलचाल या ठेठ हिन्दुस्तानी का रूप भी चल रहा था—

रख सका जो दूसरों का मन नहीं।
तो रहेगा मान कैसे मन रखे ॥
हित-भरी तरकीब बतलाई बहुत।
बेहतरी की बात बहुतेरी कही ॥

इसके साथ ही उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' की सरस पदावली में द्विवेदी समुदाय की संस्कृतगर्भित शैली की कर्कशता का भी अभाव है—

प्रवीण प्यारी अयि कुंज कोकिला ।
मुझे बता तू किस कूक क्या उठी ॥
विलोक मेरी चित-भ्रान्ति क्या बनी ।
विषादिता संकुचिता निपीड़िता ॥

यह तो थोड़ी सी खड़ी बोली की चर्चा हुई । द्विवेदी युग में ब्रजभाषा का भी काव्य-रचना में प्रयोग हुआ । भगवानदीन की इस कविता में देखिये—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब ।
बाढ़ो चित्त करुना की अजब उमंग है ॥

जगन्नाथदास रत्नाकर जितने भारतेन्दुयुग से सम्बन्धित हैं उतने ही द्विवेदी युग का ऐश्वर्य बढ़ाने वाले । उनके 'उद्धव शतक' में ब्रजभाषा का बड़ा उत्कृष्ट रूप मिलता है। स्थानाभाव से हम उसका विवेचन यहाँ नहीं करेंगे ।

(१०) द्विवेदी युग की कविता की छन्द की चर्चा भी आवश्यक है । द्विवेदी जी कविता में तुकबन्दी के विरोधी थे । वे छन्द के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी थे । उन्होंने कवियों को विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया । उन्होंने अतुकांत छन्द को भी महत्त्व दिया । संस्कृत वृत्तों का प्रयोग भी बहुतायत से हुआ और संस्कृत वृत्त के प्रयोगों ने अतुकांत या अनुप्रास को हटा दिया । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—"इस प्रकार (अतुकांत छन्द) जब संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला में विद्यमान् हैं तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषा में वे न लिखे जावें । अनुप्रास युक्त पद्यान्त सुनते-सुनते हमारे कान इस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गये हैं । इसलिए अनुप्रासहीन रचना अच्छी नहीं लगती, बिना तुक वाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह अच्छी लगने लगेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं ।"[1] संस्कृत अतुकांत छन्दों की माधुरी अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय प्रवास' में है । देखिये—

---

१ रसज्ञ-रंजन, पृ० ४

कथन को अब न कछु शेष है
विनय यों करता दीन अब।

—इत्यादि

इसी युग में 'लावनी' तथा उर्दू के छन्दों का प्रयोग करने वाले प्रमुख कवि 'श्रीधर पाठक' हैं। ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों का भी खड़ी बोली में प्रयोग हुआ। इसमें सवैया खड़ीबोली में बहुत उपयुक्त सिद्ध हुआ। मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गोपालशरण सिंह, नाथूराम शंकर 'प्रेमी' ने हिन्दी छन्दों का प्रयोग सफलता-पूर्वक किया। मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, सियारामशरण गुप्त इत्यादि ने कुछ नवीन छन्दों की उद्‌भावना भी की। इस प्रकार द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों में भगवानदीन तथा श्रीधर पाठक उर्दू के छन्द, अयोध्यासिंह उपाध्याय संस्कृत वृत्त, मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी छन्द और श्रीधर पाठक, सियारामशरण गुप्त कुछ नये वृत्तों के सफलता-पूर्वक प्रयोग के लिए प्रसिद्ध हैं। इस युग की ब्रजभाषा में रचित कविता में कवित्त, सवैया, लावनी इत्यादि का बहुतायत से प्रयोग हुआ। खड़ीबोली के काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित होते ही इसके उपयुक्त छन्दों की समस्या उठ खड़ी हुई, जिसका समाधान अतुकान्त छन्द में मिला; क्योंकि तुकान्त सुनते-सुनते लोग घबड़ा गये थे और नवीन एवं मनोभिलषित अर्थ को व्यक्त करने के लिये अतुकान्त का सहारा लेना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ।

हम देखते हैं कि उपर्युक्त प्रमुख प्रवृत्तियों के विवेचन से द्विवेदी-युग की हिन्दी कविता की वस्तुस्थिति स्पष्ट हो चुकी। हमने द्विवेदी-युग की कविता की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए सरस्वती में प्रकाशित सन् १९१८ की कविताओं का भी सहारा लिया है। इसका कारण यही है कि यद्यपि सन् १९१६ तक ही द्विवेदी युग का विस्तार है तथापि सन् १९१८ तक द्विवेदी युग की प्रवृत्तियों का प्रसार लक्षित होता है। हमने जगन्नाथदास रत्नाकर को द्विवेदी युग की विभूति माना है। रत्नाकर जी भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग तीनों कालों को देख चुके थे, इसलिए तीनों कालों में उनका

विवेचन उपयुक्त है। एक बात और निवेदन करनी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शङ्कर, सनेही जी, रामनरेश त्रिपाठी, भगवानदीन, रूपनारायण पाण्डेय, सत्यनारायण कविरत्न इत्यादि कवियों को द्विवेदी मण्डल के बाहर की काव्य-भूमि में रखा है, हमने इनकी कविताओं के उद्धरण द्विवेदी युग की मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन करने के लिए दिये हैं। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि ये सब उस युग की विभूति हैं। यद्यपि इन पर आचार्य द्विवेदी जी का विशेष प्रभाव नहीं है तथापि उस युग की कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन करने में इनकी रचनाओं का आश्रय अनिवार्य है। अब हम छायावाद युग में हिन्दी कविता के विकास का अध्ययन करेंगे।

छायावाद युग

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिककाल का तृतीय उत्थान छायावाद-युग के नाम से जाना जाता है। द्विवेदी-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का रूप-रंग परिवर्तित हुआ और उसके बाद जिन प्रमुख प्रवृत्तियों को प्राधान्य मिला वे छायावाद-युग की थीं। इन प्रमुख प्रवृत्तियों के विकास का संक्षिप्त अध्ययन हम उस युग की विविध परिस्थितियों के बीच कर चुके हैं। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता, स्थूल दृष्टि एवं साहित्यिक मान रूढ़िग्रस्त हो गये और नवीन सूक्ष्म सौन्दर्यशाली दृष्टि का विकास हुआ। इसी विशेषता को लक्ष्य करके कुछ आलोचकों ने छायावाद की परिभाषा करने का भी प्रयत्न

किया है। किन्तु इतना ही नहीं छायावाद के प्रादुर्भाव में द्विवेदी-युग का जितना योग प्रतीत होता है उससे कहीं अधिक साहित्य की अखण्डधारा का विकास है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिककाल के पंचम उत्थान तक एक धारा प्रवाहित हो रही है जो साहित्य की संजीवन-धारा है। इसीलिए छायावाद में शृंगारकाल की कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों का आधुनिक रूप है जैसे सौन्दर्य और प्रेम। यों तो सौन्दर्य साहित्य के मूल में सदैव से ही रहा है क्योंकि सौन्दर्य निरीक्षण से मनुष्य के हृदय को उस परम-प्रेममय का रूप उद्भासित होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति मनुष्य की चेतना की वह उठान है जिसमें वह उस परम सत्य को सर्वश्रेष्ठ रूप में देखना चाहता है। यही सौन्दर्यवादी दृष्टि छायावादी साहित्य में प्रधान एवं अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रकट हुई। इसीलिए महाकवि जयशंकरप्रसाद ने छायावाद को सौन्दर्यवाद का पर्याय माना है।

किन्तु सौन्दर्य-बोध में एक दार्शनिक दृष्टिकोण भी रहता है। यह जानना कवि का काम है कि कौन सी वह दार्शनिक दृष्टि है जिससे किसी युग में सौंदर्य-बोध जागा करता है। जैसे यदि प्रगतिवादी युग को लें तो उसमें सौन्दर्य-बोध का दार्शनिक दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवाद है। इसी प्रकार छायावाद के प्रवर्त्तक कविवर जयशंकरप्रसाद के साहित्य में इस प्रवृत्ति का आविर्भाव आनन्द-वाद की भूमिका पर हुआ है। यद्यपि आनन्दवाद का मूल शैवागम के आनन्द-वाद में ही है किन्तु वह उसका अनुकरण-मात्र न होकर बीसवीं शताब्दी के अनुकूल उसका निखरा हुआ रूप है। अस्तु, हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग के बाद जो सौन्दर्यवाद का बोध हुआ उसके मूल में दार्शनिक दृष्टिकोण दो प्रकार के हैं, एक तो पाश्चात्य और दूसरा भारतीय। पाश्चात्य दृष्टिकोण रोमांटिसिज्म के आधार पर निर्मित हुआ है और भारतीय आनन्दवाद इत्यादि के आधार पर। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतीय छायावाद सौन्दर्य की वह शाश्वत प्रवृत्ति है जो बीसवीं शताब्दी में प्रकट हुई है।

यों तो छायावाद की आलोचकों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं किन्तु स्थूल रूप में इन आलोचकों को दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—एक तो वे आलोचक जो स्वयं छायावादी कवि थे और अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने

में उन्होंने 'छायावाद' की व्याख्या की, और दूसरी कोटि में अन्य सभी प्रकार के—छायावादी, प्रभावाभिव्यंजक, प्रगतिवादी इत्यादि—आलोचक आते हैं। यहाँ हम इन दो श्रेणियों के विभिन्न प्रमुख आलोचकों की परिभाषाओं का संक्षिप्त विवेचन करेंगे। पहले कवि आलोचकों को लीजिए।

जयशंकरप्रसाद—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।" इसके बाद प्रसाद जी शृंगारकालीन परिस्थितियों में साहित्य की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए नवीन विचारों की अभिव्यक्ति की चर्चा करते हैं "नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्यस्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिये नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिये प्रयुक्त होने लगी।.... अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसे ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, और छाया कान्ति का सृजन करती है।........ कभी-कभी स्वानुभाव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—'वे आँखें कुछ कहती हैं।' आगे प्रसाद जी इस छाया की संस्कृत-साहित्य की परम्परा की चर्चा करते हैं—"इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्त्व था।" निष्कर्ष रूप में प्रसाद जी का मत है कि यह छायावाद प्राचीन साहित्य में अपना स्थान बना चुका है। अपने छायावाद के विवेचन का अन्त करते हुए प्रसाद जी कहते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य प्रकृति विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की

विवृति छायावाद की विशेषताऐं हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भावसमर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमयी होती है।"

विवेचन कुछ लम्बा हो गया है किन्तु प्रसाद जी छायावाद के प्रवर्तक कवि हैं और छायावाद को भारतीय साहित्य परम्परा का विकास मानते हैं अतः उनका मत विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद जी के अनुसार छायावाद सौन्दर्य की वह शाश्वत प्रवृत्ति है जो प्रथम महायुद्ध के बाद युगानुरूप भाषा, शैली एवं पदावली में अभिव्यक्त हुई है। इस प्रवृत्ति के उन्होंने तीन प्रमुख लक्षण माने हैं—

(१) विचारों के मूल में कोई विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त।

(२) कल्पना प्रवणता।

(३) प्राचीन समर्थ प्रतीकों का पुनर्जागरण एवं निर्माण।

इन तीन प्रमुख विशेषताओं के अतिरिक्त छायावाद की चार विशेषताऐं और हैं—

(१) छायावाद में स्वानुभूति की विवृत्ति रहती है।

(२) छायावाद में प्रकृति सुन्दरी का स्वतन्त्र एवं सजीव चित्रण मिलता है।

(३) छायावाद की शैली में ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता एवं उपचार-वक्रता है।

(४) छायावाद में युगानुरूप वेदना की प्रवृत्ति पाई जाती है।

सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही करुणा की अनुभूति भी हुई। इसका एक कारण तो नवीन समाज में बहुरंगी आकांक्षाऐं एवं अभिलाषाओं की असफलता है। राजनीतिक परतन्त्रता तथा सामाजिक दुरावस्था की परिस्थितियों से पीड़ित समाज में छायावादी कवि की उस आदर्शवादी धारणा को धक्का लगता था जिसके द्वारा वह अपने चारों ओर सौन्दर्य के एक संसार की सृष्टि करना चाहता था। इससे उसने यह अनुभव किया कि सौन्दर्य क्षणभंगुर और नाशवान है और इस धारणा के आधार पर उसके काव्य में वेदना की भावना

आई। छायावादी वेदना का आधार अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम का असामंजस्य, कामनाओं की विफलता, सौन्दर्य की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सम्वेदनशीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विकलता है।

पन्तजी—छायावाद को पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म प्रभावित मानते हैं। इसीलिए पन्त जी के काव्य का आदर्श अङ्गरेजी रोमांटिक प्रतिवर्त्तन के काव्यादर्श के अनुरूप था, इसीलिए उनमें वेदानुभूति 'रोमांटिक शोक' के रूप में आई है। उनमें वर्डस्वर्थ की सी प्राकृतिक सुन्दरता के साथ प्राकृतिक करुणा और निराशा की भी झलक है। इस प्रकार प्रसाद जी छायावाद को पूर्णतया भारतीय परम्परा में मानते हैं तो पन्त जी पाश्चात्य रोमांटिसिज्म की परम्परा में। पन्तजी ने अपने मत को 'पल्लव' की भूमिका में रखा है।

महादेवी—छायावाद के सम्बन्ध में तीसरा प्रसिद्ध मत महादेवी वर्मा का है। वे छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद को मानती हैं और प्रकृति को उसका साधन मानती हैं—छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्बप्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुःख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घर, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिन्दुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है।" महादेवी जी ने छायावाद का विवेचन करते हुए प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध का प्रतिपादन विशेष तौर पर किया है। इसके साथ ही उन्होंने सूक्ष्म या अन्तर की सौन्दर्य-वृत्ति के उद्घाटन पर भी जोर दिया है—"मनुष्य को वाह्य सौन्दर्य की ओर से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अपने अविच्छिन्न सम्बन्ध की स्मृति दिलाने का श्रेय भी छायावाद को ही है। स्मृति दिलाई, इसीलिए कहती हूँ कि यह सम्बन्ध शाश्वत है, केवल हम लोग उसे भूल से गए थे। हममें से प्रायः सभी बचपन में तितलियों के साथ दौड़े हैं, चिड़ियों के साथ गाते रहे हैं, कोई फूल खिला देखकर ऐसे प्रसन्न होते रहे हैं मानो वह हमारे हृदय में ही फूला हो। परन्तु बड़े होने

पर हमारा जीवन ऐसे कृत्रिम बन्धनों में जकड़ जाता है कि उस ओर ध्यान देने की न तो इच्छा होती है न अवकाश मिलता है। वास्तव में प्रकृति में सान्त्वना और आनन्द देने की अपूर्व शक्ति होती है। तारों से जड़ी चाँदनी-रात रोगी को नर्स से अधिक सुख दे सकती है, यदि वह उसकी भाषा समझने में समर्थ हो।"

इस प्रकार महादेवी जी के अनुसार छायावाद की कविता हमारा प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कराके हमारे हृदय में व्यापक भावानुभूति उत्पन्न करती है और हम समस्त विश्व के उपकरणों—जड़ चेतना पदार्थों—से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और उस समय की परिपूर्णता एवं बेसुधपन में जो रचना होती है वह छायावाद के ही प्राण से अनुप्राणित है। इससे आगे महादेवी जी ने रहस्यवाद काव्य का दूसरा सोपान माना है—"परन्तु इस सम्बन्ध से मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता है। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया। रहस्यवाद, नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं।"

महादेवी जी ने छायावाद को स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न एवं सूक्ष्मगत सौन्दर्य के प्रति जागरूक बताया है—"छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। ''''''छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिये कठिन हो गया।"

इस प्रकार महादेवी जी के मत में छायावाद की छः मुख्य विशेषताएँ हैं—

१—व्यक्तिगत अनुभव में प्राण संचार अर्थात् कवि व्यक्ति रूप में जो अनुभव करता है वह उसकी स्वच्छन्द अनुभूति होती है।

२—प्रकृति के अनेक रूप में एक महाप्राण का अनुभव अर्थात् सर्वात्मवाद।

३—ससीम और असीम का ऐसा सम्बन्ध जिसमें एक प्रकार के अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप हो। यही दूसरे शब्दों में असीम के प्रति अनुरागजन्य आत्म-विसर्जन का भाव या रहस्यवाद है।

४—स्थूल की प्रतिक्रिया एवं सूक्ष्म सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूकता है।

५—इसमें युगानुरूप वेदना की विवृति है पलायनवाद नहीं।

६—इन भावनाओं की अभिव्यक्ति युगानुरूप प्रतीकों (मुख्यतः प्रकृति से लिये हुए) द्वारा गीतात्मक पद्धति में ही अच्छी प्रकार हो सकती है।

छायावादी कवियों में कुछ कवि छायावाद में रहस्यवाद की प्रवृत्ति को प्रमुख मानकर उसमें अस्पष्टता की विशेषता निरूपित करते हैं। मुकुटधर पांडेय ऐसे ही छायावादी कवि हैं। वे लिखते हैं—"मानव स्वभाव की सृष्टि कुछ इस ढंग से हुई है कि वह भौतिक वस्तुओं का बहिरंग विवरण प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता, बल्कि उस पर उनके सौन्दर्य का एक विशेष प्रभाव पड़ता है और वह उसका गूढ़ रहस्य जानने के लिए व्याकुल हो उठता है। इस पिपासा की निवृत्ति वैज्ञानिक परीक्षाओं से नहीं होने की। वस्तुगत सौन्दर्य और उसके अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणायें ही कविता की जड़ हैं। यही कविता से 'अव्यक्त' का सर्वप्रथम सम्मिलन होता है जो कभी विच्छिन्न नहीं होता। इस रहस्यपूर्ण सौन्दर्य-वर्ण में हमारे हृदय-सागर में जो भाव-तरंगें उठती हैं वे प्रायः कल्पना रूपी वायु के वेग से ही ज्ञात होती हैं, क्योंकि यथार्थ की साहाय्य प्राप्ति इस समय उन्हें असम्भव हो उठती है। यही कारण है कि कवितागत भाव प्रायः अस्पष्टता के लिए होते हैं। उसी अस्पष्टता का दूसरा नाम छायावाद है।"

इस प्रकार पांडेयजी के अनुसार छायावाद का मुख्य विषय रहस्यवाद की अनुभूति की अभिव्यंजना है। और यह अभिव्यंजना सीधी-सादी भाषा में नहीं हो सकती इसलिए कवि बड़ी कल्पना-प्रवणता से लाक्षणिक पदावली में इसकी अभिव्यक्ति करता है। प्रतीकों से अभिव्यक्ति में एक अस्पष्टता आ जाती है, यही

अस्पष्टता छायावाद की पर्याय है। संक्षेप में उन्होंने अभिव्यक्ति के विशेष ढंग को ही छायावाद माना है जिसकी मुख्य विषयवस्तु रहस्यमयी भावनायें या अव्यक्त के साथ रागात्मक सम्बन्धों का निरूपण है।

छायावादी कवियों के दृष्टिकोण से हम परिचित हो चुके। अब हम हिन्दी साहित्य के कुछ प्रमुख सुधी आलोचकों के मतों का विवेचन करेंगे।

रामचन्द्र शुक्ल—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम का अनेक प्रकार से व्यंजन करता है। रहस्यवाद के अन्तर्भूत रचनायें पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को योरोप में छाया (Phantasmata) कहते हैं। इसी से बंगला में ब्रह्म-समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।" शुक्लजी छायावाद शब्दों का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में मानते हैं। यह प्रतीक शैली रहस्यवाद के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी व्यवहृत हुई। शुक्लजी हिन्दी में छायावाद शब्द के अन्तर्गत रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं को (जिनमें प्रतीक शैली व्यवहृत होती थी) भी ले लेते हैं। इस प्रकार उनके शब्दों में "छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।"

शुक्लजी के मत का निष्कर्ष इस प्रकार है—

१—'छायावाद' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत है। एक रहस्यवाद के अर्थ में, दूसरा प्रतीक शैली के अर्थ में।

२—यों तो प्रतीक शैली में केवल रहस्यवादी भावनाओं की ही अभिव्यक्ति होती रही है किन्तु हिन्दी साहित्य में प्रतीक शैली में अन्य विषयों की अभिव्यक्ति भी हुई, जो सब की सब छायावाद है। इस प्रकार छायावाद एक शैली विशेष है जिसमें प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का प्रयोग मिलता है।

३—प्रथम अर्थ में केवल महादेवी छायावादी हैं।

४—दूसरे अर्थ में अर्थात् प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि कवि ठहरते हैं।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—"मानस अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए। इस व्याख्या में आए 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थ-गम्भीर शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे।" वाजपेयी जी ने छायावादी आध्यात्मिकता को प्राचीन सन्तों एवं भक्तों की आध्यात्मिकता से इस अर्थ में भिन्न माना है कि छायावाद में इसकी मुख्य प्रेरणा मानवीय और सांस्कृतिक है, सन्त एवं भक्तों में धार्मिक। उनके शब्दों में "नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।" और इस प्रकार छायावादी आध्यात्मवाद में धार्मिक आध्यात्मवाद की सी रूढ़ियों का बन्धन नहीं है। इसके भावना-क्षेत्र की विशेषता इसकी स्वच्छन्दता है। इसने नवीन मानवीय जीवन में आत्म-सौन्दर्य की झलक देखी और इसलिए यह आधुनिक युग की स्वतन्त्र चिन्तनधारा है।"

वाजपेयीजी के अनुसार छायावाद में—

१—सांस्कृतिक पुनुरुत्थान एवं मानवीय सौन्दर्य दर्शन है।

२—इसमें आधुनिक युगानुकूल आध्यात्मिकता की भावना है।

३—इसमें मानव प्रकृति मुख्य विषय हैं किन्तु इनका सूक्ष्म-सौन्दर्य-दर्शन ही प्रमुख है।

४—सूक्ष्म को लेकर चलने के कारण इसमें गीति-तत्त्व का प्राधान्य हो गया और इसकी शैली मूलतः मुक्तक ही है। कथा या आख्यायिका को लेकर चलने वाली प्रबन्ध शैली का इसमें इसी सूक्ष्म दर्शन के कारण अभाव है।

आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—आचार्य द्विवेदी जी शुक्लजी के मत का खण्डन करते हैं और छायावाद शब्द का बंगला में प्रचलन एवं वहीं से हिन्दी साहित्य में ग्रहण होना भ्रामक मानते हैं। उनके अनुसार छायावाद शब्द इस कोटि में आने वाली रचनाओं की प्रकृति को प्रकट करने में एकदम असमर्थ है। इसीलिए इसका इतना उपहास किया गया और बाद में भी इसे दो अर्थों में ग्रहण किया गया—'या तो चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति के रूप में या फिर रहस्यवाद के अर्थ में।' द्विवेदी जी ने छायावाद को इस प्रकार समझाया है—

"(१) छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिये बिना विचारे ही दे दिया गया था (क) जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी, (ख) जो वक्तव्य विषय को कवि की व्यक्तिगत चिन्ता और अनुभूति के रंग में रँग कर अभिव्यक्त करती थीं, (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों को अङ्गीकार करने की प्रवृत्ति थी, (घ) जिनमें छन्द, अलङ्कार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिका से बचने का प्रयत्न था, और (ङ) जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई गई थी;

(२) छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था; यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था; कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में अपने को अभिव्यक्त किया है।

(३) सभी उल्लेख योग्य कवियों में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी।"[१]

१—हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ४६१-६२

इस प्रकार द्विवेदी जी छायावाद को—

(१) भारतीय परम्परा में मानते हैं। उसमें सांस्कृतिक चेतना है जो भारतीय परम्परा में है। उस पर पाश्चात्य प्रभाव भी है।

(२) इसमें मानवतावादी विचारधारा, वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य तथा नवीन मानवीय जीवन के मूल्यों की स्वीकृति नवीन शैली में अभिव्यक्त हुई।

(३) उनमें मानवीय एवं सांस्कृतिक कारणों से उत्पन्न आध्यात्मिक अनुभूति है।

डा० रामविलास शर्मा—प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डा० शर्मा छायावाद को मध्यवर्ग की चेतना मानते हैं। उन्होंने लिखा है—"छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती-साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्वावधान में हुआ था। इसीलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है।" डा० शर्मा ने छायावाद में स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह एवं पलायनवाद और निराशावाद का प्राधान्य मानने वालों के लिए भी कुछ कहा है। वह इस प्रकार है—"क्या जीवन से पराङ्मुख कोई भी व्यक्ति ऐसी सुन्दर पंक्तियाँ लिख सकता है? क्या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहने से उस ठोस जीवन आकांक्षा, मानवीय प्रेम, मानवीय सौन्दर्य की आकांक्षा की व्याख्या हो जाती है जो इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है—

कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग ! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजनी प्यारे जाग।"

—महादेवी वर्मा

गंगाप्रसाद पांडेय—"छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु में अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।" पांडेयजी छायावाद की विविध अवस्थाओं का निरूपण करते हुए लिखते हैं—"छायावादी कवि का मुख्य उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करना है। यह कोई नई बात नहीं है, प्रायः प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विषमता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्ति की शरण ली है। छायावाद की प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह में सजग रहता है। दूसरी अवस्था में मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कलाकार कुछ खो-सा जाता है। तीसरी अवस्था उसकी सफलता का सोपान है, क्योंकि यहाँ उसको अपने प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह सन्तोष के साथ अपने व्यापक रूप में अपने को लीन कर लेता है। यही छायावाद की चरम परिणति है।"

इस प्रकार पांडेय जी छायावाद के मूल में—

(१) आध्यात्मिकता के दर्शन करते है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों द्वारा ही संभव है।

(२) एक रहस्यमय संकेत है। यों तो प्रकृति में प्रेयसी का आरोप प्राचीन काल में भी होता था किन्तु अब प्रकृति के किसी अंश में व्यापक व्यक्तित्व या अज्ञात सत्ता का आरोप है, इसीलिए छायावाद से आगे की सीढ़ी रहस्यवाद है।

डा० नगेन्द्र छायावाद की मूल प्रेरणा कवि की कुण्ठित वासनाओं में ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। डा० देवराज छायावाद को आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह मानते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य आलोचकों ने भी छायावाद की व्याख्या कुछ हेरफेर के साथ की है, किन्तु सभी का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। प्रायः प्रमुख छायावादी कवि एवं आलोचकों की छायावाद के सम्बन्ध में व्यक्त की गई विचारधारा को यहाँ प्रस्तुत करने का ध्येय केवल इतना ही है कि पाठक के सम्मुख इस विशाल चेतना के महान् साहित्य के विविध पक्षों का उद्घाटन

हो जाय। मैं यह नहीं कहता कि सभी व्याख्यायें एकाङ्गी हैं, किन्तु प्राय छायावाद की व्याख्या करते समय आलोचकों एवं कवियों ने एक ही पक्ष का उभार अधिक दिखाया है जैसे पन्त जी ने इसे रोमांटिक काव्य-धारा की परम्परा में बता कर इस पर पड़े हुए पाश्चात्य प्रभाव का दिग्दर्शन तो करा दिया; किन्तु वे इसके समग्र रूप को प्रस्तुत न कर सके। जैसा वैयक्तिक दृष्टिकोण उन्होंने काव्य में अपनाया वैसा ही उनकी स्वयं कृत समीक्षा में मिलता है। अस्तु।

कुछ आलोचकों ने छायावाद की मूल प्रेरणा को समझने का प्रयत्न किया है और साहित्य की अखंड धारा एवं विचारों की अखंड परम्परा के सिद्धान्त को झुठलाने का प्रयत्न नहीं किया है। ऐसे छायावाद के सर्वाङ्गीण महत्व को समझने-समझाने वाले सुधी आलोचकों में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद युग की विविध परिस्थितियों का विवेचन करके इस महान साहित्य के मूल में आत्म-विश्वास को पाते हैं और इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के महान् प्रयत्न का सामाजिक दर्शन प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने लिखा है—"हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि वह नवयुग भारत में अभूतपूर्व राजनीतिक और सामूहिक हलचल का युग था। गांधी जी के सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलन ने एक अनोखे आत्म-विश्वास का वातावरण उपस्थित कर दिया था। नूतन प्रेरणाओं के फलस्वरूप देश में जो अनुपम जाग्रति फैली, उससे न केवल साहित्य में नवीन भावोद्रेक की धारा व्याप्त हुई, नई स्वच्छ शैलियों का भी विन्यास और विकास हुआ। इन नवीन रचनाओं में बाहरी ढांचे की अवहेलना भी थी, अलंकारों का आधिक्य नहीं था। नवीन स्वर-लहरी का उल्लास था। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं का तिरस्कार था। विषय नवीन भी थे और प्राचीन भी; किन्तु भावना सबमें एक सी ही स्वच्छन्द और वेगवती थी, काव्य में संगीत का सम्बन्ध दृढ़तर हो गया।"[१] यही नहीं, उन्होंने छायावाद को किसी दार्शनिक आधार से रहित कोरी सौन्दर्यवादिता या कल्पना की ऊँची उड़ान समझने वाले एकांगी आलोचकों के मतों की सुन्दर समीक्षा की है।

---

१ आधुनिक साहित्य : पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २८९।

यह विषय बड़ा विस्तृत है और यहाँ हम केवल उद्धरणों न करके साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते हैं, इसलिए एक ही उदाहरण देकर इन आलोचना-प्रत्यालोचना को समाप्त करेंगे। वाजपेयी जी लिखते हैं—"जिन लोगों ने छायावाद काव्य को कोरी सौन्दर्यवादिता या स्वप्न के संसार की चीज बताया है, अथवा जिन्होंने उसे विवशकारी सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति की 'न्यूरोटिक' प्रतिक्रिया कहा है' वे भी छायावादी कवियों के 'व्यक्तित्व और प्रतिभा' के प्रशंसक हैं।·········छायावादी काव्य में विद्रोह और स्वातन्त्र्य का, निष्ठा और सजगता का भी स्वर है, इसे विरोध करने वाले नहीं समझते।"[1] छायावाद के विरोधी स्वरों का, उसको हीन मानने वाले प्रमुख आधारों का इतना संकेत पर्याप्त है।

उपर्युक्त विवेचन से छायावाद की वादगत स्थिति स्पष्ट हो चुकी है। सुधी आलोचकों के विभिन्न मत हैं। संक्षेप में हम उन्हें इस प्रकार रख सकते हैं—

१—रहस्यपूर्ण सौन्दर्य दर्शन की अभिव्यक्ति में जो अस्पष्टता उत्पन्न हो जाती है वही छायावाद है। —मुकुटधर पांडेय

२—छायावाद और रहस्यवाद की मूल धाराएँ पृथक्-पृथक् हैं। —जयशङ्कर प्रसाद

३—छायावाद और रहस्यवाद पर्यायवाची शब्द हैं। —डा० रामकुमार वर्मा

४—छायावाद का दूसरा सोपान एवं प्रमुख प्रवृत्ति रहस्यवाद है। —महादेवी वर्मा

५—छायावाद भारतीय सांस्कृतिक चेतना का फल है जो युगानुरूपिणी है और अपनी अभिव्यक्ति में भी नवीनता रखती है। इसमें एक स्वतन्त्र मानवीय और सांस्कृतिक प्रेरणा से उद्भूत आध्यात्मिकता की भावना है। —पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

---

१ आधुनिक साहित्य—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० ३४३

६—बदलते हुए जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति, विशाल सांस्कृतिक चेतना एवं आध्यात्मिकता की झलक को नवीन शैली में व्यक्त करने वाली कविता ही छायावाद है।

—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

७—छायावाद एक शाश्वत सौन्दर्यवाद की प्रवृत्ति है जो युगानुरूप भाषा शैली एवं विचारधारा को लेकर प्रकट हुई है। यह भारतीय परम्परा में उद्भूत हुई है।

—जयशंकर प्रसाद

८—छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद है। प्रकृति में चेतना का आरोप, सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता का उद्घाटन एवं असीम के प्रति अनुरागमय आत्म-विसर्जन की प्रवृत्तियों का गीतात्मक एवं नवीन शैली में व्यक्त रूप छायावाद है।

—महादेवी वर्मा

९—छायावाद के दो अर्थ रहस्यवाद एवं प्रतीकात्मक शैली हैं किन्तु हिन्दी साहित्य में यह एक शैली-विशेष है। इस शैली की मुख्य विशेषतायें ये हैं—लाक्षणिकता प्रकृति के वस्तु व्यापारों पर मानुषी वृत्तियों का आरोप, प्रभावरहस्य पर ओर और प्रेमगीतात्मक प्रवृत्ति।

—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

१०—छायावाद पाश्चात्य साहित्य की रोमांटिक परम्परा में है।—पन्त।

११—छायावाद कवियों की कुंठित वासनाओं से उद्भूत है।

—डा० नगेन्द्र

१२—छायावाद में आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है।

—डा० देवराज

१३—मध्यवर्ग की थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती बन्धनों के प्रति विद्रोह छायावाद में व्यक्त हुआ है।

—डा० रामविलास शर्मा

इस प्रकार हमने 'आधुनिक काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ' नामक अध्याय में एवं इससे भी पूर्व 'आधुनिक काल का सामान्य परिचय' नामक अध्याय में छायावाद-युग को बनाने वाली विविध परिस्थितियों—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक—का अध्ययन किया। यहाँ हमने छायावाद की वाद के रूप में विविध व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। अब हम छायावादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों का सोदाहरण विवेचन करेंगे।

छायावादी कविता दो महायुद्धों के बीच की कविता है। एक महायुद्ध की समाप्ति और दूसरे का प्रारम्भ, इस बीच में जिस कविता का सृजन हुआ उसमें छायावादी रूप है। इस युग की कविता में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—

(१) सौन्दर्य भावना—छायावादी कविता की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति उसकी सौन्दर्यानुभूति की है। यों तो यह सौन्दर्य की शाश्वत प्रवृत्ति ही है किन्तु इसका स्वरूप छायावाद में पूर्ववर्ती रूप से भिन्न है। शृंगारकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध अधिकांशतः बाह्य शरीरगत है, यों तो उन्मुक्त प्रेम के गायकों में आत्मिक सौन्दर्य अथवा सूक्ष्म सौन्दर्य के भी दर्शन हो जाते हैं। छायावाद में सूक्ष्म-सौन्दर्य-सत्ता की प्रतिष्ठा बड़े व्यापक रूप में हुई और सौन्दर्य-बोध की भूमि का विस्तार हुआ। इसे ही कुछ सुधी लोग रीति-परम्परा के स्थूल सौंदर्य-बोध के विरुद्ध प्रतिक्रिया के नाम से पुकारते हैं। सौन्दर्य भूमि का विस्तार हुआ तो एक ओर तो प्रकृति के नाना रूपों में सौन्दर्य-दर्शन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और दूसरी ओर आत्मिक सौन्दर्य-बोध को अधिक महत्त्व मिला। द्विवेदी-युग में शृंगारकालीन सौन्दर्य बोध में अश्लीलता की झलक पाकर एवं बुद्धिवादी विचारधारा के कारण हृदयतत्त्व का अभाव हो गया था। इस प्रकार उस काव्य में नैतिक भावना कहीं भी शिथिल नहीं हुई। इस इतिवृत्तात्मकता और जड़ता में श्रीधर पाठक आदि का काव्य ही कुछ प्रकृति की हरियाली प्रकट करता है। परन्तु उसमें भी प्रेम भावना का अभाव है, सूक्ष्म सौन्दर्य दर्शन नहीं है। इस अर्थ में भी सुधी लोग छायावाद को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया मानते हैं किन्तु यह भ्रम है; क्योंकि साहित्य मूलतः सौन्दर्य का सृजन है और जब साहित्य की अखण्ड परम्परा है तो सौन्दर्य की प्रवृत्ति भी

शाश्वत है। हाँ, इसका रूप बदलता एवं विकसित होता रहता है। छायावाद में अमूर्त अशरीरी सौन्दर्य-प्रियता को प्राधान्य मिला।

मानव के आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन छायावाद में प्रकृति के माध्यम से हुआ अतः प्राकृतिक सौन्दर्य को विशेष महत्त्व मिला। यहाँ महादेवी जी के ये शब्द स्मरणीय हैं—"छायावाद की प्रकृति, घट-कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिन्दुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है।" छायावादी कवि ने प्रकृति के नाना रूपों रंगों में अपनी अन्तरात्मा को खोज निकाला है।

छायावादी प्रकृति-सौन्दर्य-चित्रण की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम तो इसमें चेतनता का आरोप है। पंत जी ने कहा है "प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वयवासी में—"[१]

प्रसाद में हमें प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं जैसे उषा का कामायनी में चित्रण।[२] लहर में एक कविता में वे उषा को अम्बर के पनघट पर तारों के घट को डुबाती हुई रूपसी के रूप में देखते हैं—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।

निराला ने अपनी 'सन्ध्या-सुन्दरी' कविता में संध्या को मेघमय आकाश से उतरती हुई परी के रूप में देखा है—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है

१—आधुनिक कवि—पर्यालोचन पृ० २
२—कामायनी : आशा सर्ग, प्रथम छन्द

वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।

महादेवी ने भी प्रकृति पर चेतनता का आरोप किया है। वह वसन्त रजनी को क्षितिज से बुला रही हैं—

तारकमय नव वेणी बन्धन
शीश फूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सित घन अवगुंठन
धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी।

रामकुमार वर्मा में भी प्रकृति का मानवीकरण है—

वह ज्योत्स्ना तो देखो नभ की बरसी हुई उमंग।

छायावादी प्रकृति-सौन्दर्य की दूसरी विशेषता विस्मय की प्रवृत्ति है। कवि उसमें चेतनता का आरोप करता है तो उसे प्रकृति में बड़ी सप्राणता लगती है, वह विस्मय से भर उठता है। एक कारण और भी है, वह अपने अज्ञात प्रियतम का संकेत भी पाता है, इसलिये उसका प्रकृति से बड़ा स्नेह हो जाता है। प्रसाद जी का झरना का मनोहर चित्रण देखिए—

मनोहर झरना
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी।

पंत को भी प्रकृति के विविध रूपों में बड़ा विस्मय होता है—

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को।

—'आँसु' से

नरेन्द्र कवि का यह भाव भी ऐसा ही आह्लाद प्रकट करता है—

मैं भूल गया निज सीमायें जिससे
वह छवि मिल गई मुझे।

छायावादी प्रकृति-सौन्दर्य की तीसरी विशेषता यह है कि कवि मानव-जीवन की समस्त भावनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करता है। महादेवी जी के काव्य में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है। 'सांध्य-गीत' की प्रथम कविता में वे अपने जीवन की तुलना सांध्य-गगन से करती हैं—

प्रिय सान्ध्य गगन, मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया - सी काया वीतराग—

—इत्यादि

छायावादी प्रकृति-सौन्दर्य की चौथी विशेषता उसमें करुणा के स्वर हैं। कवि जब प्रकृति में फूल खिले देखता है तो एक कुतूहल-मिश्रित वेदना उमड़ आती है कि यह मेरे हृदय में क्यों नहीं खिला। महादेवी में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है—

जग पतझर का नीरव रसाल,
पहने हिमजल की अश्रुमाल,
मैं पिक बन गाती डाल - डाल
सुन फूल-फूल उठते पल - पल
सुख दुःख मंजरियों के अंकुर।

यों तो जब प्रकृति से तादात्म्य है तब वह मनुष्य को अपने दुःख में उदास एवं सुख में उल्लसित जान पड़ती है। यह तादात्म्य यहाँ तक बढ़ जाता है कि प्रकृति और अपने हृदय की वृत्तियों में कवि एकरसता स्थापित करते हुए कह उठता है—

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन।

गहरे धुंधले, धुले, साँवरे,
मेघों से भरे मेरे नयन ।।

—इत्यादि

छायावादी सौन्दर्य की प्रवृत्ति का दूसरा रूप नारी सौन्दर्य में देखने को मिलता है। छायावादी कवि ने नारी के सूक्ष्म-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में की है। कहीं तो वह प्रकृति के माध्यम से उसका शारीरिक सौन्दर्य-चित्रण करता है, किन्तु इसमें कुतूहल का समावेश करके नवीनता ला देता है—

शशि मुख पर घूंघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए ।।

इन कवियों ने प्रकृति को स्त्री रूप में देखा है। कवि की प्रेयसी पार्थिवता का भूषण नहीं वरन् प्रकृति की दुलारी, अपने नैसर्गिक रूप की रानी और आत्मा को प्रकाशित करने वाली है—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात मोतियों सा हिलता हिम हास,
इन्द्रधनुषी पट से ढक गात बाल विद्युत का पावस - लास,
हृदय में खिल आता तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये प्राणों की प्राण !

—पंत

छायावादी कवियों ने नारी के अशरीरी सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया। इसीलिये इस सूक्ष्म सौन्दर्य-दर्शन से नारी का सौन्दर्य प्रकृति के रमणीक दृश्यों में मिलता है—

प्रिये कलि-कुसुम-कुसुम में आज।
मधुरिमा, मधु, सुषमा, सुविकास ।।
तुम्हारी रोम-रोम छवि व्याज।
छा गया मधुवन में मधुमास ।।

—पंत

नारी सौन्दर्य के अतिरिक्त पुरुष सौन्दर्य का चित्रण भी छायावादी कवियों की विशेषता है। प्रसाद जी ने कामायनी में मनु का चित्रण किया है—

अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार।

यह तो स्थूल सौन्दर्य दर्शन हुआ, इसके आगे सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण है—

चिन्ता कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत - प्रोत।
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत।

पुरुष-सौन्दर्य ही नहीं शिशु-सौन्दर्य का निरीक्षण भी मिलता है। कामायनी में मनु का पुत्र—

माँ—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी।
+ + +
छुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गई।

पंत जी में भी शैशव के प्रति बहुत आकर्षण है—

"शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय।"

इस प्रकार छायावादी सूक्ष्म सौन्दर्य-दर्शन में प्रकृति के आलम्बन रूप में संश्लिष्ट चित्र, नारी के व्यापक एवं अशरीरी सौन्दर्य की कल्पना, पुरुष सौन्दर्य की ओर रुझान एवं शिशु सौन्दर्य का आदर्श है।

(२) प्रेम भावना—छायावादी काव्य में प्रेम भावना का विकास विविध रूपों—प्रकृति-प्रेम, नारी-प्रेम, मानव-प्रेम, शिशु-प्रेम (मातृ-प्रेम), अज्ञात चिरन्तन प्रिय के प्रति प्रेम इत्यादि—में प्रकट हुआ है। प्रकृति प्रेम का सुन्दर उदाहरण पंत में है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया।

बाले ! तेरे बाल जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को ! —पंत

नारी प्रेम की मूर्त्ति है, उसके हृदय में प्रेम की तरंगें उठा करती हैं किन्तु इसका पूर्ण उल्लसित रूप तो प्रिय के साथ रहने पर ही होता है। छायावादी काव्य का यह प्रेम वर्णन बड़ा उत्कृष्ट है। इसमें वासना का अभाव है और हृदय की कोमल वृत्तियों का उद्घाटन है और वह भी प्रकृति के माध्यम से, अतः हृदय को उच्च भावनाओं से भरने वाला है—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे।
जब सावन घन सघन बरसते इन आँखों की छाया भर थे॥
सुरधनु रंजित नव जलधर से भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से।
मिले चूमते जब सरिता के हरित कूल युग मधुर अधर थे॥

—भगवती चरण वर्मा

प्रिय और प्रेमी की इन प्रेम-क्रीड़ाओं में हृदय की उदात्त वृत्ति की झलक है। द्विवेदी-युग में तो प्रेम भावना शृङ्गारकालीन वासनामूलक प्रेम के विरोध के कारण बड़ी शुष्क हो गई थी, छायावाद में उसे प्रकृति के मधुर रस से सींच कर हरा-भरा कर दिया। वियोग के चित्रणों में भी ऊहात्मक पद्धति के स्थान पर विरह की मार्मिकता की अनुभूति ही अधिक है। कहीं-कहीं विरह में बड़ी गम्भीरता एवं आध्यात्मिकता आ गई है—और क्यों न हो, छायावादी कवियों का प्रेम भी तो उठकर उस अज्ञात के प्रति अनुरागमय आत्म-समर्पण में बदल जाता है। इस विरह-वर्णन में संयोग के सुख की करुण अनुभूति की व्यंजना है—

यह तीव्र हृदय की मदिरा ;
जो भर कर-छक कर मेरी।
अब लाल आँखें दिखलाकर ;
मुझको ही तुमने फेरी॥

—आँसू (प्रसाद)

छायावादी कवियों में आध्यात्मिक प्रेम-भावना अज्ञात प्रिय के प्रति है।

इनमें रहस्योन्मुख प्रेम है। अपने अज्ञात प्रिय का आभास कवि को सर्वत्र मिलता है—

भरा नयनों में मन में रूप, किसी छलिया का अमल अनूप,
जल - थल मारुत - व्योम में, जो छाया है सब ओर।

—प्रसाद

महादेवी में इस प्रेम भावना का बहुत अधिक विस्तार हुआ है। एक उदाहरण ही पर्याप्त है —

मैं कण कण में ढाल रही हूँ आंसू के मिस प्यार किसी का।
मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का॥

—दीपशिखा

मातृप्रेम का भी एक उदाहरण पर्याप्त होगा। 'कामायनी' की श्रद्धा की पुत्र-प्रेम की कल्पना—

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न
मैं उसके लिये बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन।

आगे चलकर इस मातृ-प्रेम भावना का साकार रूप 'स्वप्न' सर्ग में है—

छुटरी खुली अलक, रज धूसर बाँहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

इसी प्रकार मानव प्रेम का चित्रण पंत में देखिए—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।

(२) मानवतावादी दृष्टिकोण—छायावादी कवियों में रवीन्द्र और अरविन्द की मानवतावादी दृष्टि का विकास हुआ है। यह मानवतावाद कई रूपों में

व्यक्त हुआ है जैसे नारी के प्रति उच्च भावना। शृङ्गारकाल में नारी का रूप विकृत हो चुका था, वह विलास की प्रसाधन हो गई थी। छायावादी कवि ने एक नवीन मानवतावादी दृष्टि से नारी का विचार किया—

नष्ट हो गई उसकी आत्मा
त्वचा रह गई पावन,
युग-युग से अवगुण्ठित गृहिणी
सहती पशु के बन्धन।
खोलो हे मेखला युगों की
कटि प्रदेश से, तन से
अमर प्रेम हो उसका बन्धन
वह पवित्र हो मन से।

इस प्रकार नारी के शरीर के महत्त्व के ऊपर इन कवियों ने उसके मन की पवित्रता को महत्त्व प्रदान किया। अब कवियों की दृष्टि मानव को मानव के रूप में देख कर शोषितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने लगी है। 'निराला' में शोषित वर्ग के प्रति गहरी संवेदना है। कृषकों की दशा देखकर वे 'बादल राग' गा उठते हैं—

तुझे बुलाता कृषक अधीर····
चूस लिया है उसका सार
हाड़ माँस ही है आधार।

इसी प्रकार उनकी 'भिक्षुक', 'विधवा', 'इलाहाबाद के पथ पर' इत्यादि कविताओं में मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। पंत ने भी मानव-सौन्दर्य-निरीक्षण किया है।१

(४) **जीवन के बदलते हुए मूल्यों की अभिव्यक्ति**—छायावादी कवियों में प्राचीन जीवन मानों के प्रति विद्रोह की भावना है। छायावाद में थोथी नैतिकता, रूढ़ि एवं परम्परा और सामन्ती संस्कृति के मानदण्डों का घोर विरोध

१ मानव कविता—(आधुनिक कवि) पृ० ६९

हुआ। इन्होंने आत्म-कल्याण और विश्व-मंगल की भावना को प्रश्रय दिया और इसीलिए प्राचीन जीवन के मूल्यों की कमी इनके दृष्टिपथ में आई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इन कवियों में "मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्य को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी।" और यही तो इनकी विद्रोह भावना है। छायावादी कविता में सौन्दर्य, प्रेम, करुणा, मानवतावाद, नारी उत्थान इत्यादि की जो भावनाएं व्यक्त हुई हैं; जन्म, पद, सम्पत्ति आदि से उत्पन्न भेद-भाव को मिटाकर व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप में देखने का जो प्रयत्न हुआ है—वह जीवन के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों की अभिव्यक्ति करता है। क्या राजनीतिक आदर्श, क्या सामाजिक मान्यताएँ एवं मर्यादाएँ सभी क्षेत्रों में छायावादी कवि विचार-स्वातन्त्र्य को प्रधानता देता है। प्रेम के विषय में वह स्वच्छन्दतावादी है और धार्मिक बन्धनों के प्रति अवज्ञावादी। किन्तु यह चेतना मुख्यरूप से मध्यवर्ग के साथ जुड़ी हुई है। श्री शम्भूनाथसिंह ने मध्यवर्गीय चेतना का परिवर्तन छायावादी कविता में निम्नलिखित रूपों में बताया है—

१—सामन्ती और पुनरावर्तनवादी प्रवृत्तियों का लोप।

२—व्यक्तिवाद और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आदर्श की स्थापना।

३—बुद्धि के विरुद्ध हृदय का और स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह।

४—यथार्थ के बन्धनों से ऊबकर प्रकृति, रहस्य, कल्पना, और क्रान्ति के स्वप्नलोकों में पलायन।

५—ह्रासोन्मुख पूंजीवादी प्रवृत्तियां—कलावाद, निराशावाद, अहंवाद का विकास।

६—सामाजिक यथार्थवाद या प्रगतिवाद का प्रारम्भ।

इसी प्रसङ्ग में शम्भूनाथ जी आगे लिखते हैं "इस युग में धर्म का प्रभुत्व बहुत कुछ हट गया और उसकी जगह आध्यात्मिकता और दार्शनिकता ने ले ली। छायावादी कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन और भक्तिकालीन काव्य से प्रभाव ग्रहण किया और साथ ही रीतिकालीन काव्य-परम्परा का खुले रूप में

विरोध किया। इस तरह इस युग में सामन्ती और दरबारी संस्कृति के बन्धनों में कवियों ने मुक्ति प्राप्त की।[१]" यह विद्रोह काव्य-विषय और भाषा-शैली दोनों में ही दिखाई पड़ता है। आज के युग में जीवन के मूल्य बदल रहे हैं और इस नई व्यवस्था में सदाचार और धर्म की महत्ता जन-हित पर निर्भर होगी—

धर्म, नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जनहित।
सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण सम्बन्धित॥

—पन्त

छायावादी कविता की इस प्रवृत्ति में हमें सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते हैं। यद्यपि इसमें नवीन शिक्षा का प्रभाव स्पष्ट है तथापि यह केवल पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव नहीं है। इसके मूल में पूर्ववर्त्ती युग की परिस्थितियों के प्रति विद्रोह की भावना है अतः यह भारतीय परम्परा में उद्भूत सांस्कृतिक चेतना है।

(५) रहस्य-भावना—कुछ सुधी आलोचक रहस्यवाद को छायावाद का प्राण मानते हैं। महादेवी जी के अनुसार विश्व के अथवा प्रकृति के सभी उपकरणों में चेतना का आरोप छायावाद की पहली सीढ़ी है तो किसी असीम के प्रति अनुराग जनित आत्म विसर्जन का भाव अथवा रहस्यवाद छायावाद की दूसरी सीढ़ी है। महादेवी वर्मा और प्रसादजी के काव्य में इस रहस्य भावना का सुन्दर परिपाक हुआ है। पन्त में प्रकृति के प्रति रहस्य भावना है, जिसे बहुतों ने प्राकृतिक रहस्यवाद की संज्ञा दी है। रामचन्द्र शुक्ल भी छायावाद का एक अर्थ रहस्यवाद ही करते हैं किन्तु वे इसे सन्त—पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी का अनुकरण मानते हैं जिसमें तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का विषय रहता था। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी छायावादी कविता की इस आध्यात्मिकता को परम्परागत आध्यात्मिक चिन्तन के नियमों एवं प्रेरणाओं से भिन्न एक स्वतन्त्र चिन्तनधारा मानते हैं। इसका मुख्य कारण वह यही देते हैं कि छायावादी

१ छायावाद युग : शम्भूनाथ सिंह पृ० ५६

काव्य की आध्यात्मिकता प्राचीन काव्य के "आध्यात्मवादी सीमा-निर्देशकों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।" इसका कारण वाजपेयी जी यह देते हैं कि "छायावाद मानव-जीवन-सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है।" इस भावना का विकास महादेवी की कविता में अच्छी तरह देखा जा सकता है—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर॥

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल गल।

इसमें आध्यात्मिकता की भावना मानव-सेवा की भूमिका पर पल्लवित हुई है। इसी प्रकार प्रकृति में आध्यात्मिकता की भावना हम पहले देख चुके हैं। और देखिए—

महानील इस परम व्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से सन्धान!
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
किसके रस से सिंचे हुए?

किन्तु इस आध्यात्मिकता की भावना में भक्ति साहित्य के केन्द्र-बिन्दु 'लीला' तत्त्व का विकास भी हुआ है। महादेवी कहती हैं—

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का!

यही नहीं, प्रेयसी-प्रियतम का सम्बन्ध भी विविध रूप में अभिव्यक्त हुआ है—

प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण क्षण नवीन सुहागिनि मैं !
तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या ?

और भी—

इसी प्रकार निराला की एक कविता में प्रेयसी अपने प्राणधन के विरह में आँसू बहा रही है —

प्राण धन को स्मरण करते ।
नयन झरते, नयन झरते ॥

पंत में भी आध्यात्मिक प्रेम एवं रहस्य की प्रेममयी झलक है, प्रेयसी प्रिय की पद छाया है—

तुम इस तरुवर की छाया हो ।
मैं उनके पद की छाया ।

हम शुक्ल जी की पदावली में कह सकते हैं कि छायावादी "कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना" करते हैं ।

(६) तत्त्व-चिन्तन—छायावादी कविता में तत्त्व-चिन्तन की भी एक विशेष प्रवृत्ति है । इसमें प्राचीन अद्वैत-दर्शन, योग-दर्शन, विशिष्टाद्वैत, पुनर्जन्म और कर्मफल, आनन्दवाद, विश्वमानवतावाद एवं सामाजिक यथार्थवाद इत्यादि तत्त्वों का दार्शनिक चिन्तन मिलता है । प्रसाद, महादेवी, पंत और निराला के काव्य में तत्त्व चिन्तन के विविध रूपों का विकास हुआ है । प्रसाद का मूल दर्शन आनन्दवाद है, तो महादेवी ने अद्वैत, सांख्य एवं योग दर्शन का विवेचन अपने ढंग से प्रस्तुत किया है । प्रसाद की कामायनी में विश्वमानवतावाद के दर्शन होते हैं । पंत ने जगत की अनित्यता, तप का महत्त्व इत्यादि अपने काव्य में दर्शाया है । स्थानाभाव के कारण हम उदाहरण नहीं दे रहे हैं ।

(७) वेदना की युगानुरूप विवृति—छायावादी कविता में वेदानुभूति के विविध रूप मिलते हैं । कहीं यह अनन्त वेदना के रूप में है तो कहीं

करुणा के रूप में, अन्यत्र निराशा की भावना के रूप में। प्रसाद और महादेवी के काव्य में वेदनानुभूति का दर्शन सेवावाद और आध्यात्मवाद है। महादेवी जी ने इस दुःख के दो रूपों की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—"एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।" किन्तु प्रसाद और महादेवी के काव्य में पाई जाने वाली इस वेदनानुभूति में निराशा का अन्धकार एवं भौतिक दुःखों का धुँधलापन नहीं है। यह तो शुद्ध सेवा और आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति है, तभी तो महादेवी कहती हैं—

प्रिय ! जिसने दुःख पाला हो !
वर दो यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो !
मैं दुःख से शृङ्गार करूँगी

और भी—

इस वेदनानुभूति में साधनात्मक जीवन का दृढ़ स्वर मुखरित हुआ है—

प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती

प्रसाद में भी वेदनानुभूति 'हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य' है। उनकी 'कामायनी' की 'श्रद्धा' प्रकृति में भी वेदना का पाठ पढ़ती है। आध्यात्मिक वेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति 'श्रद्धा' के इस चिन्तन में मिलती है—

दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर,
प्रश्न करता मन अधिक अधीर।
धरा की यह सिकुड़न भयभीत,
आह कैसी है ? क्या है पीर।

पंत में सौन्दर्य की खोज और अनित्यता के परिचय के कारण दुःख की भावना जाग्रत हुई—

चिर पूर्ण नहीं कुछ जीवन में
अस्थिर है रूप जगत का मद,

निराला के जीवन में सामाजिक जीवन की कठोरताओं से एक अजीब निराशा की झलक एवं झुंझलाहट आ गई है—

जीवन चिरकालिक क्रन्दन
मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जो भर कर झकझोर।

—आदि

महादेवी और प्रसाद की सेवा के जीवन की वेदना, आध्यात्मिक प्रेम की पीर और संसार की स्वार्थपरता से उत्पन्न व्यथा अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

(८) विज्ञान का प्रभाव—आधुनिक युग की सबसे अधिक प्रगति वैज्ञानिक आविष्कारों में देखी जा सकती है। वैज्ञानिक युग में बौद्धिक प्रक्रिया का प्राधान्य हुआ और एक वैज्ञानिक संस्कृति का जन्म हुआ। बिखरे हुए शक्ति के कणों का संयोजन करके मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है। इसी से विश्व की दुर्बलता बल में परिणत होगी और मानव-संस्कृति की चेतना का इतिहास सुन्दर होगा। प्रसाद जी ने कामायनी में शक्ति के संचार का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और मानवता की विजय की कामना की है—

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय!

वैज्ञानिक संस्कृति में बुद्धिवाद का महत्त्व बहुत अधिक है। प्रसाद जी की 'इड़ा' भी बुद्धिवाद की प्रतीक है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।

× × ×

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान॥

बुद्धिवाद में संघर्ष है, संघर्ष में दुख और अभिशाप है। प्रसाद जी ने बुद्धिवाद के विकास का वर्णन भी किया है। विज्ञान से मानवता विजयिनी हो सकती है, उसके समन्वय से। लेकिन उसका असामंजस्य एवं असन्तुलन तो सृष्टि का विनाश करने वाला है—

तांडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे,
नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे।

—कामायनी

इसीलिए वैज्ञानिक उन्नति से बड़ा भय भी है। पंत में भी वैज्ञानिक विकासवाद (समर्थ और शक्तिवान को जीने का अधिकार) का वर्णन मिलता है—

जो है समर्थ जो शक्तिवान जीने का अधिकार उसे!

और यही सिद्धान्त तो वैज्ञानिक संस्कृति का महान अभिशाप भी है।

(६) राष्ट्रीयता एवं देशप्रेम—छायावादी कविता में राष्ट्रीय भावना एवं देश-प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। देशप्रेम की भावना के कई रूप हैं। एक है पुरातन के गौरव का स्मरण—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल
भूतियों का दिगन्त छवि जाल,
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल

प्रसाद जी ने भी देश के प्राकृतिक स्थलों के प्रति स्वाभाविक अनुराग व्यक्त किया है। भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कवि का यह उल्लास—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर, नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल-कुंकुम तारा।

देश-प्रेम के अतिरिक्त राजनीतिक आन्दोलन का वर्णन भी मिलता है। स्वतन्त्रता-आन्दोलन को सक्रिय प्रेरणा देने वाला माखनलाल चतुर्वेदी का 'पुष्प की अभिलाषा' गीत बहुत प्रसिद्ध है—

मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक ।।

इस राष्ट्रीयता की भावना में कहीं-कहीं क्रान्ति के भी स्वर हैं जैसे नवीन जी के 'विप्लव' गायन, दिनकर की 'हुंकार' और नरेन्द्र की 'प्रभात फेरी' में।

(१०) शृङ्गारिकता की भावना और ऐंद्रिकता—छायावादी काव्य विशुद्ध सौन्दर्यवादी और प्रेमवादी काव्य है किन्तु इसमें कहीं-कहीं ऐन्द्रिकता और अश्लीलता की भावना अपरिपक्व एवं उच्छृङ्खल कवियों में पाई जाती है। प्रसाद और महादेवी, निराला आदि में शृंगार की भावना का बड़ा संयत रूप है। महादेवी में प्रेम के प्रथम प्रभाव को देखिये—

सजनि तेरे दृग बाल, चकित से विस्मित से दृग बाल,
आज खोए से आते लौट, कहाँ अपनी चंचलता हार।
झुकी जाती पलकें सुकुमार, कौन से नव रहस्य के भार,
सजनि वे पद सुकुमार, तरंगों से द्रुत पद सुकुमार ।।

—'रश्मि'

प्रसाद जी ने भी लजीले सौन्दर्य का बड़ा संयत और सौम्य वर्णन किया है—

तुम कनक-किरन के अन्तराल में, लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते, यौवन के घन रसकन ढरते।
अधरों के मधुर कगारों में, कल कल ध्वनि की गुंजारों में,
मधु सरिता सी वह हँसी तरल, अपनी पीते रहते हो क्यों ?

दूसरी ओर भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, अंचल, बच्चन आदि में कहीं-कहीं घोर ऐन्द्रिकता और अश्लीलता के वर्णन मिलते हैं। कुछ उदाहरण—

प्रिये अभी मधुराधर चुम्बन गात-गात गूंथें आलिंगन।
सुने अभी अभिलाषी अन्तर मृदुल उरोजों का मृदु कम्पन ।।

—नरेन्द्र (प्रभात फेरी)

एक पल के ही बरस में जग उठी तृष्णा अधर में,
जल रहा परितप्त अङ्गों में पिपासाकुल पुजारी।

—अंचल (मधूलिका)

तब तक समझूं कैसे प्यार
अधरों से जब तक न कराये
प्यारी उस मधुरस का पान।

—बच्चन (आकुल अन्तर)

११—वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति अथवा आत्माभिव्यंजन—

द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मकता थी, उसमें विषय की प्रधानता थी। इसीलिए उसमें स्थूल वर्णन था। छायावादी कविता में सूक्ष्म सौन्दर्य की सत्ता की स्थापना हुई, कविता कवि के अपने राग-विराग को लेकर चलने लगी। इस प्रकार विषय के स्थान पर विषयी (कवि) को महत्त्व मिला। वैयक्तिक भावनाओं का विकास हुआ। वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति का क्षेत्र बढ़ने लगा। इससे कविता अन्तंमुखी हो गई, कवि के 'अहं' में निबद्ध हो गई। इस स्वच्छन्दतावाद के कारण गीतितत्त्व का विकास हुआ। आचार्य शुक्लजी के अनुसार शृंगारकाल के कवियों का सबसे बड़ा दोष रूढ़ियों के गोरखधन्धे में पड़कर व्यक्तित्व को खो देना था। छायावाद उपयोगितावाद का खंडन करके भावुकता की स्थापना करता है अतः इसके कवियों ने उन्मुक्त आत्माभिव्यंजना को प्रधानता दी। व्यक्तित्व का विकास हुआ। कवि का 'अहं' पुष्ट हुआ। कवि सम्पूर्ण वस्तु जगत को अपनी 'अहं' भावना के काँटे पर तौलने लगा। वह अपने व्यक्तिगत संस्कारों, चिन्तन एवं कल्पना के आधार पर वस्तु के चित्रण में प्रवृत्त हुआ। इसीलिए उसका व्यक्तित्व सर्वत्र मुखरित है। पंत प्रकृति में अप्सरा के दर्शन करते हैं। यह तो हुआ वैयक्तिकता का विकास।

व्यक्तिवाद का दूसरा पक्ष आत्माभिव्यंजन अर्थात् अपने सुख-दुख, उतार-चढ़ाव इत्यादि की व्यंजना करना है। छायावादी कवियों में आत्माभिव्यंजन भी खुल कर हुआ। महादेवी, बच्चन, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि की कविताओं में यह आत्माभिव्यंजन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। महादेवी

तो अपनी कविता में अपने सपनों को, मिलन को, विरह को और अन्य भावनाओं को ही अभिव्यक्ति देती हैं। बच्चन भी आत्मकथा ही गाते हैं। निराला में भी 'अहं' जागरित है किन्तु वह वैयक्तिकता में ही परिणत हुआ है, आत्माभिव्यंजन में नहीं। और भगवतीचरण वर्मा के तो कहने ही क्या हैं, वे तो अपनी मस्ती पर ही रीझ रहे हैं—

हम दीवनों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

अपने व्यक्तिगत जीवन के संघर्षों का, उतार-चढ़ाव का, आशा-निराशा का एवं एकाकीपन का वर्णन इनकी आत्माभिव्यंजक कविताओं में भरा पड़ा है। बच्चन का 'आज मुझ से दूर दुनियाँ'[१] गीत उसके जीवन के एकाकीपन का द्योतक है। कहीं-कहीं तो यह एकाकीपन और निराशा निर्वेद की भूमिका पर पहुँच कर चिता, मृत्यु इत्यादि का वर्णन भी करने लगती है। वैयक्तिकता की अहंवादी प्रवृत्ति का सुष्ठु रूप प्रसाद, निराला प्रभृति कवियों में दिखाई पड़ता है।

१२—गीत और प्रगीत मुक्तक—वैयक्तिकता और आत्माभिव्यंजन के कारण छायावादी कविता में गीततत्त्व का विकास हुआ। महादेवी जी ने गीत की परिभाषा इस प्रकार की है "सुख-दुःख के भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है···· गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिये भावातिरेक सहज प्राप्य था।" और आगे महादेवी जी छायावादी काव्य पर दृष्टिपात करती हैं—"हिन्दी-काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत प्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और व्यक्ति प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात

१—आकुल अन्तर : बच्चन

करने का अवकाश ही देना नहीं चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिये संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अङ्कित कर लेने के लिये उत्सुक हैं·········आदि।" इस प्रकार छायावादी आत्माभिव्यंजक कविता सहज ही गीत-प्रधान हो गयी। फिर भी यह गीत पुराने गीतों से इस बात में भिन्न है कि इनमें संगीतात्मकता स्वयं सिद्ध है चाहे वह संगीत शास्त्रानुकूल न हो। ये गेय हैं। ये स्वच्छन्द शैली पर रचित हैं। इनमें संगीत शास्त्र का आधार नहीं है वरन् स्वतन्त्र रूप से छंद, लय और गेयता का विधान है—

निराला की 'गीतिका' में इसके सर्वोत्तम उदाहरण मिलते हैं। महादेवी की कविता में भी गीति-तत्त्व का सुन्दर विकास है।

प्रगीत मुक्तकों में स्वतन्त्र छन्द और लय की योजना तो है किन्तु गेयता का निश्चित विधान नहीं है। इनमें मुक्तक छन्द का प्रयोग ही अधिक है।

श्री शम्भूनाथ सिंह जी छायावादी गीत-काव्य में काव्य के रूप से अधिक उसके भाव-पक्ष की विशेषताओं को महत्त्व देते हैं क्योंकि इसमें वैयक्तिक और संवेदनात्मक अनुभूतियों की प्रधानता रहती है। इन्होंने इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी हैं—

१—भावतत्त्व और लयतत्त्व का सामंजस्य और समत्व।

२—आत्माभिव्यक्ति।

३—अनुभूतियों की ताजगी और सच्चाई।

४—भावावेगों की तीव्रता और अन्विति।

५—उद्देश्य की एकता और प्रभावान्विति।

छायावादी कविता में इस गीति तत्त्व का प्रभाव जयशंकरप्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' में भी देखा जा सकता है। निर्वेद सर्ग का 'तुमुल कोलाहल कलह में' शीर्षक गीत एक उत्कृष्ट गीत है।

१३—प्रतीकात्मक शैली और अलंकार योजना—

अलङ्कार योजना की दृष्टि से छायावादी काव्य में जो लाक्षणिक वक्रता मिलती है वह उत्कृष्ट है। शुक्ल जी के अनुसार "आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रचुर विकास छायावाद की काव्य शैली की असली विशेषता है।" शुक्लजी ने छायावादी चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति के अन्तर्गत प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों की योजना देखकर उसकी अन्योक्ति पद्धति की सराहना की है। इसके अतिरिक्त उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार की ओर उनकी दृष्टि गई। लाक्षणिक प्रयोगों के कुछ उदाहरण उन्होंने पन्त जी के पल्लव से प्रस्तुत किये हैं। जैसे—

(१) धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमयगान।
(२) मर्म पीड़ा के हास।
(३) कौन तुम अतुल अरूप अनाम।

प्रसाद जी में उपलक्षण की अधिकता है। शुक्लजी ने छायावाद के प्रभाव साम्य पर गढ़े अप्रस्तुतों की चर्चा की है—"ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवत् होते हैं—जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवन-काल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मध्यान्ह।" प्रसाद जी की कविता का एक उदाहरण—

झंझा झकोर गर्जन है—
इसमें झंझा—क्षोभ का प्रतीक, गर्जन वेदना की तड़पन का।

महादेवी जी कवि के साथ रहस्यवादी और चित्रकार भी हैं, इसलिए उनकी कविता में प्रतीकों की छटा देखने ही योग्य है। उनकी वेदनानुभूति अधिकतर प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुई है।[1]

१—विशेष—लेखक की 'महादेवी का वेदना भाव'—पुस्तक में "महादेवी जी के वेदना-भाव की अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रतीक" देखिए।

चित्रात्मकता छायावादी कविता की मुख्य प्रवृत्ति है। भाषा और शब्द-चयन का सौन्दर्य प्रसाद, महादेवी, निराला और पन्त में देखने योग्य है। छायावादी कवियों ने बहुत से अंग्रेजी अलङ्कार जैसे मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वनिचित्रण आदि अपना लिये हैं जिससे भाषा की चित्रमयता बहुत बढ़ गई है। अमूर्त्त भावनाओं जैसे चिन्ता, लज्जा, काम, रति इत्यादि को मूर्त्त रूप देने के लिए प्रसादजी ने कामायनी में मानवीकरण की पद्धति का सुन्दर परिचय दिया है। कुछ स्वच्छन्द कवियों जैसे पन्त ने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ने का प्रयत्न किया है। अस्तु।

प्रगतिवाद युग

आधुनिक काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए हम प्रगति-वाद युग का सामान्य परिचय दे चुके हैं। यहाँ हम इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियों का कुछ विस्तार से अध्ययन करेंगे। प्रगतिशील काव्य का प्रारम्भ कब से माना जाय, यह एक कठिन समस्या है। फिर भी हमें छायावादी काव्य के ह्रासोन्मुख होते ही एक विशेष प्रकार की कविताओं का प्रचलन देख पड़ता है। यह प्रवृत्ति सन् १९३९ के लगभग देखने को मिलती है। छायावादी कवियों ने ही पहले पहल सूक्ष्म सौन्दर्यवादी दृष्टि छोड़कर सामाजिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति अपनायी और इस प्रकार कल्पना के नीलगगन से ठोस पृथ्वी पर उतरने का प्रयत्न किया। इस दिशा में पन्त पहले कवि हैं। उन्होंने १९३८ में 'रूपाभ' के सम्पादकीय में युग की परिस्थितियों के परिवर्त्तन एवं प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता का संकेत किया—

"इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस

नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"

प्रगतिवाद के मूल में युग की परिस्थितियों का जो संकेत पन्तजी ने दिया है, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। राजनीतिक क्षेत्र में द्वितीय महायुद्ध के काले बादल मँडरा रहे थे और फासिज्म का नग्न रूप बड़ा भयावह हो उठा था। इस शक्ति का संयुक्त विरोध करने के लिए कम्यूनिज्म का भी स्वागत हो रहा था। साथ ही राजनीति का मूलाधार आर्थिक अव्यवस्था बन गई थी। पूँजीवाद का विश्वव्यापी विकास अपनी चरमोन्नति की अवस्था में था और धीरे-धीरे उनकी शोषण की प्रक्रिया के प्रति क्रान्ति के चिन्ह प्रकट हो रहे थे। यह प्रतिक्रिया भी पूँजीवाद की भाँति ही विश्वव्यापी थी। ऐसे ही समय में पूँजीवादी एवं फासिस्ट देश अपने-अपने स्वार्थ साधन में एवं शक्ति बढ़ाने में व्यस्त थे और उनमें संघर्ष होना अनिवार्य हो गया था। सामाजिक क्षेत्र में कुरीतियाँ, परम्परा और अन्धविश्वास के कारण जनता का गला घुट रहा था। उस पर आर्थिक वैषम्य ने तो समाज की इन रूढ़िवादी शृंखलाओं को झनझनाकर इसके बद्ध एवं पीड़ित समाज के रुधिर में ऐसी उत्तेजना भर दी कि वह इसे तोड़ फेंकने के लिए उत्तेजित हो उठा। कृषक एवं अन्य शोषित वर्ग में जो जागृति गांधीजी की राजनीति ने की थी उसका प्रभाव भी दिखाई पड़ रहा था। वे अपने मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो रहे थे और इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति में व्यस्त पूँजीवादी संस्कृति की सत्ता पर आँच आने लगी थी। धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म इस बौद्धिक युग के मानदण्डों के विपरीत था अतः उसके प्रति भी घोर विद्रोह की भावना पनप रही थी। जहाँ तक आर्थिक स्थिति का प्रश्न है, वह बहुत जटिल थी। सन् १९३०—३२ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, बेरोजगारी, पूँजीवाद के कारण बढ़ता हुआ शोषण और आर्थिक वैषम्य, मानवतावादी समानता का दर्शन, पाशविक बल का बोलबाला, दरिद्रता का विस्तृत साम्राज्य इत्यादि ऐसे कारण थे जिनसे समाज के शोषित वर्ग में तीव्र विद्रोह की भावना पनप रही थी। विलासिता के मुख्य स्तम्भ किसान और मजदूर अपनी विपत्ति के मूल—पूँजीवाद—पर

आघात करने को उद्यत हो गए। इस प्रकार आर्थिक अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए एक सामूहिक प्रयत्न का सूत्रपात हुआ, जिसका मूल दर्शन मार्क्सवाद द्वारा प्रचलित सिद्धान्त बने। प्रगतिवाद के पूर्ववर्ती युग को बनाने वाली सामान्य परिस्थितियाँ यही थीं। इन विविध परिस्थितियों के मूल में जो समाजवादी यथार्थवाद और तज्जन्य विद्रोह की भावना थी उसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर बड़े व्यापक रूप में पड़ा। इसके अतिरिक्त साहित्यिक पृष्ठभूमि का विवेचन भी आवश्यक है। छायावाद का पूर्ण परिपाक हुआ। सूक्ष्म सौन्दर्यवादी दृष्टि की बारीकी बढ़ी। लाक्षणिक शैली एवं प्रतीक विधान का कौशल भी अपने उच्चतम रूप में विकसित हुआ। किन्तु नवयुग की भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं हो रही थी। कविता धीरे-धीरे रूढ़िग्रस्त होती जा रही थी, और युग के समाजवादी दर्शन को अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं थी। छायावाद युग की कविता व्यक्तिमानव को लेकर चलती थी किन्तु धीरे-धीरे समष्टि मानव का महत्त्व बढ़ रहा था। इसलिए छायावादी साहित्यिक मानदन्डों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इन विद्रोह के स्वरों को लेकर चलने वाली क्रान्तिवादी कविता का मुख्य तत्त्व प्रगतिशील नवीन सामाजिक यथार्थवाद को अपनाने की नवोन्मेषशालिनी दृष्टि—था, इसलिए यह कविता प्रगतिशील कविता कहलायी।

साहित्य की अपनी अखंड परम्परा होती है। उसी में समय-समय पर कोई विचारधारा महत्त्व प्राप्त कर लेती है और दूसरी ह्रासोन्मुखी हो जाती है। यह तो उसके भीतर प्राणशक्ति की बात है और फिर युग की परिस्थितियों से जो वातावरण बनता है उसका प्रभाव भी पड़ता है। इस प्रकार प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है जो ह्रासोन्मुखी छायावाद युग के साहित्य से ही जन्मा है फिर भी अपनी मूलभूत प्रेरणा में उससे एकदम भिन्न है। यों तो साहित्य की अखंड परम्परा है और वह निश्चय ही प्रगतिशील भी है किन्तु हिन्दी में जो साहित्य प्रगतिशील साहित्य के नाम से जाना जाता है वह निश्चय ही छायावाद के बाद का व्यापक सामाजिक चेतना वाला साहित्य है जिसमें मार्क्सीय सामाजिक यथार्थवाद को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसकी इसी विशेषता को लक्ष्य करके बहुत से सुधी लोग इसे मार्क्स की

देन, विदेशी साहित्य का अनुकरण अथवा 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' का अनुकरण मानते हैं और इसे सर्वथा अभारतीय और विदेशी विचारधारा घोषित करते हैं। किन्तु यह सब भ्रमात्मक विचार हैं। जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं कि तत्कालीन विषम सामाजिक परिस्थिति और ह्रासोन्मुखी छायावादी साहित्यिक परिस्थिति में प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव होना उस युग की एक स्वाभाविक आवश्यकता थी और इसीलिए यह हिन्दी साहित्य की परम्परा का ही विकास है। डा० रांगेयराघव के शब्दों में "वर्तमान काव्य छायावाद की परम्परा में से जन्मा है। उसने वह माधुर्य विरासत में पाया है जो उसे भाषा ने दिया है और नये दर्शन ने उसे पौरुष दिया है जो उसे जागरूक और चेतना तथा सकर्मक बनाता है।" वस्तुतः सामाजिक वैषम्य के आधार पर जो काव्य प्रगति कर सका उसमें छायावादी वैयक्तिकता के प्रति घोर विद्रोह था और इसीलिये उसका रूप प्रतिक्रियात्मक था। प्राचीन साहित्यिक मानदण्डों को हटाकर नवीन विचारधारा के अनुकूल रूप और भाव का मिश्रण हुआ। इसीलिए श्री रामेशवर वर्मा का मत है "छायावाद के पतन के साथ जनता की महान सांस्कृतिक चेतना के रूप में हिन्दी के साहित्यकों ने प्रगतिवाद के जीवन पोषक दृष्टिकोण को अपनाया। प्रगतिवाद कोई 'वाद' नहीं वरन् जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण है। प्रगतिशील साहित्य जनता की उस महान आशा, आकांक्षा और कर्मेच्छा की अभिव्यंजना है जो देश, समाज और मनुष्य को आर्थिक, राजनैतिक एवं बौद्धिक दासता से मुक्त होने की प्रेरणा देता है।" इस प्रकार स्पष्टतया प्रगतिवाद मार्क्सवाद का हिन्दी रूपान्तर न होकर हिन्दी साहित्य में सामाजिक मानवतावाद की प्रतिष्ठा है जो तत्कालीन युग में इस देश की आवश्यकता थी और जिसका स्वाभाविक विकास समझने में हमें राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास एवं तत्कालीन युग को बनाने वाली परिस्थितियों का ज्ञान सहायक होगा।

प्रगतिवाद के आविर्भाव एवं मूल में जिन परिस्थितियों का हाथ है उनका अध्ययन हम कर चुके, अब उसकी मूलवर्ती मानवतावादी विचारधारा के स्वरूप का विवेचन करेंगे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी विचार-धारा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—"आज नाना स्वरों में

वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव चित्त की गम्भीरतम भूमिका में निकल रहा है—मानवता ठीक है। पर मुक्ति किसकी ? क्या व्यक्ति मानव की ? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।"………इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य।…………जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब-तब साहित्य नये काव्य-रूपों की उद्भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ है। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है।" आगे द्विवेदी जी प्रगतिवादी साहित्य के निश्चित तत्त्व-दर्शन—मार्क्स के प्रचारित तत्त्वदर्शन की व्याख्या करते हैं—"इस विचारधारा के अनुसार—(१) संसार का स्वरूप भौतिक है, वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्तन या परिणाम नहीं है। (२) उसकी प्रत्येक अवस्था की व्याख्या की जा सकती है। कुछ भी अज्ञेय या अचिन्त्य नहीं है, कुछ भी रहस्य या उलझनदार नहीं है। इस मत को मानने वाला साहित्यिक रहस्यवाद में विश्वास नहीं कर सकता, प्रकृति या ईश्वर के निठुर परिहास की बात नहीं सोच सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दाश्त नहीं कर सकता। (३) इस मत में समाज निरन्तर विकसनशील संस्था है। आर्थिक विधानों में परिवर्तन के साथ-साथ समाज में भी परिवर्त्तन होता है। इस मत को स्वीकार करने वाला साहित्यिक समाज की रूढ़ियों को सनातन से आया हुआ, शासक या ईश्वर की निर्भ्रान्ति आज्ञाओं पर बना हुआ और ऊँच-नीच मर्यादा को अपरिवर्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता।" इस प्रकार मार्क्सवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है और साहित्य उसका साधन है।

वस्तुतः मार्क्सवाद का सौन्दर्य और कला से विरोध नहीं है, किन्तु वह पहले उन भौतिक अभावों को, जनता के दैन्य और दारिद्र्य को दूर करना चाहता है, जिसके कारण उसकी सौन्दर्यानुभूति में कमी पड़ती है। उसका सिद्धान्त है 'भूखे भजन न होय गुपाला।' इसलिए वह कला को जनसाधारण के उपभोग का विषय बनाना चाहता है और शोषित पीड़ित मानव को ही

अपने काव्य का आलम्बन बनाता है। सामन्तशाही और पूँजीवाद से उसका विरोध है। इस प्रकार इस साहित्य में जनवादी विचारधारा प्रवाहित हो रही है ; क्योंकि इसका जन्म ही जन-समूह की राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप हुआ है। इसीलिए पन्तजी ने 'ताजमहल' के सौन्दर्य को युग के जीवन के साथ मिलाकर देखा और उन्हें प्रतीत हुआ कि यह आत्मा का अपमान है, मानवता की उपेक्षा है—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !

वस्तुतः इस कविता में ताजमहल की आलोचना नहीं है वरन् कला के प्रति प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। इसमें तत्कालीन परिस्थितियों में छायावादी सूक्ष्म सौन्दर्यपेक्षिणी दृष्टि की व्यर्थता ही अधिक सिद्ध होती है। ताजमहल का युग दूसरा था, उसकी आलोचना एवं कल्पना तो यह सुकुमार कवि कर भी नहीं सकता।

वस्तुतः प्रगतिशील कविता छायावाद के बाद का साहित्यिक प्रयत्न है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में "यह युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है। इसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है।....जो साहित्य जनता का पक्ष लेगा वह जरूर शक्तिशाली होगा और अजेय गति से आगे बढ़ता जावेगा।....लेखक के लिए मूल समस्या यह है कि हम अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए किस तरह उन्हें विकसित करें कि हमारी जनता की चेतना निखरे और वह आज के दुखों और अभावों की दुनियाँ से निकलकर सुख और स्वाधीनता के प्रकाश में साँस ले सके।" यही कार्य प्रगतिशील साहित्य ने किया है। वस्तुतः प्रगतिवाद ऐसी जीवन दृष्टि बनकर आया जिससे कविता, उपन्यास, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में एक नवीन चेतना के दर्शन हुए। उसने जनवादी दृष्टिकोण को साहित्य के विविध क्षेत्रों में प्रतिष्ठित किया, नवीन दिशाओं एवम् मान्यताओं को अपनाया। यहाँ हम केवल प्रगतिवादी काव्य-धारा का अध्ययन कर रहे हैं।

प्रगतिवाद का प्रारम्भ छायावादी कवियों ने ही किया, यह इसकी आवश्यकता एवं स्वाभाविक विकास की घटना को पूर्णतया सत्य प्रमाणित कर देता है। पन्तजी ने 'युगान्त' में छायावाद का अन्त करते हुए 'युगवाणी' में जनवादी विचारधारा को अपनाया। ग्राम्या में प्रगतिवादी मान्यताओं का व्यापक प्रयोग है। प्रगतिवाद का आलम्बन जनजीवन है और भारत में जन-जीवन के केन्द्र हैं ग्राम। पन्तजी की ग्राम्या में ग्राम के समग्र रूप की झाँकी मिलती है। किसानों और मजदूरों, धोबियों और ग्रामवधू की ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्य नर-नारी के प्रति बौद्धिक सहानुभूति भी। धीरे-धीरे पन्त फिर पुराने आदर्शवाद में खो गए हैं। उनका प्रगतिवाद की ओर झुकाव हृदय परिवर्त्तन का द्योतक न होकर बौद्धिक परिवर्त्तन था। सामाजिक चेतना का आदर्श उनके लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ और वे पुनः व्यक्तिनिष्ठ आदर्शवाद के क्षेत्र में आ गए। दूसरे छायावादी कवि निराला नई भाषा, भाव और शैली को लेकर आए। इन्होंने निम्न-वर्ग को अपनी कविता का साध्य बनाया और उनकी दीन स्थिति के निर्माताओं पर कटु व्यंग किए। भिक्षुक, कुकुरमुत्ता, गर्म पकोड़ी, डिप्टी साहब आए, कुत्ता भौंकने लगा आदि व्यङ्गों में निराला ने पूँजीवाद की भर्त्सना की। किन्तु इन सभी कविताओं में कवि का अहम् झलकता है, सामाजिक दर्शन नहीं। अतः ये सब रचनाएँ उनके छायावादयुगीन व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया है। और जब प्रगतिवाद साहित्यिक परम्परा के विकास की ही एक सीढ़ी है तो पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी विचारों की छाया स्वाभाविक ही है। यह था प्रारम्भिक प्रगतिवाद जो छायावादी कवियों के काव्य में अवतरित हुआ। अंचल की कविताओं में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में यौवनगत प्रेम, पिपासा और रूप-लालसा विद्यमान है, जिनमें सौन्दर्यान्वेषण ही प्रधान है। उन्होंने वैयक्तिक भावनाओं को भी महत्त्व दिया है। धीरे-धीरे प्रगतिवाद अपनी व्यक्तिवादी, प्रकृतिकतावादी (अंचल में इनका प्राधान्य है) और आदर्शवादी (पन्त में कहीं-कहीं आध्यात्मवाद की झलक मिलती है) प्रवृत्तियों को छोड़ कर स्वस्थ सामाजिक दर्शन को अपना रहा है और अपने प्रकृत स्वरूप—जनवादी धारा—को प्रकट कर रहा है। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रांगेय राघव,

रामविलास शर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, चन्द्रकुंवर बर्त्वाल, भैरवप्रसाद गुप्ता, शिवमंगलसिंह सुमन, त्रिलोचन, अमृतराय, राजेन्द्र यादव प्रभृति कवियों ने इस स्वस्थ प्रगतिवादी (जनवादी) विचारधारा को अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। ये कवि अधिकांशतः मध्यवर्ग से निकल कर आए हैं।

अब तक हमने प्रगतिवाद के उद्भव एवं विकास का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया। अब हम प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे। वे इस प्रकार हैं—

१—सामाजिक यथार्थवाद—जन-समूह की आर्थिक विषमता एवं राजीतिक चेतना से उद्भूत इस जनवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति सामाजिक यथार्थवाद की है। यदि छायावादी काव्य में कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि का पल्लवन हुआ तो प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक यथार्थ-दृष्टि मूलमन्त्र के रूप में अभिव्यक्त हुई। यही प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। विलासी उच्च समाज के आधार स्तम्भ कृषक और मजदूर हैं। उन्हीं कृषक एवं मजदूरों को प्रगतिवाद ने अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया। इसीलिए ग्राम्य प्रकृति एवं ऊबड़-खाबड़ कच्चे घरों और उनमें खेलने वाले मटमैले बच्चों को इस धारा के कवियों ने सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से देखा। देखिए ग्राम चित्र—

यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।
झाड़ फूँस के विवर—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?

—पन्त

ग्रामीण वातावरण के प्रति कवि सहानुभूति प्रदर्शित करता है—

सड़े घूर की गोबर की बदबू से दबकर,
महक जिंदगी के गुलाब की मर जाती है।

—केदारनाथ अग्रवाल

यही नहीं, प्रगतिवादी कवियों ने 'ग्राम श्री' के चित्र भी खींचे हैं। इनमें 'लहलह पालक महमह धनियाँ', 'रजत स्वर्ण मंजरियों से लदी आम्र-तरु की

वाली', 'मरमर सनई की सोने की किंकरिणयाँ' और 'फूली सरसों पीली-पीली' आदि चित्रों में बड़ी सजीवता है।

'ग्राम श्री' की शोभा निरखना एवं ग्रामीण जीवन के प्रति सहानुभूति प्रकट करना आदि प्रगतिवादी जनवादी दृष्टि की आधार शिला है। इसी को पन्त जी ने 'विश्व को ग्रामीण नयन से देखना' कहा है—

देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से,
सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जनमन से।

(२) सामयिक समस्याओं के प्रति सचेष्टता—यह भी यथार्थवादी दृष्टि है। प्रगतिवादी कवि सामयिक जीवन की विभिन्न घटनाओं एवं परिस्थितियों की व्यंजना करता है। इस प्रकार जीवन और काव्य को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने की चेष्टा हुई। प्रगतिवादी आलोचकों का मत है कि कविता का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही कविता उत्कृष्ट है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। राष्ट्रपिता गांधी की मृत्यु पर प्रगतिवादी कवियों ने बड़ी छटपटाहट व्यक्त की। नागार्जुन की 'महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे हम' शीर्षक कविता को देखिए—

बापू मरे·········
अनाथ हो गई भारत माता····
अब क्या होगा····
हाय ! हाय ! हम रहे कहीं के नहीं
लुट गये
····रो रो करके आँख लाल कर लीं धूर्तों ने।

प्रगतिवादी कवि अपने देश की समस्याओं के प्रति तो जागरूक है ही, वह इससे भी आगे बढ़कर विश्व में कहीं भी मानवता के प्रति अन्याय होने पर अपनी सचेष्टता प्रकट करता है। यह उसकी विशाल सहृदयता है जिसके कारण उसका काव्य सचमुच बहुत ऊँचा उठ जाता है। चन्द्रकुँवर बर्त्वाल ने हिरोशिमा की बर्बादी पर आँसू बहाए हैं, अमरीका को कोसा है और पूँजीवाद के सभी गढ़ों के अवश्यम्भावी विनाश को बड़े विश्वास के साथ व्यक्त किया है—

हिरोशिमा का शाप—
एक दिन न्यूयार्क भी मेरी तरह हो जायगा;
जिसने मिटाया है मुझे वह भी मिटाया जायगा।
आज ढाई लाख में कोई नहीं जीवित रहा;
न्यूयार्क में भी एक दिन कोई नहीं रह पायेगा।।

× × ×

देख लो लन्दन मुझे पेरिस मुझे तुम देख लो;
है सभी के भाग्य में इस भाँति मिटना लिखा।

इसी प्रकार इन प्रगतिवादी कवियों ने प्रारम्भ से ही बंगाल के अकाल, भारत के बँटवारे एवं पाकिस्तान के निर्माण, हिन्दू मुस्लिम झगड़े एवं नरहत्या के नग्न ताण्डव, गणतन्त्र का आविर्भाव एवं जनता की भीषण कठिनाइयाँ—भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी, मँहगाई, बेकारी, झूठी लीडरी इत्यादि सामयिक घटनाओं एवं समस्याओं के प्रति अपनी जागरूकता प्रकट की है।

(३) बौद्धिकता और व्यंग का प्रसार—यों तो आधुनिक काल में द्विवेदी युग से ही साहित्य में बौद्धिकता का समावेश हुआ है। यह यन्त्र-युग की देन है। इसी कारण साहित्य में भी वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का विश्लेषण हुआ। प्रगतिवाद में इस बौद्धिक दृष्टि का रूप जन-जीवन की समस्याओं में दिखाई पड़ता है। कवि सुधार की भावना से प्रेरित होकर सामयिक समस्याओं के वर्णन में व्यंग्य-दृष्टि जोड़ देता है। वह पूँजीवाद को, उसकी शोषण की प्रवृत्ति को, आधुनिक राजनीति को, उसकी झूठी लीडरी को तथा अन्य आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के समर्थकों को अपने व्यंगों का लक्ष्य बनाता है। यों तो पन्त की 'ग्राम्या' में ही व्यंग के दर्शन होते हैं। ग्राम-युवती के असमय में ढलने वाले यौवन में कवि की करुणा प्रवाहित हो जाती है, तो कहीं बुड्ढ़े भिखारी का करुण चित्र है, किन्तु इस वर्णन के अंतर में कवि के हृदय का व्यंग्य झाँक रहा है, वह चेतावनी सी देता प्रतीत होता है। बुड्ढ़े भिखारी को देखिए—

सूखा है कुछ पैसे पा, गुनगुना
खड़ा हो आता वह घर
पिछले पैरों के बल उठ
जैसे कोई चल रहा जानवर।

आगे चलकर निराला के 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में बड़े तीव्र व्यंग्य हैं। इनके भी आगे चलकर नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल के तीव्र व्यंग्य मिलते हैं। नागार्जुन ने आज के जर्जर-समाज और आजादी का वैषम्य दिखाते हुए बड़ा नुकीला व्यंग्य किया है। यह आजादी कागजी स्कीमों के अतिरिक्त कुछ नहीं है—

कागज की आजादी मिलती
ले लो दो-दो आने में।

नागार्जुन के नुकीले व्यंग्य के मूल में सामाजिक दुर्दशा से उत्पन्न अन्त-र्व्यथा है। उनकी तिलमिलाहट पुलिस, हाकिम, लीडर सभी के अत्याचार के प्रति है।

(४) परिवर्तन की पुकार अथवा क्रान्ति की भावना—प्रगतिवाद में प्राचीन का परिवर्तन कर नवीन युग के अनुकूल बनाने की प्रेरणा है। इस पुकार में कवियों की क्रान्ति की भावना मुखरित हुई है। समाज, राजनीतिक और धर्म की बहुत सी रूढ़ियों एवं परम्पराओं में परिवर्तन करने की आवश्यकता युग-चेतना ने स्पष्ट कर दी है। इसीलिए प्रगतिवादी कवि सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्व्यवस्था से पीड़ित होकर विप्लव गान करता है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जावे।

—नवीन

और तभी सामाजिक दर्शन प्रतिष्ठित हो सकेगा। रामविलास शर्मा ने 'परिवर्तन की पुकार' अथवा क्रान्ति भावना को फसल के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है—

कुसंस्कृति भूमि यह किसान की
धरती के पुत्र की
जोतनी है गहरी दो चार बार दस बार
बोना महा तिक्त बीज असन्तोष का
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।

इस प्रकार प्रगतिवादी कवियों में क्रान्ति की भावना का विकास हुआ। ये प्राचीन वर्ण-भेद का नाश करके एक ऐसे संसार की स्थापना करना चाहते हैं जहाँ किसी प्रकार का शोषण न हो, सम्पूर्ण मानवता सुख से रह सके और ऐसी नई व्यवस्था क्रान्ति से होगी। इसीलिए कवि अब कला के मानदण्डों में परिवर्तन करने की पुकार भी करता है। अब तो नीति, सदाचार और धर्म का जन-जीवन से सम्बन्ध होगा तभी इसका स्वस्थ रूप प्रकट होगा।

प्रगतिवादी कवि प्राचीन में अमूल परिवर्तन नहीं चाहता वरन् समाज के गलित अङ्ग को अलग करके उसके शरीर को दृढ़ और सुरक्षित बनाना चाहता है। जीर्ण पुरातन के नष्ट होने पर नूतन के पल्लवित होने की कवि पंत की प्रार्थना सुनिए—

नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बंधन।
पावक पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन।

(५) **सांस्कृतिक समन्वय की भावना**—कुछ प्रगतिशील लेखक एक नवीन विश्व संस्कृति की कल्पना करते हैं। मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का निर्माण नहीं हो तो उसका मतलब यह था कि पुरानी संस्कृति के तत्व और स्वरूपों को साहित्यकार अपने में समेट कर अधिक पुष्ट और विकसित करें। इस प्रकार एक नवीन समन्वयात्मक संस्कृति को जन्म मिला। पंतजी के काव्य में सांस्कृतिक समन्वय की चर्चा है, जिसके मूल में अरविन्द का चेतनावाद और मार्क्स का समाजवाद है। इन

दोनों के समन्वय से पंत ने एक ऐसी विश्व संस्कृत की कल्पना की है जिसमें धर्म, जाति, वर्ण इत्यादि के भेद मिट जावेंगे और केवल मानव स्वभाव ही सुनकर मानव आदर्श बनाकर अपूर्ण को पूर्ण और असुन्दर को सुन्दर बनाएगा। इसी भावना की झलक इन पंक्तियों में मिलती है—

अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण।
उसे प्रतिष्ठित करके जग में दिया साम्य ने वस्तु विधान॥

ज्योत्स्ना में कवि विश्व संस्कृति की कल्पना और भी स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

सर्व देश, सर्व काल
धर्म, जाति, वर्ण काल
हिलमिल सब हों विशाल,
एक हृदय अगणित स्वर।

(६) राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना—प्रगतिवादी कविता में इन दोनों भावनाओं का विकास हुआ है। राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम की भावना का स्वरूप देश के अतीत गौरव-गान इत्यादि से भिन्न है। कवि अपने निवास-स्थलों (जनपद, ग्राम इत्यादि) की ओर देखकर प्रेम से मग्न होता है। इस प्रकार यदि पूर्ववर्ती देश-प्रेम की भावना सामान्योन्मुखी थी तो इस काल की भावना विशेषोन्मुख है। यह सामाजिक यथार्थवाद की भावना का ही एक रूप है। इसीलिए स्व-जन्मभूमि 'तरउनी ग्राम' से दूर पड़ा हुआ कवि नागार्जुन अपनी सिन्ध प्रवास की वेला में गा उठता है—

याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आतीं लीचियाँ औ' आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान

याद आते शस्यश्यामल जनपदों के
—रूप-गुण-अनुसार ही रखे गये वे नाम
आते वेणु-वन वे, नीलिमा के निलय अति अभिराम।

इसी प्रकार नागार्जुन ने मिथिला सम्बन्धी कुछ मार्मिक कविताएँ लिखी हैं, जो उनकी मातृभूमि प्रेम की भावना को व्यक्त करती हैं।

इसी प्रकार प्रगतिवादी कवियों ने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का भी विकास किया, एक तो विश्व संस्कृति के रूप में और दूसरे शोषण का सर्वत्र विरोध करने में। निम्नवर्ग या शोषितवर्ग के जीवन में जो हाहाकार है, जो व्यथा है वह सभी स्थानों में प्रायः एक सी है। प्रगतिवादी विचारधारा के अनुसार विश्व में पूँजीवादी अर्थ नीति से पीड़ित निम्नवर्ग का एक विशाल समुदाय निर्मित हो गया है। इन्हीं मजदूरों और दीनजनों की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवादी कवि का मुख्य लक्ष्य माना जाता है। और क्योंकि रूस इस दिशा में पर्याप्त प्रगति कर चुका है अतएव अनेक प्रगतिशील लेखकों में हमें रूस के प्रति सद्भावना के विचार मिलते हैं। ऐसे लाल रूस का दुश्मन समस्त मानवता का दुश्मन है। सुमन जी की 'मास्को है दूर अभी' 'चली जा रही है बढ़ी लाल सेना' में रूस के प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त हुई है। रूस के दुशमन फासिस्टों की भी इन्होंने खबर ली है।

(७) मानवता की महत्ता का प्रकाशन—सामाजिक यथार्थ-दृष्टि को अपनाकर भी प्रगतिवादी कहीं भी निराश नहीं होता। उसे मानवता की अपरिमित शक्ति में विश्वास है। मार्क्सवादी प्रमुख लेखक गोर्की में भी निर्बल को सशक्त दिखाने की और शोषित एवं पीड़ित वर्ग को कर्म का सन्देश सुनाकर उसमें उत्साह संचार करने की प्रवृत्ति है। प्रगतिशील कवि ने भी कर्म का सन्देश सुनाया है, उठते हुए व्यक्ति को उठाया और मानवता की अपरिमित शक्ति में विश्वास प्रकट किया है। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ गया है कि ईश्वर का अस्तित्व भी सन्देहास्पद हो गया है—

जिसे तुम कहते हो भगवान....
जो बरसाता है जीवन में

रोग शोक दुख दैन्य अपार····
उसे सुनाने चले पुकार ?

—नरेन्द्र

(८) प्रेम का शुष्क एवं सामाजिक रूप—कुछ सुधी लोग प्रगतिवाद पर नीरसता अथवा शुष्कता का आरोप करते हुए उसमें प्रेम-वर्णन के अभाव की ओर संकेत करते हैं। वस्तुतः यह धारणा गलत है। प्रगतिवादी को भी प्रेम और उसका दुःसह है किन्तु जीवन में अन्य कष्टों के आगे उसका स्वर दब जाता है। डा० रांगेयराघव ने भी इस पर विचार किया है—"प्रेम का अपना स्थान है। प्रगतिशील लेखकों ने प्रेम के प्रति प्रायः उदासीनता दिखाई है, क्योंकि उन्होंने प्रेम को बुर्जुआ वर्ग की विरासत माना है। उनकी राय में स्त्री पुरुष का प्रेम वर्गीय संस्कृति का अवशेष है। मनुष्य की सत्ता का सबसे जीवन्त भाग उनकी दृष्टि से अलग रहा है। यह ठीक है कि प्रेम मूल प्रवृत्ति होते हुए भी समाज पक्ष में अपना रूप निरन्तर युगों से बदलता रहा है, किन्तु वह प्रेम का बाह्यपक्ष है। वह पक्ष क्योंकि स्त्री और पुरुष का विषय सामाजिक स्थिति पर टिका है इसलिए उसका विरोध करना भी ठीक है जब कि प्रेम को पलायन के रूप में लिया जाये। किन्तु प्रेम जीवन को प्रेरणा भी देता है और उस रूप को न देखना भी एक अपूर्णता का प्रतिबिम्ब है।·······प्रेम भौतिक पर ही आश्रित होता है। दो मनुष्यों की चेतना का यह समाश्रय प्रेम जब हृदय में उत्पन्न होता है तब व्यष्टि की भूमि में समष्टि का बीज पड़ता है और एक व्यापकता सामने आती है—

कि चूम लिया तुमने प्यार से मेरी मुग्ध मुँदी पलकों को
कि पुलकित हो ज्योंही खोलकर आँखें देखा मैंने
तुम्हारा वह अमिताभ मुख मण्डल
कि लो, खुल पड़े
सत्ता के अगम देवालय के वातायन
अरे, यह मैं क्या देख रहा स्वप्न है कि सत्य यह ?
तुम्हारे हृदय पद्म से उफन रहा ज्योतिर्मय
जीवन का आदि स्रोत,

शिशु की मुस्कान सी निर्मल यह दुग्ध धारा
मानव की चिरकाम्या
तुम्हारे प्यार की संजीवन सुधाधारा !

—वीरेन्द्र कुमार जैन[1]

इस प्रकार डा० रांगेयराघव ने प्रगतिवादी प्रेम की सुष्ठु स्वरूप की सामाजिकता का दर्शन करते हुए लिखा है—"इस प्रेम में छायावादी दुरुहता नहीं है। इसमें रूप एक जाल नहीं जो कि जीवन को एकांगी बना रहा हो। वह तो उसकी वास्तविकता का आभास दे रहा है। समाज की विषमताएँ भी साहित्य में इसीलिए दिखाई जाती हैं कि वे मनुष्य के सौन्दर्य और सत्य पर आघात पहुँचाती हैं।·········यहाँ आलोक है, स्नेह है। यही स्नेह जब व्यक्ति के साथ रहता है तब तक कोमलता का सिरजन करता है, बाहर जब समाज का व्यापक क्षेत्र देखता है तो न्याय की ओर उसकी दृष्टि जाती है।"[2]

(६) नारी स्वातन्त्र्य की पुकार—प्रगतिवादी कवियों ने नारी को भी शोषित माना है। वह पुरुष की दासी बनकर बहुत समय से उसकी छाया बनी है, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो बैठी है। पन्तजी ने अपने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखा है "सामंत युग के स्त्री-पुरुष-सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है।" इस प्रकार नारी को विलास की सामग्री, केवल योनि मानने वाले सामन्ती आदर्शों का उन्होंने विरोध किया है और उसके स्वातन्त्र्य की वकालत की है—

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

इन कवियों ने वेश्या वर्ग के प्रति भी सहानुभूति व्यक्त की है। अंचल 'आज मरण की ओर में' वेश्या को मनुष्य की वासना का जीवित प्रतीक मानता है—

१—समीक्षा और यथार्थ—डा० रांगेयराघव पृ० ६१
२—वही पृ० ६१—६२

माता बनी दूध भर आया, किन्तु न भरता पापी पेट,
जननी बनकर भी पशुओं के आगे नग्न सकूँगी लेट।

असहाय पशु की भाँति रुदन करने वाली अबला की 'स्वतन्त्रता की पुकार' इन कवियों ने अपने काव्य में व्यक्त की --

उसे मानवी का गौरव दे पूर्ण स्वत्व दो नूतन,
उसका मुख जग का प्रकाश हो उठे अंध अवगुंठन।
खोलो हे मेखला युगों से कटि-प्रदेश से तन से,
अमर प्रेम ही बन्धन उसका वह पवित्र हो मन से।

—युगवाणी (नर की छाया)

(१०) **प्रगतिवाद का मूल स्वर—शोषित और शोषक वर्ग**—प्रगतिवादी काव्य का मूल स्वर शोषित और शोषक दो वर्गों में समाज को बाँटकर उनकी अभिव्यक्ति करता है। एक ओर शोषक वर्ग है तो दूसरी ओर शोषित। किन्तु फिर भी प्रगतिवादी शोषित वर्ग का ही अधिक वर्णन करते हैं—चाहे वह कृषक हो, मजूर हो, नारी हो। शोषक वर्ग के प्रति घृणा, वितृष्णा, व्यंग्य आदि की अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है। फिर भी उनका विशेष वर्णन नहीं है।

(११) **प्रगतिवादी काव्य का कलापक्ष**—प्रगतिवादी कविता जनसाधारण के उपभोग की वस्तु है अतः वह अत्यन्त सरल है। उसमें छायावादी दूरारूढ़ कल्पना का बहिष्कार कर कलाकार जीवन की वास्तविकता को लेकर इसी धरती पर चला है। इसलिए उनकी भाषा और शैली भी भावानुसारिणी है।

छन्द की दृष्टि से प्रगतिवादी कवियों ने बहुत प्रगति की है। उन्होंने जनगीत एवं लोक गीतों की शैली अपनाकर नई धुनों का सृजन किया है। जन-मन को संस्पर्श करने के लिए उसने बँधी हुई लय के भिन्न भिन्न ढाँचों से युक्त निर्दिष्ट छन्दों का व्यवहार किया है। नई-नई धुनों पर गीतों का सृजन हो रहा है।

भाषा की दृष्टि से भी इन कवियों में प्रगति के दर्शन होते हैं। आज बोलियों में रचना करने वाले प्रगतिवादी कवि भी बहुत हो रहे हैं। इन्होंने

अपनी प्रादेशिक बोलियों में उत्कृष्ट कविता का सृजन किया है। इन कवियों मे बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, बंशीधर पंडा, मुकुल, रमई काका, आदि प्रमुख हैं। उन्होंने भोजपुरी और राजस्थानी बोली में बड़ी मार्मिक कविता की रचना की है। वस्तुतः प्रगतिशील कवि का लक्ष्य भाषा को सरल, सुबोध, भावाभिव्यंजन के योग्य बनाना है। इसलिए भाषा के किसी निश्चित आदर्श को अमर न मानकर इन्होंने भावानुकूल भाषा को प्रश्रय दिया है।

जहाँ तक अलंकरण का प्रश्न है, प्रगतिवादी कवि ने प्राचीन रूढ़िवादी अलंकार योजना को छोड़ कर नवीन रूपक, उपमान एवं प्रतीक प्रस्तुत किये हैं। प्रगतिवादी कवि सामाजिक जर्जर रूढ़ियों के प्रति व्यंग्य करता है, इसीलिए कहीं-कहीं उसमें अन्योक्ति पद्धति दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः इन कवियों ने जो उपमाएँ प्रस्तुत की हैं वे चमत्कार प्रदर्शन के लिए न होकर भावों की अभिव्यक्ति के लिए हैं, इसलिए उनमें प्रेषणीयता है। इसीलिए उसकी शैली में उपमाएँ और रूपक इतने सरल हैं—

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे से लड़के आ जाते हैं अक्सर।
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले—पर फुर्तीले। —पंत

छन्द की गति, लय भाषा का सारल्य एवं शब्दों की योजना बड़ी स्वाभाविक एवं चित्रोपम है तथा भावों की अपूर्व प्रेषणीयता लिए हुए है।

सिद्धान्त रूप में कलापक्ष के अन्तर्गत प्रगतिवादी कवियों का आदर्श यही है कि सरल अभिव्यक्ति की प्रणाली के द्वारा जन मन का संस्पर्श हो सके और कला को दैनिक जीवन के लिए उपयोगी बनाया जाय। इस प्रकार कला के क्षेत्र में वे उपयोगितावादी ही हैं, फिर भी कहीं-कहीं पर कला एवं भाव के साथ अपनी प्रगतिशीलता की रक्षा करने वाले गीत भी हैं। जिनमें कवित्व है, प्राण है और प्रगतिवादी दर्शन भी।

प्रयोगवाद युग

हिन्दी साहित्य का वर्तमान काल प्रयोगवाद का युग है। पिछले लगभग बारह-तेरह वर्षों से नवीन प्रवृत्तियों वाले विशेष प्रकार के काव्य का निर्माण हो रहा है जिसे उसके प्रतिष्ठापक एवं उन्नायक अज्ञेय जी 'प्रयोगशील' काव्य के नाम से पुकारते हैं। वे इसे वाद की संज्ञा से अभिहित करने के पक्ष में नहीं हैं। वस्तुतः प्रयोगवाद शब्द सार्थक नहीं है। इस शब्द से साहित्य के भावपक्ष और कलापक्ष के अन्तर्गत नवीन प्रयोगों का होना लक्षित होता है किन्तु जैसा हम भी कह चुके हैं, साहित्य की एक अखण्ड परम्परा होती है। प्रगतिशीलता उसकी शाश्वत प्रवृत्ति है और इसीलिए बहुत प्राचीन काल से वर्ण्य-विषय, शैली आदि के क्षेत्र में नई-नई उद्भावनाएँ होती रही हैं। श्रेष्ठ कलाकार अपने व्यक्तित्व की छाप एवं मौलिकता के द्वारा नवीन प्रवृत्तियों का विकास करते हैं। इस प्रकार प्रयोगवाद नाम साहित्य के इतिहास में रूढ़ होने के कारण ही ग्राह्य हो सका है और अब यह एक निश्चित प्रवृत्ति-मूलक काव्य का बोध कराता है। कुछ सुधी लोग प्रयोगवाद से कलापक्ष के अन्तर्गत विभिन्न प्रयोगों का अर्थ लेते हैं और इसे रूपवाद अथवा फॉर्मलिज्म का पर्याय मानते हैं किन्तु इस वाद की कविता की कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं। कुछ अन्य लोग इसे 'नई कविता' के नाम से अभिहित करते हैं और पूर्ववर्ती कविता से इसकी भिन्नता इसके नव-जीवन के नवीन विश्लेषण और ताजगी से मानते हैं। किन्तु इसमें स्वस्थ नव-जीवन की नवीनता उतनी नहीं है जितनी पूर्ववर्ती युग की कविता से भिन्नता। प्रयोगवादी साहित्य से सहानुभूति रखने वाले कुछ आलोचक इसे अंग्रेजी के इलियट, पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में मानते हैं। इनसे भी आगे बढ़कर कुछ लोग इन कवियों की गणना प्रगतिवाद के विरोधी और देशी एवं विदेशी पूंजीपतियों के समर्थक पिट्ठुओं में करते हैं। इनमें वे प्रगतिवाद के विरोध की भावना पाते हैं। कुछ अन्य लोग प्रयोगवाद को छायावादी अतिशय वैयक्तिकता की प्रवृत्ति का बढ़ाव मानते हैं, तथा इसमें प्रगतिवादी सामाजिक यथार्थ की अनुभूति का विरोध मानते हैं। वस्तुतः कुछ प्रयोगवादी कवि भी इस वाद के कुछ निश्चित सिद्धान्तों का निरूपण नहीं कर सके हैं, कहीं-कहीं तो उनमें विरोधी बातें भी

लक्षित होती हैं। इसीलिए प्रयोगवाद के सम्बन्ध में बड़ी भ्रामक धारणाएँ फैली हुई हैं।

प्रयोग शब्द अंग्रेजी के 'एक्सपेरिमेन्ट' की तौल पर ही हिन्दी में चला था। वर्तमान युग विज्ञान-युग है और एक नवीन दृष्टि लेकर आया है जिसका नाम है 'प्रयोग दृष्टि' और कार्य है बौद्धिक विश्लेषण। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक युक्ति और तर्क द्वारा पदार्थों का विश्लेषण करता है उसी प्रकार प्रयोगवाद मानव के शरीर और मस्तिष्क-तत्त्व का विश्लेषण करता है। मानसिक भावनाओं का विश्लेषण करने के लिए वह अनेक प्रयोग करता है और उन्हें कविता में उतारता है। नवीन प्रयोगों के पक्षपाती प्रयोगशील कवि विभिन्न प्रकार के प्रयोग करके कविता का मार्ग निश्चित करना चाहते हैं। इस प्रयोग के झोंके में बड़ा अनर्थ भी हो रहा है। प्रयोग के नाम पर बहुत सी निरर्थक रचनाओं से काव्य का कलेवर बढ़ रहा है, गुरुडम को प्रश्रय मिल रहा है और प्रयोग के आवरण में बहुत से नवीन कवि अपनी अक्षमता को छिपा लेते हैं। वस्तुतः यथार्थवादी दृष्टि को प्रश्रय देने पर भी स्वानुभूति का अभाव होने के कारण अनिर्दिष्ट धारणाएँ फैल रही हैं, जो भी नया पुराना है वह प्रयोग के आवरण में है।

प्रयोगवाद का छोटा-सा इतिहास है। इसका प्रारम्भ सन् ४३ में प्रथम 'तार सप्तक' के प्रकाशन से ही माना जाता है। इस 'तार सप्तक' में सात कवियों—गजानन मुक्ति बोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा-कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय की कविताओं का संग्रह हुआ है। इनके बाद प्रयोगवादी कविताएँ विभिन्न पत्रिकाओं में निकलती रहीं। सन् ४७ में प्रयोगवाद के प्रवर्तक कवि अज्ञेय ने 'प्रतीक' पत्रिका द्वारा प्रयोगवादी साहित्य को बढ़ावा दिया। सन् ५१ में 'दूसरा सप्तक' कविता संग्रह निकला जिसमें भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुरसिंह, नरेश मेहता, रघुवीरसहाय और धर्मवीर भारती की कविताएँ हैं। इधर 'पाटल' और 'दृष्टिकोण' नामक मासिक पत्रिकाओं में भी प्रयोगवादी कविताओं को स्थान मिलने लगा है। इधर सन् १९५४ से डा० जगदीश गुप्त के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं का एक अर्द्ध वार्षिक संग्रह निकलने लगा

है जिसका नाम है 'नई कविता'। प्रयोगवाद के सप्तक-परम्परा के अतिरिक्त अन्य कवि भी हैं जिसमें चन्द्रकुँवर वर्त्वाल, केदारनाथसिंह, सूर्यप्रताप, राजेन्द्र यादव प्रसिद्ध हैं। साथ ही सप्तक परम्परा के सभी कवि प्रयोगवादी ही हैं। इनमें रामविलास शर्मा तथा भवानीप्रसाद मिश्र तो पूर्णतया प्रगतिवादी ही हैं। प्रयोगवाद के मुख्य कवि ये हैं—अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र, गजानन मुक्तिबोध, शमशेर, भारतभूषण, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, रघुवीरसहाय और नरेश मेहता। यही प्रयोगवाद का अपना संक्षिप्त बारह-तेरह वर्षों का इतिहास है। इसकी थोड़ी-सी पृष्ठभूमि भी है, उसका विचार हम आगे करेंगे।

हिन्दी में प्रयोगशील कविता एक प्रकार से छायावाद युग से ही लिखी जा रही थी। प्रसादजी ने 'प्रलय की छाया' और 'वरुणा की शान्त कछार' लिख कर वस्तु-सत्त्व और शैली एवं छन्द विषयक नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। किन्तु वह मूलतः और पूर्णतया छायावादी थे अतः अपनी कला, कल्पना और अनुभूति के पृथक् मानदण्डों के कारण उनकी उक्त रचनाओं में शुद्ध प्रयोगवाद के दर्शन नहीं होते, केवल इसका पुट या चिह्न मिलता है। निराला जी ने मुक्त छन्द और सामाजिक यथार्थ सम्बन्धी 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', और 'नये पत्ते' में नवीन प्रयोग प्रस्तुत किए और प्रसाद की प्रयोगवादी प्रवृत्ति का विकास किया। निराला ने मुक्तछन्द के बहुत से प्रयोग किये हैं। प्रारम्भ में प्रयोगवाद में 'रूपवाद' या कलापक्ष का प्राधान्य था, परवर्ती कवियों ने उसमें युद्धोत्तर-कालीन मानवीय एवं व्यक्तिगत भावनाओं, व्यापक सौन्दर्य-बोध, विद्रोह, वैचित्र्य, तीव्र उद्‌गार और अतृप्त एवं अपूर्ण रागात्मकता इत्यादि प्रमुख भावपक्ष की प्रवृतियों का विकास करके इस काव्य की व्यापकता को बढ़ाया और इसे ठोस जीवन-दर्शन का आधार देने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में भगवती-चरण वर्मा, अज्ञेय, अदक और बाद में सुमित्रानन्दन भी इस क्षेत्र में आए और आज तो बहुतेरे 'नई कविता' करने का प्रयास कर रहे हैं जिनमें गिरजा कुमार माथुर, नेमिचन्द्र, भारती, भारतभूषण, मुक्तिबोध, इत्यादि महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। प्रयोगवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः प्रथम 'तार सप्तक' के प्रकाशन से ही इस वाद की

कविता का सृजन प्रारम्भ हो गया था, जिसका रूप-निखार एवं सिद्धान्त-स्थापन सन् १९४७ में 'प्रतीक' के प्रकाशन से हुआ।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की काव्यधारा समानान्तर प्रवाहित हुई और हो रही हैं। प्रारम्भ में ये धाराएँ एक-दूसरे से इतनी घुली-मिली थीं कि दोनों में पार्थक्य करना कठिन था। दोनों ही धारा के कवियों में तीन सामान्य प्रवृत्तियाँ थीं—(१) परिवर्तन प्रियता एवं विद्रोह की भावना, (२) बौद्धिकता का प्राधान्य और (३) नये प्रतीकों की ओर रुचि। इन दोनों धाराओं का यह मिश्रण एकरूपता का विधायक था, इसीलिए अज्ञेय जी की प्रारम्भिक 'जाग्रत अहं वाली' असामाजिक रचनाएँ 'हंस' पत्रिका में ठाकुर शिवदानसिंह चौहान के सम्पादकत्व में प्रगतिवादी कविताओं के नाम से प्रकाशित हुई। इसका कारण यही था कि छायावाद के सूक्ष्म एवं वैयक्तिक दर्शन के स्थान पर विद्रोहात्मक स्वरों को वहन करने वाली सभी कविताओं को शुरू-शुरू में प्रगतिवादी माना जाता था। आगे चलकर इन दोनों का पार्थक्य बढ़ा। धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि प्रयोगवादी रचनाओं के मूल में प्रगतिवादी सामाजिक यथार्थवाद के स्थान पर असामान्य चरित्रों के मनोविश्लेषण का प्राधान्य है और इसीलिए 'अहंवाद' का रूप बड़ा प्रबल है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में असामान्य चरित्र का मनोविश्लेषण एवं अहंवाद अपनी चरम कोटि का है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से प्रयोगवाद पर लगाये जाने वाले इस आरोप का निराकरण हो जाता है कि वह केवल शिल्प-शैली के नवीन प्रयोगों को लेकर चलता है। प्रयोगवाद के मूल में भी समाजशास्त्रीय दर्शन है किन्तु वह वैयक्तिकता से एवं अहंवाद से अत्यधिक प्रभावित है। उस पर मार्क्स के स्थान पर फ्रायड और डारविन का प्रभाव अधिक पड़ा है।

प्रगतिवाद से प्रयोगवाद का उक्त पार्थक्य किन परिस्थितियों में हुआ, यह भी विचारणीय है। प्रगतिवाद जब मार्क्सवादी-दर्शन एवं दलगत राजनीति से बद्ध हो गया, उसमें मत के प्रचार का आग्रह प्रबल हो गया, राजनीतिक जागरूकता का प्राधान्य हो गया और सबसे अधिक मध्यवर्गीय जीवन की चेतना का प्रकाशन करते-करते कविगण ऊब गये तब उनमें अहंवाद एवं वैयक्तिकता की भावना आयी। इन भावनाओं को बढ़ाने वाला पाश्चात्य दार्शनिकों का प्रभाव

भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और डार्विन के अस्तित्व-वाद का विशेष प्रभाव पड़ा। यूरोपीय साहित्य में मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ—एक प्रकृतिवाद या प्रकृतवाद (Naturalism) और दूसरा अतियथार्थवाद या अतिवस्तुवाद (Surrealism)। प्रकृतिवाद को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानवतावाद का विपरीतार्थक माना है। अतियथार्थवाद के प्रमुख लेखक फ्रांस के जोला का कथन है—"साहित्य में हमें मानव के मांस और मस्तिष्क का विश्लेषण करना है।" विश्वकवि वाल्ट ह्विटमैन का कथन है—'मैं आदि से अन्त तक शरीर विज्ञान गाता हूँ। मैं अपने शरीर पर कविता करूँगा, अपनी अपूर्णतया के गीत गाऊँगा, ताकि मैं पूर्णता और आत्मा तक पहुँच सकूँ।" इस कथन में काल्पनिक जगत का आश्रय खोजकर मन को संतुलित करने का दर्शन है जो पूर्णतया वैयक्तिकता एवं अहं भाव की अभिव्यक्ति करता है और सामाजिक यथार्थ का तिरस्कार करता है। प्रकृतवादी लेखक में फ्रायड, युंग, एडलर का प्रभाव देखने योग्य है। इन्होंने मनुष्य की यौन वर्जनाओं को महत्त्व दिया। साहित्य का मूल मन्त्र ही इनकी दृष्टि में दमित वासना का प्रकाशन है। इन प्रवृत्तियों का विकास पाश्चात्य साहित्य में डी० एच० लारेन्स वर्जीनिया वुल्फ, टी० एस० इलियट, जेम्स जोयस, बर्ट्रेन्ड रसेल आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। इसका प्रधान रूप सामाजिक एवं असामाजिक चरित्रों का मनो-विश्लेषण करके दमित एवं कुंठित यौन वर्जनाओं को जीवन के मूल सत्य के रूप में उद्भासित करना है।

यूरोपीय साहित्य के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित उक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का हिन्दी के वर्तमान युग की कविता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। प्रयोगवाद के प्रवर्तक कवि अज्ञेय डी० एच० लारेन्स, टी० यस० इलियट इत्यादि से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। इसलिये यौन वर्जनाओं का उद्घाटन एवं यौन सम्बन्धी प्रतीकों की प्रचुरता प्रयोगवादी कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति है।

यहाँ तक प्रयोगवाद का ऐतिहासिक विवेचन एवं उस पर विदेशी साहित्य के प्रभाव का निरूपण हुआ। अब हम प्रयोगवादी कविता के विविध पक्षों का

उद्घाटन करने वाले प्रमुख प्रयोगवादी आलोचकों के कथन प्रस्तुत करेंगे। धर्मवीर भारती प्रयोगशील काव्य की सम्भावनाओं की चर्चा करते हुए इसे स्वस्थ जनवादी कविता की विकास शृङ्खला की एक कड़ी मानते हैं।

धर्मवीर भारती ने प्रयोगशील कविता की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है—"जहाँ तक इस काव्य ने नई परिस्थितियों से प्रभावित नई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए नए काव्य-रूप, नई कल्पनाएं, नई गठन खोजी वहाँ तक यह काव्य निश्चय विकास और प्रगति में न केवल सहायक सिद्ध हुआ है वरन् वह एक बहुत महत्त्वपूर्ण चरण रहा है।"

श्री रामेश्वर शर्मा ने प्रयोगवाद के जन्म का कारण बदलती हुई परिथिति में सामाजिक गतिक्रम को व्यक्त करने के लिये प्राचीन एवं परम्पराबद्ध अभिव्यंजना पद्धति की अक्षमता को माना है। उनका मत है कि प्राचीन रूढ़ियों और संस्कारों से जब मनुष्य को एक प्रकार की ऊब हो जाती है तब वह नवीनता की चाह करता है। इस कारण जीवन और सौन्दर्य के मानदण्ड भी बदलते हैं, जैसे छायावाद का सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य दर्शन प्रगतिवाद-युग में सामाजिक यथार्थ-दर्शन की भूमिका पर उतर आया।

श्री रामेश्वर शर्मा ने प्रयोगवाद की उत्पत्ति के मूल कारणों पर प्रकाश डाला है। संक्षेप में उनका मत इस प्रकार है—

१—जब कोई प्राचीन जीवन एवं सौन्दर्य का मानदण्ड रूढ़िबद्ध हो जाता है। तब मानव मन नवीन मानदण्डों का निर्माण करता है।

२—इन नवीन मानदण्डों से नवीन मान्यताएं, नवीन सामाजिक क्रम तथा अन्य प्रकार से नवीनता का प्रादुर्भाव होता है और उसका प्राचीनता से संघर्ष होता है।

३—कोई भी साहित्य सामाजिक क्रम से कदम मिलाकर नहीं चलता तो पिछड़ जाता है। इसलिये साहित्य में भाव के क्षेत्र में नूतनता शीघ्र ही ग्राह्य हो जाती है।

४—शैली क्षेत्र में प्राचीन रूढ़ एवं परम्परा बद्ध अभिव्यंजना पद्धति जब नवीन भावनाओं को पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं होती

तो लेखक या कवि के मानस में एक संघर्ष पैदा होता है।

५—लेखक या कवि के हृदय में नवीन वस्तु और प्राचीन शैली के संघर्ष के फलस्वरूप भावव्यंजना के क्षेत्र में नवीन प्रयोग होते हैं। प्रयोगवाद की नई कविता का जन्म इन्हीं कारणों से हुआ।

६—प्रयोगवादी कविता उक्त नवीन वस्तु एवं प्राचीन शैली के संघर्ष के फलस्वरूप उद्भूत हुई इसीलिये उसमें नवीन शिल्प का आग्रह है और भावाभिव्यंजना में सक्षम नवीन प्रतीक एवं उपमानों का ग्रहण।

अज्ञेय जी ने 'तार सप्तक' की भूमिका में भाव के क्षेत्र में नवीनता के ग्रहण को प्राथमिकता नहीं दी, क्योंकि यह तो किसी भी जीवन्त साहित्य का मूल लक्षण है। उन्होंने कवि कर्म या अभिव्यक्ति की समस्या को ही प्राथमिकता दी है जिसका संस्कार भावपक्ष में नूतनता का संस्कार हो जाने के बहुत बाद में होता है। इस कथन को कुछ लोग ले उड़े और प्रयोगवाद का तात्पर्य शिल्प शैली के क्षेत्र में नवीन-नवीन प्रयोग मानने लगे।

डा० देवराज ने इस नई कविता का उद्भव एवं विकास इस प्रकार दिखाया है। उनका कहना है कि पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त एवं अरोचक हो उठी है, दूसरे काव्य-भाषा को जन-भाषा के निकट लाना है अथवा काव्य निबद्ध अनुभूति को जन-जीवन के सम्पर्क में लाना है, तीसरे, बदले हुए जीवन की नई सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिए, अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये नवीन प्रयोग करते हैं। इसीलिये 'नई शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव-जगत के नये पहलुओं को नई दृष्टि से देखना और उन्हें नए चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्ति देना।"[१] इस प्रकार सामाजिक यथार्थ अथवा जन-जीवन को लेकर चलने वाला प्रयोगवाद इस समय अभिव्यंजन शैली की समस्या हल कर रहा है। इसी अर्थ में वह इलियट, पाउण्ड आदि की शैली से प्रभावित है। और इन्हीं प्रयोगों में कहीं वह सफल होता है तो अन्यत्र असफल लेकिन निर्झरिणी के समान पर्वतीय मार्ग में गिर उठकर वह प्रगति और विकास के

१—नई कविता—डा० देवराज

पथ में अग्रसर हो रहा है, इसमें सन्देह नहीं। इसी विकास-क्रम में संभवतया कहीं-कहीं कवि शिल्प-शैली की समस्या से इतना उलझा हुआ प्रतीत होता है कि नवीन भावनाओं का रंग भी फैलकर उसे बिगाड़ देता है; और इससे हिन्दी के कुछ आलोचक चौंक जाते हैं।

अज्ञेय जी प्रयोगवाद के सैद्धान्तिक पक्ष का उद्घाटन करते हुए कहते हैं—"प्रयोगशील कविता में नए सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।" अन्यत्र अज्ञेय जी कहते हैं कि "इसलिए वह (कलाकार) व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है।"

गिरिजाकुमार माथुर नवीन प्रयोगों के लक्ष्य की चर्चा करते हैं—"प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खंड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस व्यापक' सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।"

श्री हंसकुमार तिवारी ने प्रयोगवाद की त्रुटियों का परिहास करते हुए कहा है "वर्त्तमान युग प्रेरणाओं के प्रयोग का युग है। इसीलिए इसमें त्रुटि है, अभिनय है, असंयम है। जब इसकी गवेषणा खत्म हो जायगी और निष्कर्ष हो जायगा, तो साहित्य की गङ्गा की आश्विन धारा सी संयत और निर्मल हो जायगी। यही विद्रोह फिर शृङ्खला हो जायगी। इसीलिए हमें सनातन परिपाटी के ध्वंस का रोना नहीं रोना चाहिए।"

कुछ आलोचकों एवं कवियों ने प्रयोगवाद की धारा को अस्वस्थ बतलाया है और उसके प्रति अपना क्षोभ प्रकट किया है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयीजी प्रयोगवाद के विरोधी हैं। वे प्रयोगमात्र का साहित्य-क्षेत्र में कोई स्थान नहीं मानते, इसलिए उनकी दृष्टि में ये वैचित्र्यप्रिय, अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त एवं वृत्ति के सहज अभिनिवेश से शून्य प्रयोगवादी रचनाएँ अनुभूति की ईमानदारी से रहित हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं। इसलिए उन्होंने अपना फैसला सरपंच की हैसियत से सुना दिया—"किसी भी

अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्यिक-सृजन का स्थान नहीं ले सकता।" इसीलिए उनकी दृष्टि में 'प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं।'

प्रयोगवादी कविता के सिद्धान्त पक्ष का उद्‌घाटन करते हुए हमने उसके विविध प्रकार के आलोचकों की विचारधारा का भी संक्षेप में परिचय दिया। उक्त विस्तृत विवेचन का लक्ष्य है, इस 'नई कविता' के सम्बन्ध में विविध दृष्टिकोणों से पाठक का साक्षात् परिचय कराना और इसीलिए प्रमुख आलोचकों के मतों की उद्धरणी की गई है। उपर्युक्त विवेचन से प्रयोगवादी कविता के भावपक्ष एवं कलापक्ष की स्थिति स्पष्ट हो चुकी है। अब हम प्रयोगवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का स्वरूप विवेचन उसकी अपनी कविता के आधार पर करेंगे।

प्रयोगवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१—**कल्पनाशीलता के स्थान पर यथार्थवाद का आग्रह**—छायावाद में कल्पनाशीलता का प्राधान्य था, प्रगतिवाद में सामाजिक-यथार्थ अथवा वास्तविक यथार्थवाद की प्रवृत्ति थी और प्रयोगवाद में अतियथार्थवादी प्रवृत्ति की प्रचुरता लक्षित होती है। छायावाद कल्पना में प्रकृति के अनेक रंग रूपों को उदात्त रूप प्रदान किया गया। प्रगतिवाद में सामाजिक यथार्थ की प्रवृत्ति की प्रचुरता रही। प्रयोगवादी कविता में फ्रायडियन मनोविश्लेषण के प्रभाव से नग्न यथार्थवाद या अतियथार्थ का चित्रण हुआ। प्रयोगवाद की यथार्थ की प्रवृत्ति की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

(i) **सामाजिकता का अभाव**—प्रयोगवादी समाज कल्याण या वास्तविक यथार्थवाद के आदर्श को लेकर नहीं चलते। वस्तुतः ये व्यक्ति को समाज में चलते हुए देखने के अभ्यासी नहीं वरन् अपनी वैयक्तिक कुरूपता का प्रकाशन करके समाज के मध्यवर्गीय मानव की दुर्बलताओं का प्रकाशन करते है। इसीलिए कहीं-कहीं प्रयोगवादी कवि अपनी यथार्थवादिता एवं ईमानदारी दिखाने के लिए यौन वर्जनाओं एवं कुंठित वासनाओं का चित्रण करते हैं तथा अन्य ऐसे ही कौशलों का सहारा लेते हैं जिनसे उनके मन की

नग्न एवं अश्लील मनोवृत्तियों का यथार्थ चित्रण होता है। उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

इन कवियों की व्यक्तिवाद की अराजकता सबसे अधिक नारी के प्रति अभिव्यक्त की गई भावनाओं में मिलती है। आरसीप्रसाद नारी को नागिन और बाघिन के रूप में चित्रित करते हैं—

आओ मेरे आगे बैठो
जैसे बैठी होती काली
काली नागिन दो जिह्वा वाली····
उगलो जहर ओंठ पर

× × ×

जैसे बैठी होती बाघि
लगता हो
अब झपटे मानों अब निगले।

दमित वासनाओं की कुंठा का चित्र भी देखिये। अज्ञेय ने वासना की छाया का वर्णन अपने 'चिन्ता' काव्य में किया है—

"छाया छाया तुम कौन ?
ओ श्वेत, शान्त घन अवकुंठन ! तुम कौन सी आग की तड़प छिपाये हुए हो ?
ओ शुभ्र शान्त घन परिवेष्टन तुम्हारे अन्तर में कौनसी बिजलियाँ सोती हैं।'············
वह है मेरे अन्तरतम की भूख।"

(ii) कल्पनाशीलता की प्रक्रिया—छायावादी कवियों ने प्रकृति के चिर-परिचित उपमानों को अपनी उदात्त कल्पना से संजोकर वातावरण में बड़ी मृदुलता पैदा कर दी थी, प्रयोगवादी कवि उसकी क्षुद्रता उद्घाटन करने में ही अपनी यथार्थवादिता का परिचय देता है। अज्ञेय ने छायावादी शीतल चाँदनी का उपहास एवं बौद्धिकता का नग्न यथार्थ 'शिशिर की राका निशा' कविता में दिखाया है—

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार ।
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह
शून्य के अवलेप का प्रस्तार—

इन कवियों को रंगीन आवरण में छिपी कुरूपता का दर्शन भी होता है। यही नग्न यथार्थवाद का रूप है। जहाँ भी ये अपनी यथार्थवादी पैनी दृष्टि फेंकते हैं वहीं कुरूपता खोज निकालते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार यह मन की निम्नतम और अवचेतन की पाशविक प्रवृत्तियों का अनियन्त्रित उद्रेक है। उक्त कविता में ही आगे कवि को जो दिखलाई पड़ता है वह उसकी उक्त प्रकार की मानसिक प्रक्रिया का सूचक है—

इधर-केवल झलमिलाते
चेत-हर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्धमुट्ठी में
सिहरते-से पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे दइमारे पेड़।

(iii) **लघुता के प्रति दृष्टिपात**—छायावादी कवि ने अपनी उदात्त कल्पना के सहारे प्रकृति तथा वस्तु जगत की लघु वस्तुओं का सजीव वर्णन किया तथा मानवीय सूक्ष्मभावों का मूर्त्तिकरण किया। प्रगतिवादी कवियों ने पहली बार मानव जगत के लघु और क्षुद्र प्राणियों को उच्च मानव के रूप में चित्रित किया। उनके जीर्ण-शीर्ण रूप में मानवीय सौन्दर्य का उद्घाटन उनकी अपनी विशेषता थी। प्रयोगवादी कवियों ने अपनी असामाजिक एवं अहंवादी प्रकृति के अनुरूप ही मानव जगत के लघु और क्षुद्र प्राणियों पर साहित्यिक दृष्टिपात करके प्रकृति और यन्त्र-जगत् की लघु वस्तुओं को अपने काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इसीलिए कविता में पहली बार 'कंकरीट के पोर्च' 'चा की प्याली' 'सायरन', 'रेडियम की घड़ी', 'चूड़ी का टुकड़ा', 'बाथरूम,' 'कोशिए,' 'गरम पकौड़ी,' 'बाँस की टूटी हुई टट्टी', 'फटी ओढ़नी की चिन्दियाँ', 'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव धैर्यधन 'गदहा,' बच्चे,' 'दइमारे पेड़' इत्यादि का चित्रण हुआ। रात के इस

चित्रण में यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है—

ठंडी हो रही है रात,
धीमी यन्त्र की आवाज,
रह रह गूंजती अज्ञात।
स्तब्धता को चीर देती है,
कभी सीटी कहीं से दूर इंजन की,
कहीं मच्छर तड़प भन भन अनोखा शोर करते हैं,
चूहे भूखे निकल कर तोड़ ताबड़ जोर करते हैं।

(iv) बौद्धिकता की प्रतिष्ठा—प्रयोगवादी कवियों ने भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा की। धर्मवीर भारती ने इस बौद्धिकता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है 'प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के सामने एक प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढांचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिह्न उसी की ध्वनिमात्र है।" और इस बौद्धिकता की प्रतिष्ठा क्यों हुई है यह डा० जगदीश गुप्त के शब्दों में सुन लीजिये—

"वह (नई कविता) उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नए कवि के समान है—। बहुत अंशों में नई कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावुक वर्ग पर आश्रित रहती है।" अज्ञेय की 'हरी घास पर क्षण भर' कविता में भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा हुई है जिसमें कवि स्वयं ही अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए समाज की शङ्का को प्रकट कर देता है क्योंकि वह धुंधले में किसी के साथ दुबका बैठा है—

चलो, उठें अब,
अब तक हम थे बन्धु
सैर को आए—
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं।

यह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने।

कवि का हृदय समाज से भयभीत है क्योंकि वह अपनी भावुकता को भूलकर बौद्धिकता के विशेष तर्कवाद को अपना चुका है जिसका रूप इन शब्दों में है—'दुनिया सोच सकती है', 'कोई न जाने क्या सोचे' इत्यादि। ऐसा क्यों है ? क्योंकि यह कवि सामाजिकता से दूर अपनी अलग खिचड़ी पका रहा है और मनोविज्ञान के 'रैशनलाइजेशन' सिद्धान्त से अपनी व्यक्ति-वादिता की अराजकता को, अपनी स्वच्छन्दता को एक स्वस्थ व्यवहार सिद्ध करना चाहता है। वस्तुतः यह उसकी एकाकी जीवन की हीनता की भावना और स्वच्छन्दता का संघर्ष है जो बौद्धिकता (तर्कवाद) या रैशनलाइजेशन को लेकर प्रच्छन्न रूप में प्रकट हुआ है।

(२) प्रेम का स्वरूप—प्रयोगवादी काव्य में प्रेम का शाश्वत स्वरूप मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित है। उसमें साधनात्मक प्रेम का अभाव है और मांसल प्रेम एवं दमित वासना की अभिव्यक्ति की प्रचुरता है। प्रयोगवादी कवि अपनी ईमानदारी अपनी यौन वर्जनाओं के चित्रण में प्रदर्शित करता है। इस प्रकार मनोविश्लेषण-विज्ञान का प्रयोगवादी कवि पर सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि वह सेक्स अथवा कामप्रवृत्ति को समस्त मानव प्रवृत्तियां और प्रेरणाओं का केन्द्र बिन्दु स्वीकार कर सका। अज्ञेय ने 'तार सप्तक' की भूमिका में भी इस बात को स्वीकार किया था कि आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति सेक्स सम्बन्धी वर्जनाओं से आक्रान्त है; उसका मस्तिष्क दमन की गई सेक्स की भावनाओं से भरा हुआ था। इसलिए उसकी सौन्दर्य-भावना भी सेक्स से पीड़ित है। और यही कारण है कि प्रयोगवादी कवि में न तो प्रेम का सामाजिक रूप है, न रहस्यात्मक-आवरण वाला और न छायावाद का सा सूक्ष्म एवं भावनात्मक। अज्ञेयजी ने प्रेम, सरलता एवं स्वच्छता के अभाव का कारण धार्मिक और मानसिक संस्कारों को बताया है वस्तुत यह मनोविश्लेषण-वाद का ही प्रभाव है। प्रयोगवादी कवि की वासना बादलों को देखकर उद्दीप्त हो उठती है और वह अपनी दमित वासना को अपनी तथाकथित

अतियथार्थवादिता के कारण प्रकट कर देता है—

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है, अभिशप्त
तुम कहाँ हो नारि ?

(३) विद्रोह का स्वर—कला के क्षेत्र में छन्द-विधान तथा भाषा शैली के प्रति विद्रोह हुआ और भावक्षेत्र में प्राचीन रूढ़ियों का परित्याग कर दिया गया है। इसका कारण युद्धोत्तरकालीन मध्यवर्ग की जर्जर अवस्था है। मध्यवर्ग ने ही विद्रोह किया और इसी को प्रकट करने के लिए तीव्र उद्गार व्यक्त किए। सामाजिक परिस्थिति की उलझन का जो स्वर कुकुरमुत्ता में मुखरित हुआ था वह आज भी विद्यमान है। अज्ञेय की कविता में आततायी सामाजिक परिवेश को चुनौती है—

ठहर, ठहर, आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।

(जनाह्वान:इत्यलम)

साहित्यिक परम्परा के प्रति भी यह विद्रोह की भावना बड़ी व्यापक है। अजितकुमार की 'कवियों का विद्रोह' शीर्षक कविता प्रयोगवादी साहित्यिक परम्परा के विद्रोह की प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर रूप प्रस्तुत करती है—

"चाँदनी चन्दन सदृश"
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे :
चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है।
हम कहेंगे जोर से :
मुँह घर—अजायब है
जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिन्दा और मुर्दा
भाव रहते हैं।

(४) अतृप्त रागात्मकता—प्रयोगवाद में, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, विद्रोह के तीव्र उद्गार प्रकट हुए हैं। इस कारण कवियों की रागात्मकता को प्रस्फुरण का अवकाश नहीं मिल पाया। इसीलिए इन कवियों में अतृप्त रागात्मकता के दर्शन होते हैं। इन कवियों के प्रयोग की दिशा भी पूर्णतया निश्चित नहीं हुई है अतः उनकी रागात्मक वृत्ति पूर्ण तृप्त नहीं हो पायी है। अज्ञेयजी की 'प्रथम किरण' कविता इस प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है। वस्तुतः इसी प्रवृत्ति के कारण प्रयोगवादी कविता में कहीं-कहीं अस्पष्टता घनीभूत हो गई है। शमशेर की 'शरीर स्वप्न' शीर्षक कविता में इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं—

मकई से लाल गेंहुए तलुए
मालिश से चिकने हैं,
भूसी भूरी झाड़ियों में व्यस्त
चलती-फिरती पिंडलियाँ।
मोटी डालें, बाँहों से न बड़ें।
सूरज का आइना जैसे नदिया
इन मर्दानी रानों की चमक
'इन' को खूब पसन्द।

५—वैचित्र्य प्रदर्शन—अधिकतर प्रयोगवादी कवि वैचित्र्य प्रदर्शन को लेकर चले हैं, उसमें वृत्ति का सहज संयोजन प्रायः नहीं मिलता है। कहीं-कहीं यह उनकी मानसिक उलझन को व्यक्त करता है। वर्णन-वैचित्र्य के साथ वर्ण्य-वैचित्र्य भी द्रष्टव्य है। अज्ञेय की 'हवाई यात्रा' नामक कविता में इस प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं यह वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति बड़ी हास्यास्पद है। इसमें उनका लक्ष्य केवल विलक्षणता, आश्चर्य दुरुहता से अपनी नूतनता प्रकट करना ही प्रतीत होता है। इस प्रवृत्ति का एक सटीक उदाहरण देखिए—

"अगर कहीं मैं तोता होता !
तो क्या होता ?
तो क्या होता ;

होता होता ।

(आह्लाद से झूमकर)

तो तो तो तो ता ता ता ता

(निश्चय के स्वर में)

होता होता होता होता ।'

इस कविता में वृत्ति का अभिनिवेश नाममात्र को नहीं है केवल वर्ण्य और वर्णन का वैचित्र्य प्रदर्शन हुआ है ।

६—व्यापक सौन्दर्य—सौन्दर्यवाद एक शाश्वत प्रवृत्ति है जो युगानुरूप प्रतीकों एवं भाषा शैली के माध्यम से प्रत्येक युग के साहित्य में प्रकट होती है । छायावाद को प्रसाद जी सौन्दर्य की शाश्वत प्रवृत्ति का युगानुरूप प्रकाशन मानते हैं । प्रगतिवाद में सौन्दर्य बोध के मानदण्ड बदले और क्षुद्र तथा निम्न-स्तर के मानव जगत् में सौन्दर्य का बोध उदघाटित हुआ । प्रयोगवादी कवि और आगे बढ़ा । अब सौन्दर्य का विस्तार बाँस की टूटी हुई टट्टी, कँकरीट के पोर्च, खम्भे से लटकती ओढ़नी की दो चार चिन्दियाँ तक हो गया और इससे भी आगे बढ़कर मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव धैर्यधन गदहा भी इन कवियों के सौन्दर्य बोध में आ जाता है । अतिउपेक्षित वस्तु या स्थान का बड़ा सौन्दर्यपूर्ण वर्णन करना इन कवियों की विशेषता है । मेघराज इन्द्र की 'हवा चली' कविता में इस प्रवृत्ति को देखिए—

"हवा चली ।

छिपकली की टाँग

मकड़ी के जाले में फँसी रही-फँसी रही ।"

× × ×

आगे कवि मैले की टोकरी ले जाती हुई महतरानी को भी डटकर देखता है—

"वाटिका सड़ उठी,

चिड़ियाँ उड़ गईं,

कुत्ता दुम दबा कर भागा

किन्तु—

अचम्भे के कब्जे सा चौंकाने वाला साहित्य की लालसा लिए मेरा कवि
डटा—सटा रहा।
दुनियाँ ने कवि को टोका, समझाया मगर वह नहीं माना।
"बोला मैं—खबरदार मुझसे मत कहना कुछ।"

७—शैली-शिल्प की नवीन मान्यतायें—बहुत से आलोचक तो प्रयोगवाद को शैली-शिल्प के नवीन प्रयोगों तक ही सीमित मानते हैं। अज्ञेय जी भी कविकर्म की इस मौलिक समस्या को प्राथमिकता देते हैं। वस्तुतः नूतनता का प्रवेश भावपक्ष के अन्तर्गत बहुत पहले हो जाता है और पीछे धीरे-धीरे शैलीगत रूढ़ियों और परम्पराओं का बहिष्कार होता रहता है और नवीन अभिव्यंजना पद्धति का विकास होता है। इस क्षेत्र में प्राचीनता के बहिष्कार और नूतनता के प्रवेश के बीच के समय में विविध प्रयोग होते रहते हैं। प्रयोगवाद के मूल में भी नवीन शैली शिल्प का आग्रह स्पष्ट है।

प्रयोगवादी कवियों ने भाषा और शैली शिल्प के विविध प्रयोग किये हैं। इसकी प्रमुख विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का निरूपण हम नीचे करेंगे—

(i) प्रतीक-विधान—प्रयोगवादी काव्य में यौन वर्जनाओं की अभिव्यक्ति अधिकतर प्रतीकों के माध्यम से हुई है। अन्य प्रकार की दमित इच्छाओं एवं वर्जनाओं की अभिव्यक्ति के लिये विविध प्रकार के प्रतीकों का विधान है। इसी प्रकार बहुत सी मानसिक उलझनों की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रतीक पद्धति का विधान मिलता है। वस्तुतः प्रयोगवादी कविता में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग देखकर ही इसे कुछ लोग प्रतीकवाद के नाम से पुकारते हैं। प्रयोगवादी कविता में प्रतीकों का अत्यन्त सांकेतिक वर्णन मिलता है, किन्तु इनके प्रतीक छायावाद की तरह प्रकृति से लिए हुए नहीं हैं वरन् अवचेतन मन की भावनाओं से लिए हुए हैं, अतः कहीं-कहीं बहुत ही दुरुह हो गए हैं। साथ ही कुछ ऐसे नवीन प्रतीकों की उदभावना भी हो रही है जिसके भाव और विचार का किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

पहले यौन वर्जनाओं के प्रतीक की बात लीजिये। अज्ञेयजी के अनुसार

'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति भी यौन वर्जनाओं का पुत्र है।' इसीलिए अज्ञेयजी की प्रारम्भिक कविताओं में 'यौन प्रतीक' का आधिक्य था और अब भी वे इससे पूर्णतया मुक्त नहीं हैं। गिरिजाकुमार माथुर और शमशेर की कविता में भी प्रतीक प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अज्ञेय जी की 'सावन-मेघ' कविता में यौन प्रतीकों का व्यवहार देखिए—

घिर आया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष

और इन्द्र का नील नील वक्ष जिस धरती के वक्ष से मिला है वह भी—

स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक सी फैली हुई थी
सत्य सी निर्लज्ज, नंगी
और समर्पित।

अज्ञेयजी की यह प्रवृत्ति आज भी उनकी कविताओं में मिल जाती है—

सो रहा है झोंप अँधियाला
नदी की जाँघ पर
दो पंखुरियाँ
भरी लाल गुलाब की, तकतीं पियासी
पिया-से ऊपर झुके उस फूल को

इस प्रकार इन यौन प्रतीकों के माध्यम से प्रयोगवादी कवियों ने अपनी नग्न-यौन-भावना की अभिव्यक्ति की है। यह सांकेतिक वर्णन यथार्थ की कटुता और नग्नता से बचने के लिए है।

स्वप्न के प्रतीक अज्ञेय और शमशेर दोनों में मिलते हैं। शमशेर की 'शरीर स्वप्न' शीर्षक कविता और अज्ञेय का 'चार का गजर' स्वप्न प्रतीक का

उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य प्रकार की वर्जनाओं एवं भावनाओं के प्रतीक मिलते हैं। प्रयोगवादी कविता में 'नदी के द्वीप' का प्रतीक बहुत प्रचलित हुआ। अज्ञेय ने इसे लेकर कविता लिखी, फिर तो भारती ने भी इसे अपनाया। सर्वेश्वर ने 'घास काटने की मशीन' के खतरे बतलाकर इसी प्रतीक का अर्थ प्रकट किया।

इसी प्रकार प्राचीन प्रतीक जैसे प्रकाश के लिए दीप, मशाल एवं तारा के स्थान पर अब वह 'टार्च' आदि नवीन प्रतीकों का प्रयोग करता है—

> सघन जीवन शिखा विद्युत लिये मानो
> अँधेरे में बटोही आ रहा हो टार्च ले

प्रयोगवादी प्रतीकात्मक शैली में छायावादी लाक्षणिक वक्रता के स्थान पर सांकेतिकता का आधिक्य है। कहीं-कहीं सुन्दर व्यंजनाएँ भी मिलती हैं। जैसे हरिव्यास की एक कविता में—

> मत करो गन्दी अरे अब जाह्नवी पोखर बनाकर
> तुम उसे फिर सृजन की राह पर लाओ।
> भगीरथ
> लक्ष्य तक फैली डगर के कंटकों के डंक तोड़ो
> कन्दरा के गर्भ में व्याकुल बिलखता है तुम्हारा विश्व
> तुम इसे विश्वास दो।
> इन्सानियत की ज्योति दो!

(ii) नवीन उपमान—प्रयोगवादी कवियों ने छायावादी उपमानों के प्रति प्रतिक्रिया की। आज की नवीन परिस्थितियों में प्राचीन रूढ़ उपमान भावनाओं को पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाते। इसीलिए नवीन-नवीन उपमान व्यवहृत हुए। कहीं-कहीं तो यह नूतनता का मोह ही है—

> मेरे सपने इस तरह टूट गये
> जैसे भुंजा हुआ पापड़।

कहीं-कहीं नवीन उपमाओं का संयोजन बहुत सुन्दर एवं भाव की प्रेषणीयता लिए हुए है जैसे गिरिजाकुमार की इस कविता में—

जीवन में खोटी मिठास है।
गीत की आखिरी मीठी लकीर सी।
वैभव की ये शिलालेख-सी यादें आतीं।
एक चाँदनी भरी रात उस राजनगर की।
रनिवासों की नंगी बाँहों सी रंगीनी।
वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की।

इस कविता में जीवन की मिठास की उपमा 'गीत की आखिरी मीठी लकीर' से, पूर्व स्मृतियों की 'शिलालेख' से, रंगीनी की "रनिवासों की नंगी बाहों' से, मिलन की मधुरता की 'रेशमी मिठास' से दी गई है, जो बहुत ही स्वाभाविक एवं पूर्णतया नूतन हैं। आज कवियों ने छायावादी उपमानों को छोड़कर नवीन उपमान[1] अपना लिये हैं।

(iii) शैली के नवीन प्रयोग—प्रयोगवादी कवियों ने शैली के अनेक नवीन प्रयोग किये हैं और ऐसा करने में कहीं-कहीं भाव बिल्कुल लुप्त हो गया है। केवल विलक्षणता एवं दुरुहता ही पाठकों के पल्ले पड़ती है। जैसे उपर्युक्त—'अगर कहीं मैं तोता होता !' कविता में। शमशेर की निम्न कविता में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है—

खामोश
हो ;
होश.........न खो ;
रो मगर—ओ।
जिन्दगी संसार की आखिर
तू ही।
ओ साबिर
खिला परवर यह
बे-रूही
आखिर

१ पीछे देखिये, पृ० ४३४

वह भी है
तू – ही !
तू – ही !
तू – ही !

इसी प्रकार शमशेर की 'सावन की उनहार' कविता में लय का चमत्कार है, वृत्ति का प्रभाव है। कहीं-कहीं किसी चित्र-विशेष से आकर्षित होकर भी इन्होंने कविता की है। अज्ञेय और मुक्तिबोध ने भी कुछ नवीन शैली के प्रयोग किये हैं। इन्होंने अपनी कविता में कहीं-कहीं दस-दस पंक्तियों में एक ही वाक्य की योजना की है, जैसे मुक्तिबोध का निम्नलिखित लम्बा वाक्य—

वह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे
सतलगर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मृदु स्पर्श कर पहिचान करती, गूढ़ तम उस विशद
दीर्घच्छाय श्यामल - काय बरगद वृक्ष की
जिसके तले आश्रित अनेकों प्राण
जिसके मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आए, उलझ आए।

प्रयोगवादी कवियों की शैली की एक विशेषता चित्रात्मकता है। गिरिजा कुमार माथुर की 'शाम की धूप' कविता देखिए—

क्योंकि अब बन्द हो गए दफ्तर,
घंटियाँ बज रहीं हैं रिक्शों की,
बीसियों साईकिलों की पाँतें,
कैरियर टोकरी या हैंडिल में,
कुछ के खाली कठोरदान बंधे,
कुछ में हैं फाइलें हर दिन भूखी,
जो न कभी खत्म हुई आफिस में।

(iv) शब्द चयन—प्रयोगवादी कवि भाषा की दृष्टि से भी नवीन प्रयोगों के पक्षपाती हैं। इन्होंने अपनी कविताओं के लिए विविध स्थानों से शब्दों का चयन किया है जैसे विज्ञान, दर्शन, भूगोल, मनोविश्लेषण-शास्त्र, एवं

मनोविज्ञान, ग्रामीण-बोली, बाजारू-बोली आदि से। इसलिए कहीं-कहीं प्रादेशिक शब्दों से और शब्दों की तोड़-मरोड़ से इनकी भाषा में भदेसपन आ गया है जैसे—गोरियाँ, छोरियाँ, भोरियाँ आदि में। प्रारम्भ में तो प्रयोगवादी कवि बहुत क्लिष्ट पद योजना करते थे जैसे अज्ञेय की इस कविता में—

निबिड़ान्धकार
को मूर्त रूप दे देने वाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युति किरण
आसन्न पतन.................आदि।

किन्तु अब धीरे-धीरे भाषा के सरलीकरण एवं भदेसपन की ओर इन कवियों का ध्यान आकर्षित हो रहा है।

(v) छन्द योजना—प्रयोगों का कहीं अन्त नहीं है। छन्द का क्षेत्र भी अछूता नहीं है। इन कवियों ने कहीं-कहीं लोक-गीतों की धुन पर गीत गढ़े हैं तो कहीं-कहीं मुक्त छन्दों में नई-नई लय और नये-नये स्वर मिलते हैं और कहीं-कहीं तो छन्द लय के स्थान पर वर्ण्य-विषय की भावनाओं के अनुसार चलित है जैसे शमशेर की उपयुक्त कविता[1] में। लोक-गीत की शैली पर लिखा यह गीत बड़ा सुन्दर है—

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री॥
बादल छाये आसमान में धरती फूली री।
अरी सुहागिन भरी माँग में भूली भूली री॥

इसी प्रकार नरेश मेहता के गीतों में बड़ी गीतात्मकता है, देखिए—

चलते चलो चलते चलो।
सूरज के संग-संग चलते चलो, चलते चलो।
तम के जो बन्दी थे,

---

१ पीछे देखो, पृ० ४४६

सूरज ने मुक्त किये
किरनों ने गगन पोंछ
धरती को रंग दिये।
सूरज को विजय मिली, ऋतुओं की रात हुई
कह दो इन तारों से चन्दा के संग-संग चलते चलो।

छन्द का एक नवीन विधान महेन्द्र भटनागर में मिलता है। इसमें 'कि' लगाकर छन्द की लय को उठाने का प्रयत्न है, इसमें प्रवाहात्मकता का सौन्दर्य भी देखने योग्य है—

अँधेरा है अँधेरा है,
कि चारों ओर काले अंधतम का ही
बसेरा है।
कि जिसने सब दिशाओं को,
कुटिल भय पाश से भर मौन घेरा है।

केशवचन्द्र वर्मा की बिना शीर्षक वाली कविता में मुक्त छन्द देखिये।

'हूँ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ठीक है, लेकिन भई,
अब तो चीज कुछ लिखो नई!
इसमें भला क्या बात बनी!
तुकों की अपनी कुटाई है घनी।

—आदि

कहीं-कहीं क्रियाहीन वाक्य भी मिलते हैं—

मेढ़क पानी अम्प

इसमें न लय है न गति। यह नवीन प्रयोग शमशेर की कविता में प्रचुर मात्रा में है। गिरिजाकुमार माथुर की 'शाम की धूप' कविता में छन्द की स्वाभाविक लय देखते ही बनती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता चित्रात्मकता है।

(vi) ध्वन्यात्मकता, स्वरमैत्री, रङ्गों का ज्ञान तथा गंधचित्र—प्रयोगवादी

कविता में ध्वन्यात्मकता की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, जैसे अज्ञेय की कविता में ओस की तिप्-तिप्, पहाड़ी काक की 'हाक्-हाक्' तथा गिरिजाकुमार के नींद भरे आलिंगन में चूड़ी की खिसलन इत्यादि। इसी प्रकार इन कवियों ने रंग का ज्ञान भी दिखलाया है जैसे शकुन्तला माथुर का केशर रंग-रंगे आँगन, गिरिजाकुमार का केसर रंग-रंगे वन, श्वेत-धूएँ सा पतला नभ, शमशेर का मकई से लाल गँठुए तलुए, सूखी भूरी झाड़ियों में, इन कवियों ने गंध का सूक्ष्म ज्ञान भी प्रदर्शित किया है जैसे—अज्ञेय का गंध के डोल ढालती मालती इत्यादि।

आधुनिकतम हिन्दी कविता—एक परिचय

आधुनिकतम हिन्दी कविता का विभाजन सुगमता की दृष्टि से इस प्रकार किया जा सकता है,

(१) प्रगतिवादी या प्रगतिशील काव्य।
(२) गीत काव्य और गीति-काव्य।
(३) प्रबन्ध काव्य।
(४) प्रयोगवादी काव्य या नई कविता।

दरअसल यह विभाजन कोई वैज्ञानिक या युगानुरूप नहीं। और न आधुनिकतम हिन्दी कविता में उपर्युक्त तरतीबवार युग ही चला। सभी प्रकार की रचनाएँ एक ही युग में हमें प्राप्त होती रही हैं। इसलिए उपर्युक्त विभाजन की दृष्टि से अलग-अलग प्रवृत्तियों का अध्ययन करना असम्भव ही जान पड़ता है।

यह युग ऐसा युग रहा है जिसमें सर्वश्री निराला, पंत, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, दिनकर तथा बच्चन आदि की रचनायें भी प्रकाश में आती रही हैं। राजपाल एण्ड सन्स की उर्दू कवियों की सीरीज के साथ ही साथ हिन्दी के कवियों (पंत, बच्चन, माखनलाल चतुर्वेदी, अंचल, नीरज आदि) की चुनी हुई कविताओं का संकलन भी प्रकाशित हुआ है।

'नई कविता' के क्षेत्र में पहला, दूसरा एवं तीसरा 'तार सप्तक' प्रयोगवाद की परम्परा में महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इस परम्परा को बढ़ाने में पत्र-पत्रिकाओं (प्रतीक, संकेत, निष्ठा, नई कविता, निबन्ध, कृति, कल्पना, ज्ञानोदय आदि।) ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

इसके अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, धर्मवीर भारती (देशान्तर), शकुन माथुर (चाँदनी चूनर), डा० देवराज (उर्वशी ने कहा), राजेन्द्र यादव (आवाज तेरी है), रघुवीर सहाय (सीढ़ियों पर धूप में), शरद देवड़ा (पत्थर का लैम्प-पोस्ट), शमशेर बहादुरसिंह (कुछ और कवितायें), केदारनाथसिंह (अभी बस अभी) के प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण है।

यह युग अनुवादों का भी रहा है। कई अनुवाद हमारे सम्मुख इस युग में आए। 'सप्त-पर्ण्य' (महादेवी द्वारा) तथा डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'कवितायें' शीर्षक से रूसी कवि वप्त्सारोव की कविताओं का अनुवाद भी किया गया है। धर्मवीर भारती का 'देशान्तर' विदेशी बीस कवियों की रचनाओं का अनुवाद है।

इस युग में छायावादी शैली के कवियों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। डा० वल्देवप्रसाद मिश्र के 'राम राज्य' प्रबन्ध काव्य को द्विवेदी एवं छायावादी युग की शैली का संगम कहा जा सकता है। इसमें कहीं-कहीं 'नई कविता' की शैली का भी प्रयोग है। इसी प्रकार नरेन्द्र शर्मा ने 'द्रोपदी' में नारी समाज के प्रति मौलिक एवं नवीन दृष्टिकोण नई शैली द्वारा प्रतिपादित किया है।

इसी छायावादी शैली में गीतकारों का योगदान भी अविस्मरणीय है। अश्क जी का 'सड़कों पे ढले साए' ने निश्चित रूप से आधुनिक कविता को मोड़ दिया है। अश्क जी के अतिरिक्त, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, रामावतार त्यागी, रमानाथ अवस्थी, देवराज नेपाली, राही, रमासिंह, आदि गीतकारों में रोमानी (प्रीतितत्त्वपरक) तथा छायावादी शैली को लेकर प्यार के रेशमी डोरों को कोमल कल्पनाओं में बाँधने का प्रयास किया

है। इनके गीत सुन्दर, आकर्षक एवं गेय होते हैं। कहीं-कहीं आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति जीवन तत्त्व के माध्यम से हुई।

इसके अतिरिक्त स्फुट रचनाओं में हास्यपूर्ण व्यंग्य विनोद वाली कविताओं का भी अच्छा प्रकाशन हुआ है। इस क्षेत्र में कुंजविहारी पांडे, रमई काका, देवराज तथा ऋषिकेश चतुर्वेदी उल्लेखनीय हैं।

इधर बच्चन जी ने लोक-धुनों पर आधारित गीतों की रचना कर एक 'नई धारा' प्रवाहित की है। यह शैली निश्चित रूप से लोक तत्त्वों पर प्रकाश डालने वाली है। नीरज भी इस ओर अग्रसर होते दिखाई दे रहे हैं।

इस प्रकार यह युग एक प्रगतिशील युग है।

हिन्दी गद्य का विकास

हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास आधुनिक काल की देन है। यों तो मनुष्य नित्य के व्यवहार में गद्य का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है किन्तु प्रत्येक जाति के साहित्य में पद्य का विकास ही पहले हुआ है और उसी का विशेष महत्त्व भी रहता है। हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। हिन्दी में गद्य का विकास आधुनिक अर्थ में ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से ही होता है, इसके पूर्व का गद्य बहुत कम और स्फुट रूप में है। सुष्ठु रूप में हिन्दी गद्य की परम्परा १९वीं शताब्दी से ही चली। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस, यातायात के समुन्नत साधन एवं देश की शांतिपूर्ण व्यवस्था को माना है और यह सब उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ही हो पाया। अब जाकर अंग्रेजों का शासन भारत में दृढ़ नींव पर स्थिर हो गया। और तभी शासन सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य की आवश्यकता एवं परिणामस्वरूप प्रादुर्भाव हुआ। इस गद्य का विकास खड़ीबोली में हुआ। इसी समय से खड़ीबोली-गद्य की निश्चित और अटूट परम्परा मिलने लगती है। इस परम्परा का वर्णन करने से पूर्व हम प्राचीन साहित्य में गद्य के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

हिन्दी के प्राचीनतर साहित्य में गद्य का नमूना गोरखनाथ के हठ्योग सम्बन्धी ग्रंथ में मिला है जो व्रजभाषा में है। यह ग्रंथ १४वीं शताब्दी का

माना जाता है। किन्तु इसकी भाषा को देखकर कुछ विद्वान् इसे परवर्ती काल की रचना मानते हैं। इसके बाद सत्रहवीं श० के लगभग गोसाईं विट्ठलनाथ का 'शृङ्गार रस मंडन' नाम का ब्रज-भाषा गद्य का ग्रंथ मिलता है और इसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोकुलनाथ की लिखी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नामक दो वार्ता-गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं। इसके बाद नाभादास (लगभग सं० १६६०) का लिखा हुआ 'अष्टयाम' मिलता है। इसके बाद कुछ अन्य ब्रजभाषा-गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें मुख्यतया टीकाएँ हैं जैसे हरिचरनदास की बिहारी सतसई की टीका (१७७७ ई०) कविप्रिया की टीका (१७७८ ई०) रामचरन की मानस की टीका, बिहारी सतसई तथा अन्य ग्रन्थों की टीकायें। कुछ अन्य गद्य-ग्रन्थ भी लिखे गए, जैसे हीरालाल की 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' इत्यादि। इसी प्रकार ब्रजभाषा गद्य की कुछ और पुस्तकें भी मिली हैं। किन्तु उनमें गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता। शुक्लजी के अनुसार टीका गद्य बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावों को संबद्ध रूप में प्रकाशित करने की शक्ति नहीं थी अतः इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना नहीं थी। राजस्थानी भाषा में भी प्रेमाख्यानक-किस्सागोई-साहित्य की बदौलत कुछ गद्य की रचनायें मिलती हैं। मैथिली गद्य का रूप १४ वीं श० की 'वर्ण रत्नाकर' और विद्यापति के चंपू-कथा श्रेणी के काव्यों में मिल जाता है।

खड़ी बोली की परम्परा—हिन्दी के आधुनिक गद्य की भाषा खड़ीबोली है। यों तो इसका प्रयोग सैयद गेसूदराज बन्दानवाज के मेराजुल आशकीन (१३९८) तथा अन्य उसी समय के आसपास के मुसलमान औलियाओं की रचनाओं में मिल जाता है किन्तु इसका सुन्दर प्रयोग १८ वीं श० में ही मिलता है। अकबर के दरबारी कवि गंग ने 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' में खड़ीबोली गद्य का व्यवहार किया। इसके बाद सम्वत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योगवासिष्ठ' और सम्वत् १८१८ में पं० दौलतराम ने जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। किन्तु भाषा की दृष्टि से निरंजनी का योगवासिष्ठ उत्कृष्ट है। अतः हम योगवासिष्ठ को परिमार्जित खड़ी

बोली गद्य की प्रथम पुस्तक और निरंजनी को खड़ीबोली गद्य का प्रथम प्रौढ़ लेखक मान सकते हैं।

हिन्दी गद्य के चार आचार्य—इसके बाद करीब ५० वर्ष तक हिन्दी गद्य का क्षेत्र सूना रहा। यह परम्परा सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम की स्थापना से पुनः चल पड़ी। इस समय गद्य के विकास में योग देने वाले चार प्रमुख महानुभाव हुए जिनका गद्य साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है—मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। इनमें से लल्लूलाल और सदलमिश्र ने फोर्ट विलियम के हिन्दी-उर्दू शिक्षक जॉन गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखीं। लल्लूलालजी ने 'प्रेमसागर' लिखा जिसमें ब्रज का पुट और पण्डिताऊपन है। सदलमिश्र के नासिकेतोपाख्यान में व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न है। इस भाषा में पूरबी प्रयोग मिलते हैं। इनकी भाषा में अधिक प्रवाह होने के कारण वह परवर्ती गद्य साहित्य के विकास में सहयोगी है। यही भाषा आगे के विकास की परम्परा बतलाती है। मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाखाँ दोनों की भाषाओं में क्रमशः पण्डिताऊपन एवं फारसीपन है, इसलिए परवर्ती गद्य में इनकी शैली का विशेष अनुकरण नहीं हुआ।

ईसाइयों का सहयोग और समाचारपत्र—इसके बाद ईसाई मिशनरियों ने जनता तक अपनी बाईबिल का प्रचार करने के लिए खड़ीबोली गद्य में उसका अनुवाद कराया। इसी प्रकार स्कूल बुक सोसाइटियों और समाचार पत्रों में भी गद्य का प्रचार हुआ। १८१३ ई० में युगलकिशोर शुक्ल ने 'उदन्त मार्तण्ड' नामक पहला समाचारपत्र कलकत्ते में प्रकाशित किया। और भी कई अखबार निकले जिनमें राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' अपनी भाषा शैली के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसकी फारसी बहुल भाषा शैली की प्रतिक्रिया में हिन्दी के विद्वानों ने सन् १८५० में 'सुधाकर' नाम का शुद्ध हिन्दी भाषा का पत्र निकाला। इसके दो वर्ष बाद आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' नामक परिमार्जित भाषा-शैली वाला एक पत्र और निकला। सामाजिक दृष्टि से भी यह प्रगतिशील पत्र था।

गद्य का विविध रूपी विकास—यद्यपि सरकार की नीति हिन्दी के प्रतिकूल थी और अदालत तथा अन्यान्य शासन के क्षेत्रों में उसने इसकी प्रगति को रोका, फिर भी उसे नवीन शिक्षा के पाठ्य-क्रम में इसे स्थान देना पड़ा। ऐसे ही समय (सन् १८२३ से १८३५) में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने शिक्षा विभाग में प्रवेश किया और हिन्दी की रक्षा के लिए उसके 'आम फहम' तथा 'खास पसन्द' (अरबी फारसी के चलते शब्दों से युक्त) रूप को प्रश्रय दिया। इनकी प्रतिक्रिया में राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६ से १८९६) ने हिन्दी और उर्दू को न्यारी-न्यारी बोली घोषित किया और अरबी फारसी के शब्दों का विरोध किया। ये विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। इनके शकुन्तला नाटक में इसका रूप देखने को मिलता है। फिर भी ये कुछ विदेशी भाषा के शब्दों को अपनाने के पक्षपाती भी थे। इसी समय के आसपास कुछ पाठ्य-पुस्तकों की रचना हुई और कुछ अंग्रेजी से हिन्दी गद्य में अनुवाद की प्रवृत्ति भी चल रही थी। १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना के साथ पंजाब आदि अहिन्दी प्रान्तों में स्वामी दयानन्द ने हिन्दी का प्रचार किया। पंजाब में हिन्दी का प्रचार करने वालों में दो अन्य प्रमुख व्यक्ति हो गये हैं। एक ब्रह्म समाज को व्यापक बनाने वाले नवीनचन्द्र थे और दूसरे हिन्दू संस्कृति के रक्षक पं० श्रद्धाराम फुलोरी। स्वामी दयानन्द ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक सत्यार्थ-प्रकाश की रचना खड़ी बोली गद्य के परिमार्जित रूप में की। श्रद्धाराम फुलोरी का गद्य भी सुलझा हुआ और प्रौढ़ है जिसमें उन्होंने कठिन दार्शनिक तथ्यों को सरल भाषा में समझाने का सफल प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस युग में हिन्दी गद्य का विकास करने में सामाजिक चेतना के सबसे बड़े पुरस्कर्ता आर्यसमाज एवं उसकी प्रतिक्रिया करने वाले सनातन हिन्दू-धर्म—समाज ने अपूर्व सहयोग दिया।

भारतेन्दु युग—भारतेन्दु के उदय के साथ ही हिन्दी गद्य और पद्य दोनों में नवयुग की चेतना के दर्शन होने लगते हैं। भारतेन्दु युग में राष्ट्रीय चेतना का विकास हो रहा था और सन् १८८५ में उसका सुष्ठु और निश्चित रूप इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना में प्रकट हुआ। युग की चेतना को जनता तक पहुँचाने में साहित्यिकों ने बड़ा सहयोग दिया। नाटक, समा-

संस्थाओं में व्याख्यान और पत्र-पत्रिकाओं में लेख आदि के द्वारा लेखक जनता तक अपना सन्देश पहुँचा सके। और इसीलिए इस युग में गद्य का सर्वतोमुखी एवं महत्वपूर्ण विकास हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने सन् १८६७ में कवि-वचन सुधा और सन् १८७३ ई० में हरिश्चन्द्र मैगजीन (हरिश्चन्द्र चन्द्रिका) निकाली। सन् १८७३ में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के प्रकाशन से ही हिन्दी में नई भाषा-शैली की नींव पड़ी। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके सहयोगियों ने जिस प्रकार की भाषा में अपने लेख और ग्रन्थ लिखे, वह बहुत स्वाभाविक और भाव प्रकाशन में सक्षम भाषा थी।" भारतेन्दुजी ने अपने समय में प्रचलित—उर्दू फारसी बहुल हिन्दी और तत्सम बहुल विशुद्ध हिन्दी—इन दो शैलियों में सामंजस्य स्थापित किया और ऐसी सामान्य भाषा-शैली को जन्म दिया जो पूर्ण रूप से व्यावहारिक थी। उन्होंने अपनी दो शैलियों का उल्लेख किया है—एक शुद्ध हिन्दी जिसका प्रयोग उनके नाटकों एवं अन्य गम्भीर निबन्धों में है, दूसरी सामान्य हिन्दी जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े तथा तद्भव शब्द अधिक हैं। इस शैली के दर्शन सामान्य लेखों एवं पत्र-पत्रिकाओं में होते हैं। इस प्रकार भारतेन्दु ने एक ऐसी शैली को जन्म दिया जिसमें न किसी प्रकार का बंधन था और न वह राजा शिवप्रसाद या लक्ष्मणसिंह की शैली की भाँति कृत्रिमता से गढ़ी गई थी। इन्होंने गद्य क्षेत्र में इस नई शैली का प्रवर्तन करके युगान्तर उपस्थित किया। उनकी शैली का सबसे बड़ा गुण सहजपन एवं भावों का अनुसरण है। अपनी भावानुकूल शैली के द्वारा भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य को खूब समृद्ध किया। उनके सहयोगियों में प्रायः उन्हीं का अनुकरण करने वाले हैं, किन्तु बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र स्वतन्त्र शैलीकार के रूप में दिखाई पड़ते हैं। बालकृष्ण भट्ट में भारतेन्दु जी की गम्भीर निबन्धों की शैली का विकास मिलता है किन्तु उन्हें भाषा की शुद्धता का आग्रह नहीं है। उनकी भाषा में अंग्रेजी, उर्दू और फारसी के शब्द भी गुंथे हुए मिलते हैं। इन्होंने मुहावरों का भी बहुत प्रयोग किया है। इनके विपरीत प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेन्दु की सामान्य शैली को अपनाकर उसमें कहावतों

के प्रयोग एवं व्यंग्य और हास्य के पुट से एक सजीवता उत्पन्न कर दी है। उनकी भाषा में जन-व्यवहृत ग्रामीण भाषा, विनोद, कटूक्तियों एवं कहावतों का सुन्दर प्रयोग है जो उनकी शैली को जन-प्रिय बना सका।

यह तो हुई गद्यशैली के विकास की बात। भारतेन्दु युग में गद्य-साहित्य के विविध अङ्गों में नाटक, उपन्यास और निबन्ध का विकास हुआ। वैसे इस युग में समीक्षा का भी सूत्रपात हो गया था किन्तु इसका विशेष विकास न हो सका।

द्विवेदी युग—धीरे-धीरे भारतेन्दु-कालीन गद्य-शैली तत्सम-प्रधान होती गई और बीसवीं शताब्दी में इसके अनेक रूपों की प्रतिष्ठा हुई। इसका मुख्य कारण गद्य के विभिन्न अंगों का उद्भव एवं विकास था। इस युग में गद्य के उक्त अंगों के अतिरिक्त कहानी और समीक्षा का सूत्रपात एवं विकास हुआ। उक्त अंगों में भी विविध भाव एवं शैली की योजना हुई। इन अंगों के विकास का अध्ययन हम पृथक्-पृथक् आगे करेंगे। गद्य शैली की दृष्टि से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' द्वारा भाषा-परिमार्जन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया और हिन्दी गद्य की प्रौढ़ शैली का स्वरूप निश्चित किया। द्विवेदी जी की शैली की कई विशेषताएँ हैं। सबसे बड़ी विशेषता शैली में संयम है। दूसरी विशेषता प्रसाद और ओज गुण का पाया जाना है। इसके अतिरिक्त इनकी शैली में प्रवाह और सजीवता है। फिर भी द्विवेदी जी भाषा में तद्भव शब्दों के पक्षपाती हैं। उस युग के कुछ प्रसिद्ध लेखकों पर द्विवेदी जी या सरस्वती की विशिष्ट शैली की छाप है। श्यामसुन्दरदास ने शैली में तत्समता को प्रधानता दी। पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली में उर्दू शैली की चुलबुलाहट और चलताऊपन है जो उनके व्यक्तित्व को दर्शाता है। इसी युग में प्रेमचन्द अपनी नई शैली को लेकर आये। उनकी शैली में खड़ी-बोली के अधिक चलते हुए रूप का व्यवहार है। द्विवेदी युग के दो भावात्मक लेखकों की शैली भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये हैं माधवप्रसाद मिश्र और सरदार पूर्णसिंह। मिश्रजी की शैली में ओज एवं उत्तेजना है तो पूर्णसिंह की शैली में गम्भीर तथा अनुभूतिपूर्ण विचारधारा। दोनों लेखकों की गद्य-शैली बड़ी प्रौढ़

है । इन्होंने हिन्दी गद्य के विकास में अपनी विशिष्ट शैलियों से महत्त्वपूर्ण योग दिया है । अध्यापक पूर्णसिंह विचारों से प्रगतिवादी हैं।

द्विवेदी युग—के अनन्तर गम्भीर विषयों का विश्लेषण करने वाली प्रौढ़ शैली को लेकर रामचन्द्र शुक्ल आए । इन्हीं के समकक्ष प्रौढ़ शैली कुछ अन्य लेखकों में भी दिखाई पड़ती है । छायावादी कवि प्रसाद में भी प्रौढ़ शैली मिलती है । शुक्ल जी की प्रौढ़ शैली ने वर्तमान युग तक के प्रायः सभी गद्य लेखकों को प्रभावित किया है । प्रेमचन्द के 'गबन' में जिस प्रौढ़ शैली का सूत्रपात हुआ है उससे उनके समकालीन और परवर्ती कथाकार बहुत प्रभावित हुए । इनमें सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र प्रमुख हैं । इधर उपन्यास क्षेत्र में भी कुछ नवीन शैलियों का प्रवर्तन हुआ है जैसे मनोविश्लेषणात्मक, लाक्षणिक, व्यंग्यमूलक अर्थात् साम्यवादी विचारों को वहन करने वाली । निबन्ध के क्षेत्र में भी बहुत सी नवीन शैलियों का विकास हुआ है । नाटक के क्षेत्र में नवीन शैली के जन्मदाता प्रसादजी हैं और इनसे आगे प्रत्याधुनिक नाट्यशैलीकार लक्ष्मी नारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इत्यादि हैं ।

छायावाद—इस युग में गद्य शैलियों का विकास हुआ है। उनमें लाक्षणिकता, अलंकृत, काव्यात्मक एवं ऐश्वर्यपूर्ण तत्त्वों का विकास हुआ है । महादेवी वर्मा का आधुनिक-गद्य-शैली के इतिहास में अपनी ओजपूर्ण एवं गंभीर संस्कृतनिष्ठ शैली के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है । उनके काव्य-ग्रंथों की भूमिकाओं में संस्कृत बहुल काव्यात्मक गंभीर शैली है तो उनके संस्मरणों में व्यंग्य, हास्य एवं हृदय की करुणा को व्यक्त करने वाली बड़ी मार्मिक शैली है । माखनलाल चतुर्वेदी भी वर्तमान युग के श्रेष्ठ शैलीकार हैं । इनके गद्य में हमें गद्य के काव्यात्मक रूप का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, किन्तु अन्योक्ति की प्रधानता होने के कारण यह सांकेतिक हो गई है । फिर भी इसमें सरलता है, अस्पष्टता का अभाव है । इनकी शैली के तीन विशेष गुण हैं तन्मयता, रागात्मकता एवं सुबोधपन ।

भावात्मक विचारात्मक शैलियों के अतिरिक्त वर्तमान युग अनुसंधानात्मक और वैज्ञानिक शैली का भी विकास हुआ। अनुसंधानात्मक शैली के सुन्दर स्वरूप का उदाहरण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाथ-पंथ, कबीर, मध्य-कालीन धर्म-साधना इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है। वैज्ञानिक विवेचन की शैली का परिचय डा० धीरेन्द्र वर्मा के भाषा के इतिहास में मिलता है। डा० नगेन्द्र भी अपनी विशिष्ट शैली के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी शैली में भावात्मक, विचारात्मक एवं कलात्मक शैलियों के तत्व मिलते हैं। इन्होंने आलोचना में अपनी सरस शैली द्वारा तथ्य निरूपण को बहुत सुबोध एवं विचारों की शृङ्खला को भावपूर्ण बना दिया है।

वर्तमान युग में शैली की दृष्टि से प्रगतिशील लेखकों ने कुछ नवीन प्रयोग किये हैं। डा० रामविलास शर्मा अपनी विशिष्ट शैली को लेकर अवतीर्ण हुए हैं। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' में उनकी चलती हुई ओजपूर्ण गद्य शैली का अच्छा परिचय मिलता है। इनके ठीक विपरीत डा० रांगेय राघव गम्भीर-विचार-विश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिक तर्कपूर्ण शैली को लेकर गद्य-क्षेत्र में आये। उनकी शैली में पाठक को उद्‌बुद्ध करने की शक्ति है। इस शैली की दूसरी विशेषता ज्ञान की गरिमा है। इस शैली की तीसरी विशेषता इसके संयमित व्यंग्य की है। प्रभाकर माचवे, नामवरसिंह प्रभृति अन्य प्रगतिशील लेखकों में एक नवीन गद्य शैली के दर्शन होते हैं, जिसका सूत्रपात एक प्रकार से यशपाल पहले ही मे कर चुके थे। इसमें व्यंग्य एवं कटूक्तियों की प्रधानता तथा डा० रांगेयराघव की सी व्यक्ति-निष्ठता के दर्शन होते हैं।

सारांश यह है कि गद्य के विविधमुखी विकास को लक्ष्य करके ही कुछ विद्वान् लेखकों ने हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण आधुनिक-रचनाकाल को 'गद्य-काल' कहकर पुकारा है। इस काल में गद्य के विविध अङ्ग-उपाङ्गों की एवं शैली की सर्वतोमुखी एवं विविधरूपी उन्नति हुई है। गद्य की विभिन्न शैलियों

से वर्तमान युग का गद्य साहित्य भरा जा रहा है। आज का लेखक अपनी अनुभूति के प्रति अधिक सच्चा होना चाहता है। इसलिए वह इस युग-जनित जटिल एवं उलझी हुई विचारधारा को व्यक्त करने के लिए, अपने मन की सबकुछ कह देने के लिए नई-नई शैलियाँ गढ़ता है। इस प्रकार वर्तमान काल में हिन्दी गद्य अपनी उन्नति के चरम-शिखर पर है। क्या भाव, क्या भाषा-शैली दोनों ही दृष्टि से हिन्दी गद्य पूर्णरूपेण प्रगतिशील है।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य

गद्य के अन्य अङ्गों की भाँति हिन्दी में नाटकों की परम्परा भी पाश्चात्य सम्पर्क से आधुनिक काल में प्रारम्भ हुई। आधुनिक काल में जिस प्रकार गद्य का विकास एक नवीन वस्तु है उसी प्रकार आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से होना भी एक विलक्षण बात है। यों तो प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति वेदों के साथ-साथ ही हुई किन्तु दसवीं शताब्दी तक संस्कृत की उत्कृष्ट-नाट्य-परम्परा का ह्रास होने लगा। इसके बाद हिन्दी का आदिकाल आता है। और इसमें संस्कृत की समृद्ध नाट्य-परम्परा एकदम रुक गई। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी से यह परम्परा पुनः प्रवर्तित हुई। हिन्दी में नाट्य साहित्य का इतने लम्बे समय तक अभाव होने के विद्वानों ने कई कारण बताए हैं। कुछ विद्वानों ने गद्य के अभाव को इसका मूल कारण माना है तो अन्य ने इस्लाम धर्म की नाट्य-विरोधी भावनाओं को। कुछ अन्य विद्वान सन्तों की निराशामूलक वाणी से नाट्य-सृजन की प्रेरणा का कुण्ठित होना मानते हैं। वस्तुतः ये कारण साहित्य की अखण्ड परम्परा में बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। तात्कालिक राजनीति एवं सामाजिक स्थिति का साहित्य पर प्रभाव पड़ता है किन्तु साहित्य की परम्परा में भी कुछ त्रुटियाँ आ जाती हैं और इस कारण उत्कृष्ट साहित्य का अभाव हो जाता है। दसवीं श० के लगभग संस्कृत का नाट्य-साहित्य मौलिकता को खोकर एकदम रूढ़िग्रस्त एवं ह्रासोन्मुख हो चला था। उसमें नाट्य-साहित्य की सबसे बड़ी प्रेरणा जन-चित्त को उद्वेलित करने की शक्ति नहीं रही थी। हिन्दी को संस्कृत से नाटकों की यही परम्परा मिली जिसका आगे निर्वाह न हो सका। एक और कारण

भी है । हिन्दी का उदयकाल लड़ाई-झगड़े का युग था अतः रंगमंच की स्थापना और उन्नति की सम्भावना बहुत कम थी । आधुनिक काल में पाश्चात्य साहित्य की नाट्य परम्परा को ग्रहण करने वाले बंगला साहित्य की प्रेरणा लेकर हिन्दी में नाट्य-रचना का प्रयास हुआ । हिन्दी में नाट्य-साहित्य की परम्परा का सुचारु रूप से प्रवर्तन भारतेन्दु बाबू से होता है ।

भारतेन्दु से पहले के कुछ हिन्दी नाटकों की चर्चा भी यहाँ उपयुक्त है । सत्रहवीं शताब्दी से ही कुछ नाटकों की रचना होने लगी थी । ये नाटक तीन प्रकार के हैं—अनुवादित, मौलिक, साहित्यिक और सामाजिक । अनूदित नाटकों की परम्परा हृदयराम के संस्कृत के हनुमन्नाटक के अनुवाद से दिखाई देती है । इसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी में हुई । दूसरा संस्कृत का नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय है जिसके हिन्दी में कई अनुवाद हुए, जैसे १७ वीं शताब्दी में महाराज जसवन्तसिंह ने १८वीं श० में ब्रजवासीदास और जनअनन्य ने और इसी श० के मध्य भाग में सूरति मिश्र ने इसका अनुवाद किया । केशवदास ने भी विज्ञान-गीता में इसकी परिपाटी का अनुसरण किया है और देव ने तो इसे 'देवमाया प्रपंच' के रूप में ही परिवर्तित कर दिया । कालिदास के शकुन्तला नाटक के भी कई अनुवाद हुये । इन अनुवादों में पहला नेवाज का है और दूसरा राजा लक्ष्मणसिंह का । हिंदी में सबसे पहला मौलिक नाटक रीवाँ नरेश विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' है । इसकी रचना सन् १७०० के लगभग हुई । रामचन्द्र शुक्ल इसे ब्रजभाषा का नाटकत्त्वपूर्ण प्रथम नाटक मानते हैं । इसी कोटि का भारतेन्दु के पिता गिरधरदास का 'नहुष' नाटक है । सामाजिक नाटकों में उन नाटकों की गणना है जो जनता अपने मनोरंजन के लिए खुले मैदानों में स्वाँग आदि के रूप में खेलने लगी । रामलीला, रास-लीला आदि ऐसे ही नाटक हैं जो जनता में मनोरंजन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति को भी जाग्रत करते रहे । इस प्रकार के नाटकों में लक्ष्मण का रामलीला, ईश्वरीप्रसाद का उषा अनिरुद्ध आदि नाटक प्रसिद्ध हैं । इन नाटकों के सम्बन्ध में एक प्रमुख बात इनमें साहित्यिकता के अभाव एवं पद्यबद्धता की है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती समय की इन तीनों नाट्य परम्पराओं को अपनाया और इनमें साहित्यिक गुणों का विकास, गद्य की प्रधानता एवं

युगानुरूप सुधार किये। उन्होंने संस्कृत के उत्कृष्ट नाटकों का बड़ा सुन्दर अनुवाद किया। एक बंगला नाटक का भी अनुवाद किया। भारतेन्दु ने कुछ मौलिक नाटकों की रचना भी की जिनमें से कई बहुत लोकप्रिय हुए और उनका उसी युग में सैंकड़ों बार अभिनय हुआ। वस्तुतः नाट्य-साहित्य द्वारा भारतेन्दु युग के लेखक नवीन युग की चेतना एवं जनता की आशा-आकांक्षाओं को प्रकट करना चाहते थे। श्री बच्चनसिंह ने भारतेन्दुजी के नाटकों की विस्तृत विषय-भूमि की चर्चा करते हुए लिखा है—"भारतेन्दु ने अपने नाटकों की कथावस्तु जीवन के विविध क्षेत्रों से ली। किसी नाटक में ऐकान्तिक प्रेम का निरूपण किया गया है तो किसी में समसामयिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का चित्रण ; कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्त के आधार पर नाटक का ढाँचा खड़ा किया गया है तो कहीं देश की दुर्दशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। भारतेन्दु के पूर्व नाटकों के सीमित विषय की दीवारें टूट गईं और विषय-भूमि को पूरा विस्तार मिला। नीलदेवी और सतीप्रताप में इतिहास और पुराण की वे उज्ज्वल गाथाएँ हैं जिनके आलोक में पाश्चात्य संस्कृति की चकचौंध से विपथगामिनी आर्य्य ललनाएँ अपना मार्ग पहचान सकती हैं। यह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के विरोध में सांस्कृतिक जागरण का चिन्ह है।........वस्तुतः अतीत की स्वस्थ कथाओं और उदात्त चरित्रों से शक्ति संचय करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है।" इसी उद्देश्य को लेकर भारतेन्दु युग के कुछ अन्य साहित्यिकों ने भी नाट्य रचना की। इनमें श्रीनिवासदास का संयोगिता-स्वयम्वर, राधाकृष्णदास का महाराणा प्रताप, प्रतापनारायण मिश्र का 'हमीर हठ' प्रसिद्ध हैं। सामाजिक समस्याओं को लेकर भी कुछ नाटक लिखे गये। इनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'प्रेम जोगिनी', राधाकृष्णदास का 'दुखिनी बाला' और प्रतापनारायण मिश्र का 'गो संकट' प्रमुख हैं। राष्ट्रीय भावना जगाने वाले कुछ नाटक लिखे गये। इनमें विदेशी शासन से पीड़ित एवं कुचली हुई राजनीति, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था के बड़े मार्मिक चित्र हैं। भारतेन्दु का 'भारत दुर्दशा' इन्हीं चित्रों से पूर्ण है। भारतेन्दु ने पुरानी सामाजिक गली-सड़ी रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर आघात किया और इसलिए उनके कुछ नाटकों में व्यंग्य और

विनोद को भी स्थान मिला। इसलिए इन्होंने प्रहसन भी लिखे जैसे अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति। कुछ अन्य लेखकों ने भी प्रहसन लिखे जैसे बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान', राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुंह मुंहासे' आदि।

भारतेन्दु युग में अन्य भाषाओं के नाटकों का अनुवाद भी हुआ। संस्कृत से नाटकों के अनुवाद की परम्परा पुरानी है। इस युग में बंगला और अङ्गरेजी के नाटकों का भी अनुवाद हुआ। इस दिशा में लाला सीताराम और रामकृष्ण वर्मा ने उल्लेखनीय कार्य किया।

भारतेन्दु युग की नाट्य रचना के सम्बन्ध में दो बातें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो इस युग के नाटकों में समय के साथ देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि दैवी एवं पौराणिक पात्रों की कमी होती गई और इनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और उसके भावों का चमत्कार अधिक दिखाया जाने लगा। इस प्रकार नाटक का जीवन के विविध अंगों से सम्बन्ध स्थापित हो गया। दूसरी उल्लेखनीय बात पद्य के स्थान में गद्य के प्रयोग की प्रचुरता एवं व्रजभाषा के स्थान पर गद्य में पूर्णतया और पद्य में अंशतः खड़ीबोली की स्थापना है। शैली की दृष्टि से इस युग के नाटकों में संस्कृत की शास्त्रीय शैली (नांदी पाठ, भरतवाक्य, स्वगत भाषण, अंकावतार, काव्यात्मक वातावरण इत्यादि की योजना) का अनुकरण हुआ है। उसमें कहीं-कहीं पारसी-नाटक-शैली का प्रभाव में दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दु युग के अन्तिम दिनों में पारसी नाटक कम्पनियों के लिए भी कुछ उर्दू ढंग के मनोरंजक नाटकों की रचना हुई किन्तु रंगमंच के वे नाटक सरकस के खेल समझ कर देखे जाते थे। साहित्यिकता के दृष्टिकोण में लाने वाली भावना के अभाव को देखकर ही हमने यहां उनका उल्लेख नहीं किया है।

भारतेन्दु के पीछे नाटकों की परम्परा कुछ क्षीण रूप से प्रवहमान हुई। द्विवेदी-युग में मौलिक और अनुदित दोनों प्रकार के नाटकों की रचना हुई, फिर भी अनुदित नाटकों की बहुलता है। वस्तुतः द्विवेदी-युग में भाषा

परिमार्जन एवं गद्य शैली का विकास ही अधिक हुआ, नाटक आदि की रचना की ओर लोगों का ध्यान न गया। वस्तुतः इस युग के मौलिक नाटकों में ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों का प्राधान्य है और सामाजिक जीवन के विविध अंगों एवं समस्याओं को लेकर रचे जाने वाले नाटकों का अभाव है। ऐतिहासिक विषय-वस्तु को लेकर चलने वाले नाटकों में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुने', मिश्रबन्धु का 'शिवाजी' आदि प्रमुख हैं। सामाजिक विषयों पर कुछ व्यंग्यमूलक प्रहसनों की रचना हुई जिनमें जीवन की असंगतियों एवं नवीन वातावरण (पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव) के प्रति व्यंग्य है। बद्रीनाथ भट्ट के 'विवाह विज्ञापन' में पाश्चात्य ढंग की कृत्रिम साजसज्जा पर व्यंग्य है। पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'लल्लाबाबू' में समाज की असंगतियों का एक चित्र प्रस्तुत किया है। जी० पी० श्रीवास्तव के कुछ प्रहसन भी निकले किन्तु वे उच्चकोटि की नाट्यकला का परिचय नहीं देते। इस युग में पौराणिक कथाओं के आधार पर थियेट्रिकल ढंग के नाटक भी बने। ये नाटक उर्दू में ही लिखे जाते थे और केवल 'तमाशा' एवं स्वांग रूप में थे। इनमें साहित्य और कला दोनों की मिट्टी पलीत थी। इन कम्पनियों में हिन्दी के नाटकों का प्रवेश कराने वाले पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' ने 'महाभारत' नाटक लिखा जिसने जनता की रुचि को उर्दू नाटकों से हिन्दी की ओर मोड़ा। इसी प्रकार के नाटककारों में पं० राधेश्याम कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहर की गणना है। इन्होंने भी अभिमन्यु इत्यादि के पौराणिक विषय को लिया। राधेश्याम के 'वीर-अभिमन्यु' नाटक में पौराणिक विषय लेकर आधुनिक समाज का दृश्य अङ्कन करने का सुन्दर प्रयत्न है। पौराणिक विषयों को लेकर कुछ साहित्यिक पुरुषों ने भी मौलिक नाटकों की रचना की जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय जी का 'रुक्मिणी परिणय', प्रद्युम्न विजय व्यायोग, पं० ज्वालाप्रसाद का 'सीता-वनवास' बलदेव प्रसाद मिश्र का 'प्रभास मिलन', मीराबाई; बा० शिवनन्दनसहाय का सुदामा इत्यादि। पूर्णतया कल्पित कथा-वस्तु को लेकर चलने वाला राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक मध्ययुगीन दरबारी संस्कृति को दर्शाता है।

अब इस युग के अनूदित नाटकों की भी चर्चा कर ली जाय। इस युग में

संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी और बंगला के नाटकों के अनुवाद अधिक हुए। बंगला के उत्कृष्ट नाटकों का अनुवाद करने वाले पं० रूपनारायण पांडेय, अंग्रेजी के शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद करने वाले पुरोहित गोपीनाथ तथा संस्कृत नाटकों का अनुवाद करने वाले लाला सीताराम प्रसिद्ध हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के उत्तर रामचरित और मालतीमाधव का बड़ी सरस और साहित्यिक भाषा में अनुवाद किया।

द्विवेदी युग के नाटकों की शैली में प्रायः पूर्ववर्ती नाटकों की परम्परा चलती रही और प्रायः उन्हीं प्रवृत्तियों का विकास हुआ। हाँ, नाटकों में पद्य की भाषा धीरे-धीरे खड़ीबोली होने लगी और पाश्चात्य तथा बंगला प्रभाव से पद्य का प्राधान्य हटने लगा। गद्य की भाषा बड़ी साफ-सुथरी एवं तत्सम प्रधान होने लगी।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य का पूर्ण विकास तृतीय उत्थान काल में, या जयशंकर प्रसाद के इस क्षेत्र में आगमन से हुआ। नाटक के क्षेत्र में नवीन शैली के, या यों कहें, कि हिन्दी की अपनी मौलिक शैली के जन्मदाता प्रसाद जी हैं। उन्होंने एक नवीन नाट्य शैली को जन्म देकर आगे के नाटककारों के लिए मार्ग-दर्शन किया। प्रसादजी ने हिन्दी नाट्य साहित्य का पूर्ण परिपाक करके उसे चरमोन्नति की सीढ़ी पर पहुँचा दिया। हिन्दी-नाट्य-साहित्य का यह विकास काल 'प्रसाद युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

जयशंकरप्रसाद एक मौलिक व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुए। उन्होंने विदेशी नाट्य शैली में जो कुछ अच्छा था वह सब अपना बनाकर अपनाया है। पुरानी रूढ़ियों को हटाकर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने पहली बार अपने नाटकों के पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया और चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान देकर रस की धारा प्रवाहित की। प्रसाद जी ने यूरोप में प्रचलित शील-वैचित्र्यवाद का अन्धानुकरण न करके और शील वैचित्र्यवाद के सिद्धान्त को रसविधान के अन्तर्गत अपनाकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। प्रसादजी के नाटकीय पात्रों में अनेक प्रकार की परिस्थितियों के बीच जो अन्तर्द्वन्द्व की अवतारणा हुई है वह आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल है। इससे वे पात्रों के मन के अनेक स्तरों को खोल कर

दिखाने में समर्थ हुए हैं। नारी-चरित्र की अनेक प्रकार की कल्पना करके उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सारांश यह है कि ऐतिहासिक अनुशीलन और नवीन कल्पना के प्रयोग से उन्होंने नाट्य-कला में नवीन उद्भावनायें कीं। उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना प्राचीन भारतीय संस्कृति की नाटकीय-कला के द्वारा खोज में प्रकट हुई है। उनकी नाट्यकला की मुख्य विशेषतायें ये हैं—सांस्कृतिक धारा के अक्षुण्ण प्रवाह की भावना, दार्शनिक चिन्तन, स्वाभाविक चरित्र कल्पना, राष्ट्रीयता का आग्रह, संघर्ष के द्वारा जीवन के मूल तत्त्व की खोज, नारी में शक्ति और चेतना की प्रतिष्ठा; काव्यात्मकता का प्रवाह, पद्य में खड़ीबोली की पूर्ण प्रतिष्ठा और प्राचीन शास्त्रीय नीरस रूढ़ियों का बहिष्कार और नवीन युगानुकूल नाट्य-शैली की प्रतिष्ठा।

प्रसादजी ने विविध विषयात्मक एवं शैली-विधानात्मक नाटकों का सृजन किया। उन्होंने पश्चिम में प्रचलित कई नाट्यशैलियों को अपनाया। प्रसादजी के नाटक संक्षेप में इन कोटियों मे रखे जा सकते हैं—प्रथम, ऐतिहासिक नाटक जैसे चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि। इन नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के सजीव चित्र हैं। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति की खोज नाटकीय कला द्वारा की और ऐतिहासिक तत्त्वों के विश्लेषण में मौलिक ढङ्ग अपनाया। इन नाटकों में प्रसादजी ने विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष दिखाकर मूल भारतीय चर्चा सांस्कृतिक धारा को अक्षुण्ण बनाये रक्खा और नवीन राष्ट्रीय चेतना की भावना को विशेष बल दिया और इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर उन्होंने आशावादिता का पल्ला नहीं छोड़ा है। दूसरे, प्रसाद ने 'जन्मेजय का नागयज्ञ' नामक पौराणिक नाटक लिखा है। इसमें प्रसाद ने पहली बार पौराणिक वातावरण को नवीन युग के आलोक से आलोकित किया है और भारतेन्दु-युगीन पौराणिक-नाट्य शैली से पार्थक्य सूचित किया। तीसरे, पाश्चात्य समस्या-नाटक की शैली का परिचय इन्होंने 'ध्रुवस्वामिनी' में दिया। चौथे, इन्होंने अंग्रेजी के एलीगेरी (अन्योपदेश) ढङ्ग का नाटक 'कामना' लिखा।

इसमें भाव एवं मनोविकारों का मानवीकरण है और प्रतीकात्मक शैली का प्राधान्य है। इसलिए कुछ विद्वान इसे 'भावात्मक नाटक' कहते हैं और अन्य 'प्रतीकात्मक'। पाँचवें, प्रसादजी ने 'करुणालय' नामक प्रथम गीतिनाट्य का सृजन किया। छठे, प्रसादजी ने 'एक घूँट' लिखकर एकांकी शैली का भी सूत्रपात किया। इस प्रकार प्रसाद जी ने नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में विविध शैलियों का प्रयोग किया जिनका परवर्ती नाटककार अनुकरण करते रहे।

प्रसादजी के बाद ऐतिहासिक नाट्यकारों में हरिकृष्ण प्रेमी, उग्र, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट और सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। इन लेखकों ने इस क्षेत्र में नवीन शैली की उद्‌भावनाएँ की हैं। इनमें प्रेमीजी का 'रक्षा बन्धन', उग्र का 'महात्मा ईसा' और सेठ गोविन्ददास का 'हर्ष' विशेष प्रसिद्ध हुआ।

पौराणिक नाटकों के क्षेत्र में भी नवीन शैली विधान दिखाई पड़ता है। इस नवीन शैली विधान का संयोजन करने वालों में सुदर्शन, माखनलाल चतुर्वेदी, उदयशंकर भट्ट प्रमुख हैं। सामाजिक नाटकों का सृजन करने वालों में सेठ गोविन्ददास और उदयशंकर भट्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक प्रसंगों के आधार पर सुन्दर गीति-नाट्यों की (विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा, राधा) रचना करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

भावात्मक (अन्योपदेशिक) नाटककारों में सुमित्रानन्दन पन्त का अपनी 'ज्योत्सना' के लिए विशेष महत्त्व है। इन्होंने कुछ गीति नाट्य भी लिखे हैं।

प्रसाद के बाद नाट्य साहित्य के विकास के चतुर्थ उत्थान में उपर्युक्त तीन प्रमुख नाटककारों (गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट) की चर्चा करने के बाद अब हम पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र की चर्चा करेंगे। आप हिन्दी के प्रमुख समस्यामूलक नाटककार कहे जाते हैं। इन्होंने पश्चिम के इब्सन, विल्डे तथा शॉ की विशेषताओं का सामंजस्य अपने नाटकों (सिंदूर की होली, राजयोग, मुक्ति का रहस्य इत्यादि) में प्रस्तुत किया है। समस्यामूलक नाटकों

में युग की नवीन समस्याओं को प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं के साथ संघर्ष दिखाते हुए इस प्रकार प्रदर्शित किया जाता है कि पाठक स्वयं निर्णय नहीं कर पाता कि कौन सा पक्ष सही है। इसी उद्देश्य से प्राचीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं के विरोधी विचारों को उभार कर अङ्कित किया जाता है। नाटककार एक विशिष्ट चिन्तक के रूप में पाठक की विचारशक्ति उद्बुद्ध करने का प्रयत्न करता है। मिश्रजी ने अपने नाटकों में यथार्थवादी शैली अपनाई है और इसलिए उनके नाटकों में संवादों की लघुता, अधिक अङ्क एवं दृश्यों का अभाव मिलता है। उन्होंने व्यंग्य, विनोद एवं हाजिर-जवाबी का संयोजन करके अपने नाटकों में बुद्धिवाद को प्रखर रूप में व्यक्त किया है। पाश्चात्य टैकनीक को अपनाकर भी मिश्रजी पूर्णतया भारतीय-भावनावादी, आदर्शवादी, एवं परम्परावादी हैं। नाटकीय विधान की सरलता उनके समस्यामूलक नाटकों की विशेषता है। यों तो उन्होंने ऐतिहासिक नाटक (गरुड़ध्वज) भी लिखा है किन्तु उसका विशेष महत्त्व नहीं है।

नाट्य-विकास के इस वर्तमान युग में एकांकी नाटकों का सृजन भी पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण पर हुआ है। सर्वप्रथम प्रसादजी ने 'एक घूँट' नामक एकांकी लिखा था। इसके बाद भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवां' संग्रह पश्चिमी शैली को लेकर आया। वर्तमान युग में समय की बचत की दृष्टि से एक चित्रपट के विकास के कारण एकांकी नाटकों का विशेष महत्त्व हो गया है। एकांकी नाटकों में भी शैली का खूब परिष्कार हो रहा है। प्रमुख एकांकी-कार डा० रामकुमार वर्मा ने अपने कुछ एकांकियों का सृजन इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के रंगमंच के लिए किया और उनमें सामाजिक एवं ऐतिहासिक विषय-वस्तु का संयोजन किया। मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रमुख एकांकीकार हो गए हैं। अन्य एकांकीकारों में जैनेन्द्र, अज्ञेय, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी, विष्णु प्रभाकर इत्यादि प्रमुख हैं।

इधर एक नवीन शैली के नाटक लिखे जा रहे हैं जिन्हें रेडियो नाटक कहा जा सकता है। इनमें इस युग की नितान्त नवीन नाट्य-शैली का परिचय मिलता है। यह नाट्य-शैली भी पश्चिमी देशों की देन है। भव्वन शिल्प के

आधार पर डा० दशरथ ओझा ने रेडियो नाटक के ६ मुख्य भेदों का उल्लेख किया है—१—रेडियो रूपक, २—फीचर, ३—ध्वनि नाट्य (मनोवैज्ञानिक) ४—स्वोक्ति, ५—फैन्टेन्सी (भावनाट्य या ऋतु सम्बन्धी), ६—ध्वनि गीति रूपक, ७—रिपोर्ताज, ८—जननाटक तथा ९—व्यंग्य । रेडियो नाटक की इस नितान्त अभिनय प्रवृत्ति ने नाट्य साहित्य को विशेष समृद्ध किया है । प्रसिद्ध रेडियो नाटककारों में सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, चिरंजीत, सुशील, अमृतलाल नागर आदि हैं ।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य

हिन्दी में उपन्यास आधुनिक युग की देन है । यों तो प्राचीन भारतीय साहित्य में कथा-साहित्य का सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'वृहद्-कथा' मिलता है और संस्कृत में भी पौराणिक आख्यान तथा अन्य उपन्यास-जातीय काव्य मिलते हैं; किन्तु आधुनिक युग में उपन्यास एक विशेष टेकनीक पर रचित कथा-गद्य हैं, जिसका मुख्य आधार यथार्थवाद है । प्राचीन कथा-साहित्य में जीवन का कल्पना-जन्य-विवेचन मिलता है । आधुनिक युग में उपन्यास का प्रादुर्भाव पाश्चात्य प्रणाली पर ही हुआ है, भारतीय परम्परा में नहीं । हिन्दी में जब उपन्यास साहित्य का विकास हुआ तब तक पाश्चात्य साहित्य में इसका पूर्णरूपेण विकास हो चुका था और अँग्रेजी साहित्य के प्रभाव से बंगला में भी धड़ाधड़ उपन्यास निकल रहे थे । हिन्दी में यह प्रवृत्ति वहीं से आई । भारतेन्दु युग में बंगला के बहुत से उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ । गदाधरसिंह ने बंगविजेता और दुर्गेशनन्दिनी, राधाकृष्णदास ने स्वर्णलता; मरता क्या न करता, कार्तिकप्रसाद खत्री ने इला, प्रमीला, जया, मधुमालती इत्यादि राधाचरन गोस्वामी ने सावित्री, मृण्मयी, विरजा इत्यादि बंगभाषा के उपन्यासों के अनुवाद किए । यह अनुवादों की परम्परा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक अबाध रूप से चलती रही ।

प्रथम उत्थान—(सन् १८५० से १९०० तक) हिन्दी के मौलिक उपन्यासों का उद्भव भी भारतेन्दु युग में ही हो गया था । आचार्य शुक्ल ने लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' को हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का पहला

उपन्यास कहा है। इसमें बड़ी साधारण सी कथा है—एक अमीर के बिगड़ने और अपने एक सच्चे मित्र की सहायता से सुधरने की घटना है। इसमें नैतिक उपदेश की बहुलता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतेन्दु हरिचन्द्र के 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। इसमें भी लेखक का उद्देश्य वृद्ध विवाह के दोष दिखाकर कन्याओं की शिक्षा का समर्थन है। भारतेन्दु काल के अन्य बहुत से लेखकों ने भी उपन्यास साहित्य की अभिवृद्धि की। इनमें बाबू राधाकृष्णदास के 'निःसहाय हिन्दू' और पं० बालकृष्णदास भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' दो उपदेशात्मक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हुए। इस युग के उपन्यासों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति नीति एवं उपदेश का आधिक्य है। बालकृष्ण भट्ट जी पर स्पष्टतया संस्कृत के हितोपदेश की छाप दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः नीति और उपदेश की अधिकता रहते हुए भी मनोरंजन ही इन उपन्यासों का लक्ष्य था। इसका कारण साहित्य के इस अविकसित अङ्ग का पर्याप्त विकास करना था। फिर भी इन उपन्यासों में आधुनिक युग की चेतना, जनवादी विचारधारा और यथार्थ-चित्रण भी मिलते हैं। आलंकारिक, उपदेशात्मक एवं मनोरंजन शैली का प्राधान्य होते हुए भी इस युग के उपन्यसों में स्पष्टतया यथार्थवाद की ओर रुझान है। आगे चलकर उपन्यास-साहित्य के तृतीय उत्थान में इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास प्रेमचन्द में मिलता है।

द्वितीय उत्थान—(सन् १९०० से १९१५ तक) इस काल में हिन्दी उपन्यास में ऐय्यारी और तिलिस्मी उपन्यासों का प्राधान्य हो गया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इन उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—"इन में अद्भुत और असाधारण घटनाओं की ऐसी रेल-पेल है कि पाठक का चित्त धक्का खाकर आगे बढ़ता जाता है, उसे कथानक के गठन और चरित्र के विकास की बात याद ही नहीं रहती। अतिप्राकृत, अद्भुत और असाधारण घटनाओं से आश्चर्यजनक परिस्थितियों का निर्माण तिलस्माती कथानकों का प्रधान आकर्षण था।" देवकीनन्दन खत्री इस परम्परा के उद्घाटनकर्ता थे। इनकी चन्द्रकांता और चन्द्रकांतासंतति उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुई। शुक्लजी ने इन घटना वैचित्र्यपूर्ण उपन्यासों में जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का

प्रयत्न न देखकर इन्हें साहित्य कोटि में नहीं माना है। दूसरे मौलिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक जीवन का वासना के रंग में चित्र प्रस्तुत किया जो विशेष उच्चकोटि का नहीं है। दूसरे इनकी शैली पूर्णतया उर्दू शैली हो गई, इस दृष्टि से इनका महत्त्व कम हो जाता है। इसी काल में प्रसिद्ध कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय और बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने भी रचना की। उपाध्यायजी की रचनाओं में ठेठ हिन्दी का ठाठ है और ब्रजनंदनसहाय के उपन्यासों में भाव-प्रधानता। इस काल के मौलिक उपन्यासों का लक्ष्य केवल मनोरंजन ही है। हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक काल में जो अनुवाद की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उसका विकास इस युग में भी पर्याप्त हुआ। इस युग में उर्दू, अंगेजी और बंगला भाषा के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस काल में बंगला के श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद हुआ, इनमें रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाटकों का भी अनुवाद हुआ। इस प्रवृत्ति का प्रभाव परवर्ती हिन्दी उपन्यासों पर देखा जा सकता है। बंगला के उपन्यासों ने हिन्दी के उच्चकोटि के उपन्यासों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया। इनका विवेचन तृतीय उत्थान में करेंगे। बंगला से अनुवाद करने वालों में पं० रूपनारायण पाण्डेय, बाबू गोपालराम गहमरी और पंडित ईश्वरीप्रसाद अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

इस प्रकार इस उत्थान में अनूदित उपन्यासों के अतिरिक्त जो मौलिक उपन्यासों की रचना हुई वे चार प्रकार के हैं—तिलस्मी, साहसिक, जासूसी एवं रोमानी। इन विशेषताओं के कारण ही इस युग में उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद की अपेक्षा कल्पना की ओर अधिक रुझान है।

तृतीय उत्थान—(सन् १९१६ से १९३५ तक) तृतीय उत्थान में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव हुआ और उपन्यास साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। अब तक उपन्यास-निर्माण का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन था। प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम यथार्थ की भूमिका पर चरित्र-चित्रण की ओर पूर्णरूपेण ध्यान दिया और मानव-जीवन और मुख्यतया कृषक वर्ग एवं राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने उपन्यासों में बड़ी संवेदनशील शैली में प्रदर्शित किया। इसलिए उन्हें कुछ परिस्थिति-चित्रण भी करने पड़े जो बड़े सजीव एवं यथार्थ

हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी सरलता एवं अकृत्रिमता ही है। वस्तुतः हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवादी विचारधारा का उचित प्रकाशन प्रेमचन्द से ही प्रारम्भ होता है। वैसे तो भारतेन्दु युग में भी यथार्थ की प्रवृत्ति थी किन्तु उस समय इसका मूल राष्ट्रीय चेतना थी और अब जीवन की विविध परिस्थितियाँ। इसीलिए इस युग की यथार्थानुभूति में वेदना की निवृति है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रेमचन्द का महत्त्व बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है—"प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे; पर्दे में कैद, पद पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख, और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वाले से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।" सारांश यह है कि प्रेमचन्द ने जीवन के विस्तृत पक्ष का ईमानदारी के साथ उद्घाटन करके उपन्यास साहित्य को कला की पूर्ण कृति बनाने का अद्भुत प्रयत्न किया है। तत्कालीन युग की सभी प्रकार की परिस्थितियों का परिचय प्रेमचन्द के उपन्यासों में उपलब्ध है। इसीलिए प्रेमचन्द उपन्यास-सम्राट के गौरवपूर्ण आसन पर बैठ सके हैं। आधुनिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता मानवतावादी दृष्टि एवं यथार्थ की अनुभूति का पूर्ण परिपाक प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है।

इस उत्थान के दूसरे महत्त्वपूर्ण लेखक जयशङ्करप्रसाद हैं जो अपने 'कंकाल' में समाज के वर्तमान नर कंकाल का चित्र उतारने में सफल हुए हैं। इस उपन्यास में प्रसाद जी ने उपन्यास में भावप्रधान एवं कल्पना-प्रवण शैली का प्रयोग करके नई सम्भावनाओं को जन्म दिया। इस उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की गई है। कंकाल में धर्म के नाम पर नैतिकता का शोषण दिखाकर लेखक ने कटु व्यंग्य किया है। कंकाल के अन्दर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद एवं प्रकृतवादी विचारधारा का

अपूर्व सम्मिश्रण है। आगे चलकर जो सामाजिक कुरूपताओं को दिखाने का प्रयत्न हुआ और प्रकृतवादी उपन्यासों की परम्परा चली उसमें कंकाल का बहुत योग है। प्रसाद जी की तितली में लेखक की नारी भावना का प्रकाशन है। तितली में प्रकृतवादी जीवन के स्थान पर भौतिक भूख, दुःख इत्यादि का चित्रण प्रधान हो गया है। इसमें समाज पर जो व्यंग्य है वह इतना उभरा नहीं है और पात्रों के जीवन-माध्यम से ही प्रकट है। तितली लेखक की करुणा तितली के साथ ही खेतों और खलिहानों में उमड़ पड़ी जहाँ आर्थिक शोषण का नग्न नृत्य हो रहा है। उन ग्रामीण झोंपड़ियों में दुःख-दर्द और भूख का करुण चित्रण है।

इस युग में प्रेमचन्द की भाँति ही कुछ अन्य सामाजिक उपन्यासकार भी हुए जिसमें पं० विश्वम्भरनाथ कौशिक (माँ और भिखारिणी के लेखक), बाबू प्रताप नारायण श्रीवास्तव (विदा, विकास, विजय और विसर्जन के लेखक), श्री जैनेन्द्रकुमार (तपोभूमि, सुनीता, परख, कल्याणी आदि के लेखक) नागार्जुन आदि प्रमुख हैं। इनके उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति के चित्र मिलते हैं।

इस युग के वृन्दावनलाल वर्मा अपनी ऐतिहासिकता के साथ उपन्यास-क्षेत्र में नई भावनाओं को लेकर प्रकट हुए। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में नई उद्भावनाओं के साथ प्राचीन खंडहर का मेल करके नये ढंग से इतिहास और साहित्य का समन्वय प्रस्तुत किया है। इनके बहुत से उपन्यास हैं जिनमें झाँसी की रानी, गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी और मृगनयनी प्रमुख हैं। इन सभी उपन्यासों में लेखक का दृष्टिकोण पूर्णतया समाज-मुखापेक्षी रहता है।

चतुर्थ उत्थान—(सन् १९३६ से आज तक) उपन्यास साहित्य में जैनेन्द्र को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति में बड़ी सफलता मिली है। इनके उपरान्त तो इस प्रकार के वैयक्तिक अध्ययन की परम्परा ही चल पड़ी। बाबू गुलाबराय जी ने इस श्रेणी के उपन्यासों की विशेषताएँ निरूपित करते हुए कहा है "आधुनिक उपन्यासों में मनुष्य के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन की कुंजी से उसके चारित्रिक रहस्यों का

उद्घाटन किया जाता है। व्यक्ति की दुर्बलताएँ सामाजिक और मानसिक कारणों के आलोक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई हैं।" मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासकारों में जैनेन्द्र जी के अतिरिक्त भगवतीप्रसाद वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी और नरोत्तम नागर प्रमुख हैं। इन सबमें इलाचन्द्र जोशी अपनी गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं फ्रायडियन प्रभाव के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मनोवैज्ञानिक की भाँति मन के चेतन और अचेतन स्तरों को स्वीकार करके अपने उपन्यासों में प्रदर्शित किया है। जोशी जी ने 'सन्यासी' उपन्यास में मनोवैज्ञानिक सत्यों की खोज में जीवन के जिन गहन और अज्ञातस्तरों का उद्घाटन किया है उससे उपन्यास क्षेत्र में एक नवीन भावना का उद्बोधन और एक नई शैली का प्रणयन हुआ है। जीवन के वाह्य तथा आन्तरिक भाव-प्रतिभावों का भीषण संघर्ष और उनका सामंजस्य हमें प्रथम बार सन्यासी में मिलता है। इसमें लेखक ने उल्लास और विषाद का पूर्ण सामंजस्य प्रस्तुत किया है।

दार्शनिक तथ्यों के विवेचन से पूर्ण और जीवन सम्बन्धी गहन विचारों का बड़ा ही सुलझा हुआ रूप प्रस्तुत करने वालों में अज्ञेय जी प्रमुख हैं। इनका 'शेखर: एक जीवनी' हिन्दी-उपन्यास संसार में टाइप बन गया है। इसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में दार्शनिकता का पुट देकर अज्ञेय जी ने एक नूतनता ला दी है। इसके बाद 'नदी के द्वीप' में अज्ञेयजी प्रकृतिवादी अधिक हो गए हैं। इसमें सेक्स की भावना अधिक उभर आयी है। आजकल मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास लेखकों ने सेक्स को प्रधानता देना शुरू कर दिया है। द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'घेरे के बाहर' यौन वर्जनाओं की अभिव्यक्ति में ही मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद की इति मानता है।

रोमानी प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाले अश्क जी भी उल्लेखनीय हैं। इसी कोटि के अन्य लेखकों में उग्रजी, रामचन्द्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर हैं।

वर्तमान काल में उपन्यासकारों का एक वर्ग विदेशी साहित्य की साम्यवादी धारा को लेकर चल रहा है। इनमें सर्वप्रथम सफल प्रयत्न करने वालों में यशपाल प्रमुख हैं। राहुलजी भी इसी धारा के लेखक हैं किन्तु अपने ऐतिहासिक इतिवृत्तों के कारण उनके उपन्यास सामाजिक पहलू को छोड़कर इतिहास ही

अधिक दिखाई पड़ते हैं। इस धारा के अन्य लेखकों में डा० रांगेयराघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र इत्यादि मुख्य हैं। इन सभी कलाकारों में सामाजिक विषमता, दरिद्रता एवं वर्ग-संघर्ष के भाव मनोविश्लेषणवाद की धारा से समन्वित होकर व्यक्त हुए हैं। इन्होंने समाज के नवीन स्तर भेदों का सविस्तार वर्णन किया है और उनके बीच सामाजिक जीवन के छोटे-से-छोटे सम्बन्धों का आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप निराकरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने भी पुण्य, प्रेम, वासना, जातिगत एवं धर्मगत रूढ़ियों तथा धारणाओं को जीवन के नवीन मूल्यों की कसौटी पर कसकर देखा है, और उस पर कहीं तो तीव्र व्यंग्य किया है, कहीं गहरी करुणा की धारा प्रवाहित की है। उदाहरणार्थ रांगेय राघव ने अपने 'घरौंदे' नामक उपन्यास में अन्तर-जातीय प्रणय को वास्तविक परिणय के रूप में सामाजिक मान्यता दिला दी है। इन सामाजिक उपन्यासों में मानवता की पुकार का स्वर नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की चेष्टा है। इसमें आर्त व्यक्ति के करुण-क्रन्दन को सुना गया है और उसे आश्वासन देने के उपायों का चिन्तन किया गया है। साथ ही प्रेम, पाप-पुण्य, विवाह इत्यादि सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा भी है।

सारांश यह है कि वर्तमानकाल के उपन्यास में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, एक साम्यवाद पर आधारित यथार्थवाद की और दूसरी मनोविश्लेषण की। वर्तमान युग के उपन्यासों में यथार्थ की प्रवृत्ति कई रूपों में प्रकट हुई है, जैसे—ऐतिहासिक **यथार्थवाद** हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाणभट्ट की आत्मकथा और वृन्दावनलाल वर्मा की मृगनयनी में; **प्रकृतवादी यथार्थवाद** अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' तथा उग्रजी, इलाचन्द्र जोशी और यशपाल की कुछ रचनाओं में; **अतियथार्थवाद** द्वारिकाप्रसाद मिश्र के 'घेरे के बाहर' में; **समाजवादीय यथार्थवाद** रांगेय राघव के 'घरौंदे' तथा यशपाल की कुछ रचनाओं में, **मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद** इलाचन्द्र जोशी, डा० देवराज एवं अज्ञेय की कुछ रचनाओं में मिलता है।

कुछ आधुनिक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की सूची इस प्रकार है—

१—उदयशंकर भट्ट—सागर लहरें मनुष्य, उदयास्त।

२—भगवतीचरण वर्मा—भूले बिसरे चित्र।
३—अमृतलाल नागर—बूँद और समुद्र, सुहाग के नूपुर।
४—चतुरसेन शास्त्री—सग्रास।
५—शैलेश मटियानी—बोरीवली से बोरीबन्दर तक।
६—डा० देवराज—जय की डायरी।
७—यशपाल—झूठा सच।
८—रांगेयराघव—अन्धा रास्ता आदि।

आंचलिक उपन्यास—

१—अमृतलाल नागर—सेठ बांकेमल।
२—फणीश्वरनाथ रेणु—मैला आँचल, परती परिकथा।
३—उदयशंकर भट्ट—सागर लहरें मनुष्य, उदयास्त।
४—देवेन्द्र सत्यार्थी—ब्रह्मपुत्र।
५—निराला—बिल्लेसुर बकरिहा आदि।

हिन्दी कहानी-साहित्य

यों तो मानव समाज में कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति आदिम काल से चली आती है और प्राचीन भाषाओं के साहित्य में इसकी परम्परा भी सुरक्षित है किन्तु हिन्दी में कथा साहित्य का आविर्भाव बीसवीं शताब्दी की देन है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भी कहानी कहने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। लौकिक संस्कृत साहित्य में पंचतन्त्र की कहानियाँ प्रसिद्ध ही हैं। पुराणों में कहानी की प्रवृत्ति का उपयोग ज्ञानोपदेश के लिए है। बुद्ध की जातक कथाएँ भी कहानी की प्रवृत्ति का परिचय देती हैं। वस्तुतः कहानी 'कहने का मनोरंजक एवं विशिष्ट ढंग है' जिसके द्वारा बड़े जटिल एवं गहन विषयों को समझाने का प्रयत्न मानव समाज में बहुत प्राचीन समय से ही होता रहा है। आज 'कहानी' शब्द एक विशिष्ट प्रकार की रचना के लिए रूढ़ हो गया है जिसके मुख्य अङ्ग ये हैं—कथावस्तु, चरित्रचित्रण, वातावरण, उद्देश्य और गद्य शैली। इन विशिष्ठ अङ्गों में भी एकोन्मुखता, लघु विस्तार, प्रभावान्विति

इत्यादि कहानी की प्रमुख विशेषताएँ हैं। आज कहानी का अर्थ गद्य में रचित कहानी ही है।

हिन्दी में कथा-साहित्य का इतिहास डेढ़ सौ वर्ष का है। सरस्वती का प्रकाशन और हिन्दी कहानी का प्रारम्भ दोनों घटनाएँ एक दूसरे से बहुत घुली-मिली हैं। प्रारम्भ में इन कहानियों का रूप अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों एवं कहानियों का रूपान्तर-मात्र ही था। इस कथा-साहित्य का उद्देश्य केवल लोकरंजन ही था इसीलिए इन कहानियों में लोकरंजन तत्त्व का प्राधान्य है। उन लेखकों ने अंग्रेजी और संस्कृत नाट्य एवं कथा साहित्य से ऐसे ही प्रेम प्रसंगों की कथाओं को चुना है जिनमें कथानक का विकास दैवी घटनाओं और संयोगों से होता है और इस प्रकार पाठकों की कुतूहल-वृत्ति को विकसित करके चरम विन्दु तक ले आकर उसकी संतुष्टि का प्रयत्न है। धीरे-धीरे हिन्दी में मौलिक कहानियों का सृजन होने लगा और अस्वाभाविक एवं अतिमानुषिक प्रसंगों से भरी कहानियों का स्थान जीवन में घटित होने वाली साधारण घटनाओं को लेकर चलने वाली कहानियों ने ले लिया। यहीं से आधुनिक युग की हिन्दी की साहित्यिक कहानी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

हिन्दी की साहित्यिक-कहानी-परम्परा का उद्घाटन करने के पूर्व हमें इस से पूर्व लिखी जाने वाली कहानियों का संक्षेप में विश्लेषण कर लेना चाहिए। ये कहानियाँ चार प्रकार की हैं—

१—संस्कृत की पौराणिक तथा अन्य कथाओं को लेकर रची जाने वाली कहानियाँ—इनका प्रारम्भ अठारवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ। लल्लूलालजी का प्रेमसागर और सुखसागर तथा सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान ऐसी ही रचनाएँ हैं। प्रेमसागर और सुख सागर 'भागवत' के आधार पर और नासिकेतोपाख्यान 'उपनिषद' की एक कथा के आधार पर लिखा गया है। बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि भी संस्कृत की कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं।

२—फारसी कहानियों के ढंग पर लिखी जाने वाली अस्वाभाविक एवं अतिमानुषिक कहानियाँ—जैसे लैला-मजनूँ; शीरी फरहाद, किस्सए गुलबकावली, छबीली भटियारिन, किस्सा साढ़े तीन यार। आचार्य हजारी-

प्रसाद द्विवेदी ने मुंशी इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को मुस्लिम प्रभावापन्न परम्परा की अन्तिम कहानी माना है जो अपनी भाषा शैली के कारण साहित्य के मन्दिर में प्रवेश पा गई है।

३—अंग्रेजी के नाटकों को कहानी के रूप में लिखना—सरस्वती के प्रारम्भिक अङ्कों में शेक्सपियर के कुछ नाटकों को कहानी-रूप में लिखने का प्रयत्न हुआ।

४—संस्कृत नाटकों को कहानी रूप में लिखने का प्रयत्न—सरस्वती में संस्कृत की 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र' इत्यादि की कहानी छपी।

किन्तु इन कहानियों में आधुनिक कहानी कला का अभाव है। इसलिए साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्त्व नहीं है। इन चार प्रकार की कहानियों के अतिरिक्त बंगला से अनूदित गल्प कहानियों का भी अपना विशेष महत्त्व है। इन कहानियों में विदेशी वातावरण एवं प्रवृत्तियों का अभाव है और भारतीय सुकुमार कल्पनाओं का प्राधान्य। इस दृष्टि से इन कहानियों में सुरुचि थी। वास्तव में छोटी कहानियों का उद्भव सर्वप्रथम अंग्रेजी साहित्य में हुआ। अँग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी कहानियाँ निकला करती थीं, वैसी कहानियों की रचना उनके अनुकरण पर बंगला में गल्प के नाम पर चल पड़ी और हिन्दी में नए ढंग की कहानियों का बीज बंगाली साहित्यिक कहानियों मे ही आया। बंगला से अनुवाद करने वाले दो प्रमुख लेखक बाबू गिरिजाकुमार घोष (लाला पार्वतीनन्दन) और बंगमहिला हैं। बंग महिला ने कुछ मौलिक कहानियों का भी सृजन किया जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

प्रथम उत्थान (सन् १९०० से १९१०) वस्तुतः सन् १९०० से ही हिन्दी कहानी का प्रारम्भ होता है। सरस्वती के प्रथम वर्ष (सन् १९००) में ही किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' नामक कहानी छपी। शुक्लजी के शब्दों में "यदि इन्दुमती किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है।"

'इन्दुमती' में आधुनिक युग की सबसे प्रमुख विशेषता यथार्थ की प्रवृत्ति का अभाव है। इसका कथानक सामान्य दैनिक जीवन जैसा न होकर राजपूती जीवन का है, जिसमें आजमगढ़ के राजकुमार चन्द्रशेखर ने इब्राहीम लोदी को

मार कर देवगढ़ के राजा को प्रसन्न कर उसकी इकलौती कन्या इन्दुमती से विवाह किया है। इस दृष्टि से यह आधुनिक युग की मानव केन्द्रित साहित्यिक कहानी नहीं ठहरती। सन् १९०३ में पं० रामचन्द्र शुक्ल की मौलिक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' और सन् १९०७ में बंग महिला की 'दुलाईवाली' प्रकाशित हुई। शुक्लजी की कहानी हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में "आधुनिकता के लक्षण से युक्त अवश्य थी और किशोरीलाल जी की पूर्व प्रकाशित दोनों कहानियों से श्रेष्ठ थी फिर भी 'दुलाई वाली' में जैसा निखार है वैसा इसमें नहीं है।" आधुनिक साहित्यिकता की दृष्टि से 'दुलाईवाली ही हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी है। इसका कथानक सामान्य जीवन से लिया गया है। एक छोटी-सी घटना के द्वारा लेखक ने बड़ी भाव-प्रधान कहानी की सृष्टि की है। कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—वंशीधर अपनी पत्नी के साथ अपने मित्र नवलकिशोर से मिलने के लिए बनारस से मुगलसराय आते हैं पर मित्र से नहीं मिल पाते। मिर्जापुर स्टेशन पर नवलकिशोर अपनी पत्नी के साथ 'दुलाईवाली' के रूप में बैठे मिले। पत्नी पति से छूट जाने के कारण विलाप कर रही थी। आगे इलाहाबाद स्टेशन पर जब वंशीधर उसके पति का पता लगाने जाते हैं तो नवलकिशोर भेष बदलकर फिर वास्तविक रूप में प्रकट हो जाते हैं और इस प्रकार एक मनोरंजक कहानी तैयार हो जाती है। इसमें भाषा-विषयक नवीन ग्रामीण प्रयोग हैं और रेल के डिब्बे का तथा पति के बिछुड़ने पर अकेली पत्नी के मनोभावों का यथार्थ चित्रण बड़ा सुन्दर है। यह कहानी पूर्णतया मानव केन्द्रित है तथा प्राचीन कहानियों के कथानक, शैली एवं वातावरण से भिन्न प्रकार के तत्त्वों से संयोजित है। इसी समय के आसपास कुछ और कहानियाँ भी सरस्वती में प्रकाशित हुईं। किन्तु हिन्दी कहानी का प्रथम उत्थान एक प्रकार से नवीन प्रयोगों का काल है। हिन्दी कहानी का स्थिर रूप द्वितीय उत्थान में दिखाई पड़ता है। मास्टर भगवानदास, माधवप्रसाद मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, स्वामी सत्यदेव, वृन्दावनलाल वर्मा इत्यादि इस उत्थान के कुछ कहानीकार प्रसिद्ध हैं। फिर भी इस उत्थान की तीन कहानियाँ ही साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती हैं—'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'।

द्वितीय उत्थान (सन् १९११ से १९१९)—हिन्दी कहानी के विकास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ जयशङ्करप्रसाद की 'इन्दु' मासिक पत्रिका में सन् १९११ में प्रकाशित 'ग्राम' नामक कहानी से उपस्थित होता है। इस कहानी में ऋण के फलस्वरूप पैदा हो गई दयनीय स्थिति का चित्रण है। इस कहानी में प्रसाद जी ने मानव व्यापार की व्यंजना सजीव प्रकृति की देख-रेख में चलाने की योजना प्रस्तुत की है। इस सांकेतिक पृष्ठभूमि पर कहानी के व्यापार में मार्मिकता आ जाती है। यह कहानी वातावरण प्रधान है, जिसके सब चित्र व्यंजना सापेक्ष है। प्रसाद जी ने 'ग्राम' कहानी के द्वारा वातारण प्रधान कहानियों में प्रकृति चित्रण की परम्परा स्थापित कर कहानी-कला को ठोस साहित्यिक रूप प्रदान किया है। इसके उपरान्त सन् १९१२ में प्रसाद जी की कुछ और कहानियाँ भी प्रकाशित हुई जैसे, चन्दा, तानसेन, रसिया बालम, मदन मृणालिनी। 'रसिया बालम' के कथानक पर शीरीं फरहाद की छाप है। अन्य कहानियाँ जीवन की सामान्य घटनाओं पर रचित हैं। चन्दा कहानी में कथानक, सम्वाद एवं चरित्रोद्घाटन का सुन्दर संयोजन है। प्रसाद जी की कहानियाँ प्रायः भाव प्रधान हैं। इस युग के प्रतिनिधि लेखक विश्वम्भरनाथ कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, पं० ज्वालादत्त शर्मा हमें प्रथम महायुद्ध के अन्त तक पहुँचा देते हैं। सन् १९१३ में कौशिक जी की पहली और बड़ी प्रसिद्ध कहानी 'रक्षा बन्धन' सरस्वती में प्रकाशित हुई। इसी समय राजा राधिकारमणसिंह की 'कानों में कंगना' इन्दु में निकली। इसमें प्रसादजी की भावात्मक शैली का स्वरूप मिलता है। सन् १९१४ में पं० ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा' और 'तस्कर' कहानियाँ निकलीं। सन् १९१५ में गुलेरी जी की अत्यन्त लोकप्रिय एवं उत्कृष्ट कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती में छपी। गुलेरी जी ने यद्यपि तीन ही कहानियाँ लिखीं, किन्तु उनकी 'उसने कहा था' हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कहानियों में एक है। शुक्लजी ने इस अद्वितीय कहानी के कला कौशल का उद्घाटन बड़े मार्मिक शब्दों में किया है—"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक

रहा है—केवल झाँक रहा है, विलज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विकृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।" गुलेरीजी की यह कहानी हिन्दी की सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है और कला के प्रत्येक अङ्ग पर पूरी उतरती है। द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द हिन्दी कहानी क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। इनके आने से इस क्षेत्र में अपूर्व परिवर्तन हो गया। इन्होंने अपनी कहानियों में भारतीय सामाजिक जीवन को प्रस्तुत किया। इन्होंने विभिन्न कहानी की टेकनीक के बीच अपनी नवीन टेकनीक बनाई। वे पूर्णतया जनता के लेखक थे और मूक और दीन किसानों की भावनाओं को वाणी दे रहे थे। उन्होंने पहली बार निम्न वर्ग को साहित्य में प्रतिष्ठित किया। इस सब का फल यह हुआ कि प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान हो गई हैं। सन् १९१६ में उनकी 'पंचपरमेश्वर' कहानी प्रकाशित हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'यह कहानी मनुष्य जीवन की यथार्थ जटिलताओं के भीतर से निकल कर उसकी यथार्थ समस्याओं को स्पर्श करती है और सत्य को स्वीकार करने की उस महिमाशालिनी क्षमता का परिचय देती है जो अनेक व्यवधानों के कारण सहज ही नहीं दिखाई देती।" प्रेमचन्द ने कहानी के क्षेत्र में नई सम्भावनाओं का मार्ग खोल दिया। इस प्रकार द्वितीय उत्थान में हिन्दी कहानी अपने आधुनिक सुष्ठ, एवं साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी।

तृतीय उत्थान (सन् १९२० से १९३५)—इस उत्थान में दो प्रतिनिधि कहानीकार प्रसाद और प्रेमचन्द थे। प्रेमचन्द भारतीय जीवन की सामूहिक और सामयिक परिस्थितियों के चित्रण में अन्यतम हैं। उनके सहयोगी कलाकारों में सुदर्शनजी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवपूजनसहाय, रायकृष्णदास, प्रभृति प्रसिद्ध हैं। सुदर्शनजी की कहानियों का उद्गम स्थल वही है जो प्रेमचन्द का मूल प्रेरणा स्रोत है, किन्तु आगे चलकर वे एक उपदेशक तथा प्रचारक का रूप लेते हुए प्रतीत होते हैं। बख्शीजी ने कुछ भावात्मक

कहानियों के लिखने के बाद इस क्षेत्र को छोड़ दिया। चण्डीप्रसाद हृदयेश ने अपनी संस्कृतनिष्ठ शैली में भावात्मक कहानियों की रचना की। रायकृष्णदास ने बड़ी कवित्वपूर्ण एवं सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन करने वाली प्रसाद शैली की कहानियाँ लिखीं। इसी उत्थान में छायावादी कवियों ने कहानी साहित्य को समृद्ध बनाया। पन्त, निराला, महादेवी और भगवतीचरण वर्मा की अनेक सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित हुईं। इस प्रकार इस उत्थान में हिन्दी कहानी-साहित्य अपने पूर्ण विकसित रूप में प्रकट हुआ। इस काल के कुछ प्रसिद्ध कहानीकारों ने आगे की कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियों का स्वरूप बनाया। इनमें जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र इत्यादि मुख्य हैं। इस उत्थान की कहानियाँ मुख्यतया चार प्रकार की हैं—

१—घटनाप्रधान—इनमें घटनाओं के विकास के साथ लेखक संवेदनशीलता भी पैदा करने के लिए कुछ मार्मिक स्थल रखता है। जैसे प्रेमचन्दजी, कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्र इत्यादि की अधिकांश कहानियाँ।

२—भावप्रधान—घटना के सूत्र को रमणीय कल्पना में पिरोकर एवं सुन्दर सम्वादों के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने वाली—जैसे जयशंकर प्रसाद तथा रायकृष्णदास की कहानियाँ।

३—कवित्वपूर्ण—परिस्थितियों का विशद एवं अलंकृत वर्णन करने वाली तथा घटना का क्षीण सूत्र लेकर चलने वाले चंडीप्रसाद हृदयेश की उन्मादिनी, शान्तिनिकेतन आदि कहानियाँ।

४—दार्शनिक एवं ऐतिहासिक तथ्यप्रधान—प्रसादजी ने कुछ कहानियों में भावुकता के साथ थोड़ी दार्शनिकता का पुट भी दिया है जैसे 'आकाशदीप' में। प्रसादजी ने मधुर या मार्मिक प्रसंग के सहारे ऐतिहासिक कला का स्वर्णचित्र भी दिखलाया है जैसे 'गुंडा' और 'आकाशदीप' में। रायकृष्णदास की गहूला भी ऐसी कहानी है।

चतुर्थ उत्थान (सन् १९३६ से आज तक)—इस उत्थान में कुछ पिछले खेवे के कहानीकारों ने कहानी के शैली पक्ष को नवीन दिशाओं में प्रवाहित

किया। इन दिशाओं में मुख्य ये हैं—मनोविश्लेषण, वातावरण-चित्रण, तथा चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व एवं विरोधाभास को दिखाने के लिए परिस्थितियों का निर्माण। मनोविश्लेषण को प्रमुखता देने वाले जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी हैं। जैनेन्द्रजी ने मानव-जीवन की असाधारण परिस्थितियों में उसके चरित्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आरम्भ किया। उनकी 'चलितचित्त' नामक कहानी में एक धनी को हीरे की अंगूठी पड़ी मिलती है और उसके चित्त को अव्यवस्थित कर देती है। उसके पास उससे कहीं बढ़कर मूल्य की अंगूठियाँ हैं पर उस असाधारण परिस्थिति में उसके मन के अन्तर्गत जो उथल-पुथल मचती है उसका चित्रण जैनेन्द्रजी ने बड़ी कुशलता से किया। यों तो प्रेमचन्द की कहानियों में भी मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है किन्तु वह बहुत स्थूल था। इसी समय अज्ञेय अपनी मनोविश्लेषणकारी कहानियों को लेकर प्रविष्ट हुए। उनकी 'विपथगा' की सभी कहानियाँ विभिन्न व्यक्तित्व का उद्‌घाटन करती हैं। 'अकलंक', 'शत्रु' और 'रोज' इत्यादि कहानियों में मनोविश्लेषण बड़ा ही स्वाभाविक एवं मार्मिक है। वातावरण-प्रधान कहानी लिखने वालों में भी अज्ञेयजी प्रसिद्ध हैं। इनकी 'रोज' कहानी में वातावरण ही की ध्वनि-वहन करने वाले मानव-रूपों की अवतारणा हुई है और वातावरण का प्रभाव सम्पूर्ण कहानी में अन्वित है। इसी युग में कुछ व्यंग्यप्रधान कहानियों का भी सृजन हुआ जैसे अज्ञेय की 'शत्रु' और चतुरसेन शास्त्री, उग्र आदि की सामाजिकता पर आघात करने वाली कुछ कहानियाँ।

इस युग में कुछ रोमानी कहानियों का भी निर्माण हुआ। उग्रजी अपने व्यंग्य में कटु होते-होते इस प्रवृत्ति को अपना चुके थे। 'अश्क' और 'पहाड़ी' भी आरम्भ में रोमानी ही रहे हैं। अन्य रोमानी ढङ्ग की कहानी लिखने वालों में धर्मवीर भारती, श्रीराम शर्मा, शम्भूनाथसिंह, आरसीप्रसादसिंह, देवीदयाल चतुर्वेदी आदि हैं। सामाजिक जीवन के आर्थिक आधार और तज्जन्य विषमताओं का चित्रण करने वाले कहानीकारों में यशपाल प्रमुख हैं। इन्होंने नवीन दृष्टिकोण से समाज के स्तर-भेद करके छोटे से छोटे सम्बन्धों का सुन्दर विश्लेषण किया है। यथार्थ इनका साधन रहा है और सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए आक्रोश एवं करुणा जाग्रत करना, साध्य। इन्होंने समाज की

बहुतसी समस्याओं को कथानकबद्ध किया है । इन्होंने परिवर्तित परिस्थितियों में प्राचीन रूढ़ियों का खण्डन नहीं किया वरन् स्त्री-पुरुष, प्रेम, वासना, जातिगत, धर्मगत, एवं अन्यान्य रूढ़ियों एवं धारणाओं को नई कसौटी पर कस कर देखा है और इसके लिए कहीं तीव्र व्यंग्य किया है तो कहीं करुणा की धारा प्रवाहित की है । यशपाल की भांति अन्य प्रगतिवादी कवि एवं उपन्यासकार भी कहानी के क्षेत्र में आए । इनमें मुख्य ये हैं—राहुल, अश्क, डा० रांगेय राघव, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतलाल नागर, मोहनसिंह सेंगर, प्रभाकर माचवे, यादव, विष्णु प्रभाकर, नरेन्द्र शर्मा, कृष्णचन्द्र इत्यादि । डा० रांगेय राघव की कहानियाँ मध्य एवं निम्न वर्ग का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करती हैं । श्री चन्द्रकिरण ने भी मध्यवर्गीय एवं मजदूर श्रेणी के लोगों को अपनी मार्मिक कहानियों का आधार बनाया ।

यों तो हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक युग में भी अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला एवं मराठी से अनूदित कहानियों की भरमार थी किन्तु वर्तमान समय में इस दिशा में और प्रगति हुई । आज विश्व की अनेक भाषाओं जैसे रूसी, चीनी, फ्रेंच इत्यादि से तो अनुवाद हो ही रहा है, भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की कहानियों का भी हिन्दी में अनुवाद हो रहा है। इन प्रादेशिक भाषाओं में गुजराती, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, असमी इत्यादि मुख्य हैं ।

इस प्रकार वर्तमान युग की कहानी के भाव एवं शैली में बड़ी क्रान्ति हो चुकी है । आज जनवादी-विचारधारा एवं मनोविश्लेषणात्मक व्यंग प्रधान शैली पूरी तौर से उभर कर अपने विकसित रूप में प्रकट हो रही है । डा० रांगेय राघव, राजेन्द्र यादव, मोहन सिंह सेंगर, बलवन्तसिंह, विष्णु प्रभाकर प्रभृति कहानीकार नई सम्भावनाओं को लेकर अवतरित हुए हैं । श्री राजेन्द्र यादव ने कहानीकला में अपनी शैली में मौलिक योग दिया है । वैसे तो मनोरंजक मासिक पत्रिकाओं में नित्य नवीन कहानी लेखक दिखाई पड़ते हैं किन्तु उनका स्थायी साहित्य के विवेचन में विशेष महत्त्व नहीं है ।

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य

आधुनिककाल हिन्दी गद्य की सर्वतोमुखी उन्नति का काल है। निबन्ध भी गद्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसका भी इस युग में उद्भव एवं पूर्ण विकास हुआ। वस्तुतः आधुनिक युग में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ बौद्धिकता का भी विकास हुआ और इसी बौद्धिक जिज्ञासा के फलस्वरूप निबन्ध साहित्य का जन्म हुआ। यों तो ११ वीं शताब्दी में ही टीका की परम्परा चल रही थी जिसमें परम्परागत बुद्धिगत विषयों के सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन, आक्षेपों का खण्डन एवं तर्क द्वारा विषय की स्थापना मिलती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"टीका की इस नई शाखा को हम निबन्ध साहित्य कह सकते हैं। ११ वीं शताब्दी के बाद निबन्ध ग्रन्थों की परम्परा बढ़ती गई।" इस प्रकार हिन्दी साहित्य में निबन्ध साहित्य का आविर्भाव भिन्न रूप में हुआ है। यह पण्डितों द्वारा धर्म के सुष्ठु रूप स्थापन में व्यवहृत हुआ। अंग्रेजी का 'एस्से' शब्द हिन्दी की इस निबन्ध परम्परा का द्योतन करने में समर्थ नहीं है। शुक्ल जी ने पाश्चात्य 'एस्से' के सामान्य लक्षण इस प्रकार बताये हैं—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।............व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।" डा० जॉनसन ने एसे को स्वच्छन्द मन की तरंग माना था जिसमें तारतम्य और सुघठन के स्थान पर विशृङ्खलता का प्राधान्य रहता था। शुक्लजी ने 'स्वच्छन्दता' एवं 'व्यक्तिगत, विशेषता' का विवेचन इस प्रकार किया है—"निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्धी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखायें ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।" आगे शुक्लजी ने तत्त्वचिन्तक या

वैज्ञानिक से निबन्ध लेखक का पार्थक्य उसके बुद्धि और भावात्मक हृदय के समन्वय में दिखलाया है।

जो भी हो। आज अंग्रेजी का 'एस्से' शब्द हिन्दी के 'निबन्ध' को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है। इस प्रकार आधुनिक युग में ही हिन्दी निबन्धों का सूत्रपात हुआ है। किन्तु दयानन्द सरस्वती या श्रद्धाराम फुलौरी के धार्मिक खण्डन-मण्डन के गद्य लेखन में साहित्यिकता का पूर्ण अभाव है। अतः वे शुद्ध साहित्यिक निबन्ध की कोटि में नहीं आ सकते। हिन्दी निबन्ध का जन्म वस्तुतः भारतेन्दु युग में पत्र साहित्य की उन्नति के साथ हुआ। भारतेन्दु से कुछ पहले का राजा शिवप्रसाद का लिखा 'राजा भोज का सपना', लैंब के निबन्धों की भाँति है जिसमें एक कल्पित कथानक लेकर मनुष्य के झूठे अहंकार और कीर्ति-लिप्सा का बड़े रोचक ढङ्ग से उद्घाटन किया है, किन्तु फिर भी सुष्ठु रूप से हिन्दी निबन्ध की परम्परा चलाने वाले भारतेन्दुजी ही हैं। भारतेन्दु युग के निबन्ध लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र विशेष महत्वपूर्ण हैं। यों तो पं० अम्बिकादत्त व्यास, चौधरी प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, बालमुकुन्द गुप्त आदि भी अच्छे निबन्ध लेखक थे। बालकृष्ण भट्ट की शैली बड़ी रोचक, मुहावरेदार एवं चलती हुई है। उनके निबन्ध लेखन-सिद्धान्त से ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है—"सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द की कली के समान दांत न खिल उठें तो वह लेख ही क्या?"

भट्टजी ने शुद्ध विचारपूर्ण लेख लिखे हैं जिनमें उनकी गम्भीर विवेचन पद्धति का परिचय मिलता है। इनके निबन्ध विविध विषयों पर मिलते हैं। इनकी निबन्धों की एक विशेषता उनका लघु आकार है। भट्ट जी की अपेक्षा प्रतापनारायण मिश्र में स्वच्छन्दता एवं हास्य अधिक है। उनमें कहीं-कहीं ग्रामीणता भी आ जाती है। मिश्रजी ने हिन्दी में हास्यरस के निबन्धों और व्यंग्यात्मक शैली को जन्म दिया। उनके लेखों का चुलबुलापन पाठकों को आकर्षित करने के साथ ही लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन भी करता है। इनकी लेखनी पूर्ण स्वच्छन्द होकर चलती है इसलिए भाषा का अकृत्रिम

प्रवाह और सजीवता सर्वत्र विद्यमान है। इनके निबन्धों के शीर्षक देखिए—दाँत, भौं, वृद्ध, मनोयोग, बात, क्रोध, समझदार की मौत है, इत्यादि। इसी युग के "शिवशम्भु के चिट्ठे" और 'खत' के लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त अपनी व्यंग्यात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण ढंग से या व्यंग रूप में कहते हुए हृदय के क्षोभ और दुःख को अत्यन्त प्रवाहपूर्ण ढंग से व्यक्त करना गुप्त जी की विशेषता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निबन्ध साहित्य की रूपरेखा में परिवर्तन हुआ। अब पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ने के साथ ही साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों का रंग-रूप भी बदला और उन्होंने गम्भीर रूप धारण किया। इसी समय सरस्वती के यशस्वी सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव हुआ और गम्भीर साहित्यिक निबन्धों की परम्परा का उद्घाटन हुआ। अब तक के लेखों में देश की परम्परागत भावनाओं, पर्व, त्योहार इत्यादि विषय रहते थे अतः वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों शैलियों का बड़ा सुन्दर सामंजस्य था। धीरे-धीरे वैयक्तिकता का ह्रास हो रहा था। द्विवेदी युग के प्रसिद्ध निबन्ध लेखक माधवप्रसाद मिश्र, बाबू गोपालराम गहमरी, बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह आदि हैं। द्विवेदी जी ने भाषा शैली का परिष्कार किया। फिर भी उनका महत्त्व एक शैलीकार के रूप में नहीं, किन्तु शुद्ध भाषा प्रणाली स्थापित करने में है। भाषा परिष्कार के साथ विचारों को शालीन बनाने के काम भी हुए; इनसे निबन्ध बौद्धिकता में बढ़ गये, हार्दिकता की उनमें कमी होने लगी। इसीलिए द्विवेदी जी के अधिकतर लेख 'बातों का संग्रह' मात्र हैं, उनमें स्थायी साहित्य के तत्त्वों का अभाव है। किन्तु उसी युग के तीन प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट निबन्ध लेखक माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह हैं। मिश्र जी के निबन्ध भावात्मक होते थे और धारावाहिक चलते थे। इनमें भारत की प्राचीन संस्कृति की दुर्दशा एवं देशभक्ति की भावना जोर मार रही है। इनमें बड़ी धार्मिक एवं ओजस्वी शैली के दर्शन होते हैं। गुलेरी जी में भाषा और शैली की प्रौढ़ता के साथ विचारों की प्रगतिशीलता एवं ज्ञान की

अपूर्व जिज्ञासा दिखलाई पड़ती है। इनके व्यंग्य में अधिक तीव्रता एवं मार्मिकता है। सरदार पूर्णसिंह की विशेषता का वर्णन श्री विजयशङ्करमल्ल ने इन शब्दों में किया है—"निबंध निबन्धों की परम्परा को एक नई लय और गति के साथ नये मानवतावादी मार्ग पर ले जाने का कार्य उदार प्रकृति और परम भावुक लेखक सरदार पूर्णसिंह ने किया।" मल्लजी के अनुसार अपनी नये ढङ्ग की व्यंजनात्मक शैली एवं भावों को मूर्तिमत्ता के साथ प्रस्तुत करने के कारण इनके निबन्ध पहले से चली आती भावात्मक शैली के अन्तर्गत नहीं आते। उनके मत से इन्हें प्रभावाभिव्यंजक कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार-संकेत और भाषण शैली की ओजस्विता—इन सबकी सहायता से बराबर एक विशेष प्रभाव की सृष्टि करते हैं।"

इस प्रकार द्विवेदी युग में कुछ उत्कृष्ट भावात्मक एवं विचारात्मक निबन्ध-कारों को छोड़ कर सभी लेखक निबन्ध के व्यक्तिपक्ष को दबा रहे थे। स्पष्ट-वादिता से भरे हुए इन निबन्धों में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति ही मिलती है, सम्पूर्ण मानसिक सत्ता—अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय—का सामंजस्य नहीं।

द्विवेदी युग के कुछ निबन्धकारों का स्वतन्त्र विकास भी हुआ है। इनमें मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास और गुलाबराय मुख्य हैं। मिश्रबन्धु के निबन्ध उस युग की उपदेशमूलक प्रवृत्ति के परिचायक एवं ज्ञानवृद्धि में सहायक हैं। बाबू श्याममुन्दरदास के निबन्धों में ओजपूर्ण शैली एवं सुष्ठ विचारों के गुम्फन ने उन्हें एक उत्कृष्ट विचारात्मक निबन्धकारों के रूप में प्रस्तुत किया है फिर भी उसमें उनके शिक्षक पद की झलक मिलती है। बाबू गुलाबरायजी की चर्चा आगे करेंगे।

आचार्य पं रामचन्द्र शुक्ल के साथ निबन्ध-साहित्य में एक नये युग की अवतारणा होती है। इन्होंने विचारात्मक और व्यक्तित्व-प्रधान दोनों प्रकार के उत्कृष्ट निबन्ध लिखे। विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक एवं विवेचनात्मक आदि विविध रूपों का विकास शुक्लजी ने किया। इनके

भावों या मनोविकारों पर लिखे गये निबंध अपनी विशेषता रखते हैं। इनमें शुक्लजी ने समाज में व्यवहृत प्रधान भावों पर ही विचार किया है। किंतु इस विवेचन में उन्होंने शास्त्रीय पक्ष को आत्मानुभूति से समन्वित करके प्रस्तुत किया है इसलिए उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। इस प्रकार मल्ल जी के शब्दों में 'शुक्लजी एक व्यावहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से सुन्दर सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं।' शुक्ल जी की परम्परा में अर्थात् अन्तः प्रयास से निकली विचारधारा में मल्ल जी ने कुछ विभिन्न विचारधारा वाले निबंध लेखकों को गिनाया है जैसे पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, श्री अज्ञेय, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री शिवदानसिंह चौहान। विचारात्मक एवं समीक्षात्मक निबंध लेखकों में प्रसिद्ध कवि जयशंकरप्रसाद, पन्त, महादेवी, निराला, उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। प्रसाद जी[१] और महादेवी जी[२] के निबन्ध गम्भीर साहित्यिक विषयों को लेकर चले हैं। निराला की शैली में विशेष स्वच्छन्दता, विनोद एवं व्यंग्य है।

इस युग में प्रभावाभिव्यंजक और भावात्मक दोनों प्रकार के सुन्दर निबन्ध मिलते हैं। प्रथम प्रकार के निबन्ध साहित्य-समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार के लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी प्रमुख हैं। दूसरे प्रकार की शैली का सुन्दर रूप डा० रघुवीरसिंह, माखनलाल चतुर्वेदी इत्यादि के निबंधों में मिलता है। इसी युग में वर्णनात्मक निबन्धों का परिचय मिलता है। यात्रा सम्बन्धी निबन्धों में महादेवी वर्मा तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के निबन्धों में प्राकृतिक दृश्यों में पाठक का मन रमाने का प्रयत्न है। राहुल जी के यात्रा सम्बन्धी निबन्ध अपनी विशेषता रखते हैं।

वर्तमान युग में निबन्ध साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ है। आज निबंध में नई-नई शैलियों का प्रयोग मिलता है। इस युग में समीक्षात्मक, विचारात्मक

१—काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—जयशङ्करप्रसाद।

२—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—महादेवी वर्मा।

भावात्मक, अनुसंधानात्मक एवं सांस्कृतिक निबन्धों के अतिरिक्त संस्मरणात्मक निबन्धों का भी विकास हुआ। संस्मरणात्मक निबन्ध लेखकों में श्री गुलाबराय, महादेवी वर्मा, नरहरिविष्णु गाडगिल, देवेन्द्र सत्यार्थी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति प्रसिद्ध हैं। गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ', महादेवी जी की 'स्मृति की रेखाएँ', हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' के कुछ निबन्ध संस्मरणात्मक निबन्ध हैं। अशोक के फूल में द्विवेदी जी के हृदय की कोमल भावनाओं, सरल एवं सहज व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। इनके निबन्धों में उत्पीड़ित मानव की पुकार सुनाई पड़ती है। इसलिए शैली में भावुकता, करुणा, व्यंग्य एवं विनोद का सुन्दर मिश्रण हो गया है।

श्री पं० नरहरिविष्णु गाडगिल ने हिन्दी निबन्ध में एक नवीन टेकनीक का अनुसरण किया है। इनके संस्मरणात्मक निबन्धों में समाचार-पत्रों की टेकनीक की झलक है। वस्तुत: वे लिखे भी समाचारपत्रों के लिए गये हैं। कुछ निबन्धों में जैसे 'काश हम मानवता का सम्मान करते', 'श्यानू मरा नहीं है वह बच्चा बन गया है' इत्यादि में हृदय की कोमल वृत्तियों का बड़ा मार्मिक वर्णन है। इनके निबन्धों में एक स्वतन्त्र विचारक एवं स्वच्छन्द और महान व्यक्तित्व की छाप है। आज ऐसे निबन्धों का बहुत प्रचार है।

भगवतशरण उपाध्याय की 'कलकत्ता से पीकिंग' पुस्तक में पत्रों का संग्रह है। लेखक चीन में शान्ति सम्मेलन में शामिल होने गया और वहाँ से कुछ पत्र अपने परिवार के लोगों एवं मित्रों को लिखे। मित्रों में कवि, लेखक, उपन्यासकार, सरकारी अफसर सभी प्रकार के लोग हैं। इन पत्रों में वर्णनात्मक निबन्धों का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। यह भी आज के हिन्दी निबन्ध साहित्य में नई टेकनीक है। इसमें लेखक ने 'जो देखा वह लिखा, देखा हुआ जितना लिखा जा सकता है।' उतना। बीच-बीच में लेखक ने व्यक्तिगत भावों का भी सुन्दर प्रदर्शन (अपनी रुचि-अरुचि प्रकट कर) किया है।

संस्मरणात्मक निबन्धों में डायरी रूप में लिखे गए निबन्ध भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। श्री सुन्दरलाल त्रिपाठी की 'दैनन्दिनी' में उनके

पिछले पाँच-सात वर्षों के डायरी लेखन का संग्रह है। किन्तु इसमें नित्यप्रति डायरी की सी असंबद्ध बहु वस्तुव्यापी और प्रकीर्णांक चर्चा न करके लेखक ने अपने व्यक्तिगत जीवन में वर्षा, ईश्वर के अस्तित्व जैसी साधारण विचार तरंगों को लैम्ब की सी शैली में प्रकट किया है। लैम्ब की भाँति लेखक का पारिवारिक जीवन व्याधिपूर्ण रहा है इसलिए इसमें करुणा का पुट भी उसकी मार्मिकता को बढ़ाने के लिए दिया गया है।

यहीं पर भेंट के फलस्वरूप लिखे हुए निबन्धों की चर्चा भी उपयुक्त रहेगी। हिन्दी में यह निबन्ध की नई टेकनीक है। इन निबन्धों में संस्मरणात्मक, भावात्मक एवं वर्णनात्मक निबन्धों की विशेषताओं का मिश्रण है। ऐसे निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता इनकी सरल एवं चित्रोपम शैली है। डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश की 'मैं इनसे मिला' पुस्तकों मे उनके ऐसे ही निबन्धों का संकलन हुआ है।

संस्मरणात्मक निबन्धों मे मिलते-जुलते ही 'रेखाचित्र' (स्केच) हैं। यों तो महादेवी के संस्मरणात्मक निबन्धों की विशेषता उनके रेखा-चित्रों में है किन्तु यह भी निबन्ध साहित्य में एक नई टेकनीक है। रेखा-चित्र लिखने वालों में रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचन्द्र और राजेन्द्र यादव प्रसिद्ध हैं। बेनीपुरी के रेखाचित्र यथार्थ का भावनारंजित रेखा-रूप प्रस्तुत करते हैं। प्रकाशचन्द्र और राजेन्द्र यादव के रेखाचित्र यथार्थवादी हैं किन्तु उनमें वेदना की विवृत्ति और व्यंग्य भी मिश्रित हैं।

प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित एवं सामाजिक क्रान्ति की भावनाओं को लेकर चलने वाले आधुनिक निबन्धकारों ने भी निबन्ध की टेकनीक के कुछ नवीन प्रयोग किए हैं। इन निबन्धों में व्यक्तिपक्ष की प्रधानता और व्यंग्यात्मकता एवं कटूक्ति से पाठक में तिलमिलाहट उत्पन्न करने का प्रयत्न है। ऐसे लेखकों में यशपाल, प्रभाकर माचवे, नामवरसिंह मुख्य हैं। शैली और प्रवृत्ति दोनों के विचार से इन निबन्धकारों ने ह्रासोन्मुख प्राचीन रूढ़ियों एवं परंपराओं की धज्जी उड़ायी है और नवीन युग की चेतना की विविध-

रूपिणी विचारधारा की प्रतिष्ठा की है। शैली में प्रखर व्यंग्य की अधिकता इसका साधन है।

सारांश यह है कि आज हिन्दी का निबन्ध-साहित्य विविधरूपी आकार-प्रकार धारण करके युग की चेतना को प्रकट कर रहा है।

हिन्दी समालोचना साहित्य

यों तो साहित्यशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितनी साहित्यिक रचना। और कुछ सुधी लोग तो यह भी कहते हैं कि साहित्यशास्त्र ही इन दोनों में अधिक प्राचीन है, फिर भी हिन्दी आलोचना का जो विकास आधुनिक काल में हुआ उस पर प्राचीन भारतीय परंपरा के साथ ही साथ पाश्चात्य आलोचना-प्रणाली का प्रभाव पड़ा है। आधुनिक काल के गम्भीर एवं उच्चकोटि की आलोचन-शैली के प्रवर्त्तक आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का सफल समन्वय अपनी आलोचना में किया है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य की रचना और उसकी आलोचना की समानान्तर धाराओं की चर्चा करते हुए इन दोनों को एक-दूसरे को प्रभावित करने वाला बतलाया है। वे लिखते हैं "वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ एक ओर साहित्य निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं।" वाजपेयी जी ने भक्तियुग की समीक्षा पद्धति में युगानुकूल भक्ति भावना की प्रमुखता बतलाते हुए तुलसी के 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' और कबीर की साहित्यिक अनभिज्ञता की स्वीकृति को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। कबीर और तुलसी का साहित्य भक्ति-भावना की दृष्टि से ही श्रेष्ठ है। तुलसी भी तो अपने काव्य की श्रेष्ठता इसी भक्ति भावना के कारण मानते हैं—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुतिसारा।

वाजपेयी के शब्दों में—"उस समय (भक्तियुग में) का समीक्षादर्श भी भक्ति-भावना को प्रमुखता देकर चला था। रचना के कलात्मक गुणों की एक हद तक उपेक्षा हो गई।" शृङ्गारकाल में आकर समीक्षा युगानुरूप 'रीति' रचना के आदर्श को लेकर चली और उसमें संस्कृत साहित्य-शास्त्र का विकास

हुआ। अलंकार, रस, नायिक-भेद आदि काव्य के भिन्न अङ्ग-उपांगों के साथ ही गुण-दोष निरूपण भी हुआ। संस्कृत साहित्य की भाँति काव्य रचनाओं को रस, अलंकार, गुण, दोष आदि के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया गया। ऐसा ही प्रयत्न हेमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के दोहों को उद्धृत करके किया था।

शृङ्गारकाल की समीक्षा पद्धति में एक मत अलंकारों को प्रधानता देने वाले केशव का है जो काव्य का सर्वोत्तम गुण अलंकार मानकर इतर काव्य को हीन घोषित करते हैं। उनका सिद्धान्त इस प्रकार है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

दूसरा मत रसवादी एवं हृदयपक्ष को प्रधानता देने वाले स्वच्छन्द-धारा के कवियों का है जो रीति के आधार पर रची हुई कविता को निकृष्ट मानते हैं और कविता में रस एवं हृदयपक्ष की पूर्णता पर जोर देते हैं तथा ऐसे ही काव्य को उत्कृष्ट काव्य घोषित करते हैं। ठाकुर कवि के शब्दों में शृङ्गारकाल के इस दूसरे समीक्षा सिद्धान्त को भी सुन लीजिए—

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामनि,
सीखि लीनो मेरु औ कुबेर गिरिआनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहीं बाँधियत बानो है।
ढेल सों बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

इस प्रकार तत्कालीन रचनात्मक साहित्य की दो प्रमुख धाराओं के अनुकूल दो प्रमुख समीक्षा सिद्धान्तों की उद्भावना हुई।

हिन्दी के मध्ययुग में कवियों या पुस्तकों के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिए दूसरी पुस्तक तैयार करने की आधुनिक प्रणाली का अभाव है।

यह तो आधुनिक युग एवं पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है। फिर भी कवियों की विषमताओं का दिग्दर्शन कराने वाली उक्तियाँ एवं कवियों की विशेषताओं का निरूपण करने वाले छन्द मिल जाते हैं। इन उक्तियों में प्रायः तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के दर्शन होते हैं। संस्कृत साहित्य में कालिदास, भारवि और माघ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इस उक्ति को देखिए—

> उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्।
> नैषधे पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥

और इसी प्रकार की उक्ति मध्य युग में सूर, तुलसी और केशव पर भी मिलती है—

> सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास।
> अबके कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकाश॥

कवि-प्रशस्ति एवं उसके गुणों का एक ही छन्द में वर्णन करने की पद्धति भी मध्ययुग में वर्त्तमान थी। संस्कृत साहित्य में कालिदास के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

> निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
> प्रीतिः मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विवजायते॥

मध्ययुग में नाभादासजी के भक्तमाल में कुछ प्रसिद्ध भक्त कवियों का परिचय देते हुए कहीं-कहीं उनकी साहित्यिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है। तुलसी और सूर के सम्बन्ध में उन्होंने एक-एक छप्पय लिखा है और उसमें इन दोनों कवियों के काव्य के दोनों पक्षों—भाव एवं कलापक्ष—सौंदर्य का उद्घाटन किया है।

मध्ययुग के अन्तिम समय में घनानन्द के कवित्तों का संग्रह करने वाले ब्रजनाथ ने भी घनानन्द के आलोचक के गुणों का निरूपण करते हुए उनकी कविता के भावपक्ष एवं कलापक्ष के सौन्दर्य का उद्घाटन दो सवैयों में बड़ी ही मार्मिकता से किया है—

> नेही महा, ब्रजभाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
> जोग-वियोग की रीति में कोविद, भावना-भेद-स्वरूप को ठानै॥

चाह के रंग में भीज्यो हियो बिछुरे मिलै प्रीतम सांति न मानै ।
भाषा प्रवीन, सुछन्द सदा रहै, सो घन जी के कवित्त बखानैं ॥
प्रेम सदा अति ऊँचो लहैं सु कहै, इहि भाँति की बात छकी ।
सुनि के सबके मन लालच दौरे, पै बौरे लखैं सब बुद्धि-चकी ॥
जग की कविताई के धोखें रहै ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी ।
समुझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी ॥

इन छन्दों का विस्तार से विवेचन कर इनकी समीक्षा पद्धति का उद्‌घाटन करने से अधिक विस्तार हो जायगा । इसलिए अब हम भारतेन्दु-युग की समीक्षा पद्धति का रूप विवेचन करेंगे ।

भारतेन्दुयुग में कवि या पुस्तक के गुण दोष की विवेचना पत्रिकाओं में छपने वाले लेखों के रूप में प्रारम्भ हुई । इसके पुरस्कर्ता पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' थे जिन्होंने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना निकाली । नवीन युग की चेतना और गद्य के विकास के प्रभाव से इस युग की आलोचना में बौद्धिकता का प्रभाव प्रमुखता पाने लगा । आधुनिक काल में गद्य के अंग-उपांगों की विवेचना व नवीन बौद्धिक सिद्धान्त अर्थात् कलापक्ष की विशेषताओं का उद्‌घाटन हुआ । इस युग में अनुवादों की भी भरमार थी । अनुवाद की आलोचना उसके मूल भावों की रक्षा करने की सामर्थ्य एवं भाषा की दृष्टि से होती थी ।

भारतेन्दु युग में कवियों के गुण-दोष दिखाने वाले लेखों की ही भरमार रही, कोई पुस्तक नहीं निकली । ऐसा प्रयास प्रथम बार सरस्वती के यशस्वी सम्पादक आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी कालिदास की आलोचना" लिखकर किया । यह अनुवादों के सम्बन्ध में थी और इसमें दोषों का ही उद्‌घाटन हुआ था इसलिए यह एकांगी है । इसमें रचनागत विशेषताओं एवं गुणों के विवेचन का सर्वथा अभाव है । द्विवेदीजी ने अपनी सरस्वती के द्वारा एक नवीन समीक्षा पद्धति का विकास किया । उन्होंने सरस्वती में प्रकाशित होने के लिए आने वाली रचनाओं तथा अन्य साहित्यिक प्रकाशन के गुण-

दोषों का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया और इस प्रकार सम्पादकीय-समीक्षा पद्धति का विकास किया। इसके द्वारा उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए, एक तो भाषा शैली का परिमार्जन किया, दूसरे नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं एवं राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर साहित्य निर्माण का वातावरण तैयार किया। उनकी प्रेरणा के दर्शन हमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, रामचरित उपाध्याय प्रभृति साहित्यिकों की रचनाओं में होते हैं। द्विवेदीजी ने समीक्षा की दो और शैलियों का विकास किया। एक निर्णयात्मक है, जिसमें शास्त्रीय नियमों के आधार पर आलोचना की गई है जैसे 'कालिदास की निरंकुशता' में। इसमें कालिदास के ग्रन्थों के व्याकरण, छन्द इत्यादि की त्रुटियों का निरूपण है। दूसरी व्याख्यात्मक, जिसमें कवि और उसके काव्य का सहृदय सापेक्ष वर्णन है जैसे 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' और 'नैषध चर्चा', में। इसी प्रकार द्विवेदीजी की कुछ परिचयात्मक आलोचनाओं में केवल रचनाओं का सार एवं स्वल्प गुण-दोष परिचय है। उनकी आलोचना में कहीं-कहीं तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के भी दर्शन होते हैं जैसे अश्वघोष कृत सौन्दरनन्द काव्य की आलोचना में अश्वघोष की कालिदास से तुलना की है। किन्तु इस तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का सुष्ठ रूप मिश्रबन्धुओं में और उत्कर्ष पं० पद्मसिंह शर्मा की आलोचनाओं में दिखाई पड़ता है। मिश्रबन्धुओं ने देव और बिहारी की ऊँच-नीच के जिस विवाद का प्रारम्भ किया उससे आलोचना साहित्य बहुत समृद्ध हुआ। देव और बिहारी में से एक को ऊँचा और दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने में बहुत से आलोचकों ने अपनी बुद्धि का प्रकाश विकीर्ण किया और हिन्दी-आलोचना-साहित्य को समृद्ध किया। तुलनात्मक-आलोचना साहित्य में पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की समीक्षा का विशेष महत्त्व है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"काव्य में कलापक्ष तथा उसके रचनात्मक सौन्दर्य का जैसा सुन्दर उद्घाटन पं० पद्मसिंह शर्मा ने किया, वह बहुत कुछ अपूर्व ही था।···· "उन्होंने बिहारी के दोहों की संस्कृत और उर्दू फारसी के समान-धर्मा कवियों के पद्यों से बड़ी चमत्कारपूर्ण तुलना की, जिससे सारा हिन्दी-संसार उनकी ओर आकृष्ट हो गया। तुलनात्मक समीक्षा से विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की नई प्रवृत्ति तो जागृत ही हुई,

नए कवियों को अपने भावगत उद्गारों को माँजने और सँवारने की प्रेरणा भी मिली। इस दृष्टि से शर्माजी की समीक्षा नए रचनात्मक साहित्य के लिए कुछ कम उपादेय नहीं रही।" शुक्लजी ने इनकी समीक्षा पद्धति को रूढ़िगत कहा है। इसमें कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तर्वृत्तियों के उद्घाटन का अभाव है और चुहलबाजी की अधिकता है। इसलिए इसमें आधुनिक समालोचना पद्धति का परिचय नहीं मिलता। यह कार्य आगे चलकर रामचंद्र शुक्ल ने किया। इस प्रकार द्विवेदी-युग में समीक्षा की पाँच पद्धतियाँ मिलती हैं—निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, परिचयात्मक, तुलनात्मक और सम्पादकीय एवं प्रेरणात्मक। फिर भी इस युग की समीक्षा रूढ़िगत है, आधुनिक समीक्षा के सिद्धान्तों का उसमें अभाव ही है।

आधुनिक समीक्षा के प्रधान लक्ष्य को प्रकाश में लाने वाले पं० रामचंद्र शुक्ल हैं। इन्होंने प्रथम बार कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का प्रयत्न किया। इन्होंने प्राचीन रस-पद्धति के साथ पाश्चात्य आलोचन-पद्धति का मिश्रण करके मध्ययुग के प्रसिद्ध कवि सूर, तुलसी और जायसी इत्यादि के काव्य की अन्तः-प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया और इस प्रकार अपनी मानसिक सम्वेदना के द्वारा उनके काव्य सौन्दर्य का निखार साहित्य प्रेमियों को दिखाया। शुक्लजी की यह आलोचना शैली व्यावहारिक है जिसके मुख्य तत्त्व व्याख्या, तुलना, रस और अलङ्कार का मनोवैज्ञानिक दर्शन एवं मानसिक संवेदना है। इन सब तत्त्वों के मिश्रण से उनकी जो आलोचन-शैली बनी उसके द्वारा मध्ययुग के कुछ प्रसिद्ध कवियों के काव्य के सौन्दर्य-उद्घाटन का स्तुत्य प्रयत्न हुआ। शुक्ल जी ने पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "रस और अलङ्कार शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया।.........दूसरे शब्दों में शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया।....उन्होंने उच्चतर जीवन-सौन्दर्य का पर्याय बनाकर रस और अलङ्कार पद्धति का व्यवहार किया। जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्य-सौष्ठव के साथ रस और अलङ्कार का विन्यास करके रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया।"

इस प्रकार वाजपेयी जी के शब्दों में शुक्ल जी ने 'हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में युगप्रवर्तक का कार्य किया।' शुक्ल जी ने पहली बार रचनाकार की व्यक्तिगत मनः स्थिति एवं युग को बनाने वाली विविध परिस्थितियों का विश्लेषण करके रचना की सम्यक् आलोचना करने की नवीन समीक्षा पद्धति का विकास किया। फिर भी मनोविश्लेषणात्मक शैली का शास्त्रीय पक्ष आलोचना-साहित्य में प्रस्फुटित नहीं हुआ।

इस प्रकार शुक्ल जी ने एक नवीन समीक्षा पद्धति का प्रवर्तन किया जिसके मूल में भारतीय रस पद्धति एवं अलङ्कार-शास्त्र और पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का अपूर्व सामंजस्य हुआ है। इसमें रचनाकार के मनोविश्लेषण का भी प्रयत्न है तथा उसकी अन्तःवृत्तियों का उद्घाटन करके उसकी रचना में व्यक्त काव्य-सौन्दर्य का मानसिक संवेदना के स्तर पर निखार दिखलाया है जिसमें गहरी अनुभूति, सहृदयता एवं मार्मिक विश्लेषण है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी की आलोचना शैली की एक और विशेषता है, वह यह कि शुक्लजी अपनी व्याख्यात्मक अलोचनाओं में स्थान-स्थान पर कुछ सिद्धान्त भी प्रस्तुत करते जाते हैं जैसे—"प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।"

शुक्लजी ने सैद्धान्तिक समीक्षा पद्धति को भी अपनाया और 'कविता क्या है' जैसे सिद्धान्त पक्ष की विवेचना करने वाले समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। इनमें उन सिद्धान्तों की विवेचना है जिनके आधार पर सत्साहित्य की प्रतिष्ठा होती है। शुक्लजी ने गवेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक आलोचना शैली के आधार पर अपने इतिहास की रचना करके साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत किया। इस साहित्यिक प्रवृत्तियों के विवेचन में शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरुचि जगह-जगह मुखरित है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "शुक्लजी ने एक व्यापक समीक्षादर्श का निरूपण अवश्य किया परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतः तटस्थ और निभ्रान्त समीक्षादर्श रहा हो। विशेषतः शुक्लजी के दार्शनिक विचार और धारणाएँ तथा उनका नीतिवादी दृष्टिकोण उनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे।"

शुक्लजी ने आलोचना साहित्य की बहुमुखी अभिवृद्धि की, उसे नई दिशा दी। उसमें आधुनिकता का समावेश कराया। उनके समीक्षादर्शों को कुछ परिष्कार के साथ अपनाने वाले बहुत से समालोचक हुए।

शुक्लजी की पद्धति को अपनाने वाले दो प्रमुख आलोचक कृष्णशंकर शुक्ल और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं। इतिहास का प्रवृत्तिमूलक कार्य बढ़ाने वालों में बाबू श्यामसुन्दरदास, डा० रामकुमारवर्मा और हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम उल्लेखनीय है। यों तो छायावाद के प्रमुख आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी पर भी शुक्लजी की व्यावहारिक-समीक्षा पद्धति का प्रभाव पड़ा है किन्तु अत्याधुनिक मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि को व्यावहारिक समीक्षा पद्धति में मिलाकर एक नवीन प्रयोग करने के कारण उनका अध्ययन हम आगे करेंगे।

छायावादी कवियों ने भी शुक्लजी के साथ ही हिन्दी आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ने अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में सैद्धान्तिक समीक्षा का सुष्ठु रूप रखा। इनमें उनके नवीन विचारों का आलोक है, एक नवीन सौन्दर्यवादी दृष्टि की भूमिका है; शिल्प सौन्दर्य की बारीकी का उद्घाटन है। वस्तुतः छायावादी काव्य के आकलन में शुक्लजी की आलोचना में तटस्थ एवं निभ्रम दृष्टि का अभाव हो गया था और उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि उभरकर सतह पर आ गई थी। आधुनिक काव्य की संयत समीक्षा की इस कमी को छायावादी कवियों ने अपने-अपने साहित्यसृजन के समय के चिन्तन क्षणों में निर्मित समीक्षा-साहित्य से पूरा किया। इनमें छायावादी कवियों ने जो सृजनात्मक प्रेरणा दी उससे युग के साहित्य को दिशा का निर्देशन ही नहीं हुआ वरन् युग की समीक्षा-पद्धति भी प्रभावित हुई और कुछ प्रभावशाली आलोचक इस प्रभाव को लेकर प्रकट हुए। इनमें पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र और शांतिप्रिय द्विवेदी प्रमुख हैं।

यों तो हिंदी में शोधकार्य का प्रारंभ नाभादास के भक्तमाल से और विधिवत् सूत्रपात शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' से माना जा सकता है किन्तु आधुनिक अर्थ में यह शोधकार्य प्रमुखतया विश्वविद्यालयों में पी० एच० डी० और डी० लिट आदि के लिए होने वाले शोधों से ही

सम्बन्धित है और इसका प्रारंभ शुक्लजी के समय से ही हुआ है। इस शोध-कार्य में आज बहुत विकास हो चुका है। इस आलोचना साहित्य के चार प्रमुख आधार-गवेषणात्मक, खोज तारतम्यिक तुलना, मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि एवं वैज्ञानिक विश्लेषण हैं। आज शोध ग्रन्थों का तांता लगा हुआ है। इससे आलोचना साहित्य के विकास में बहुत योग मिला।

यहीं पर हिंदी भाषा-वैज्ञानिक समीक्षा की चर्चा भी उपयुक्त रहेगी। विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के सूत्रपात के साथ भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का महत्त्व बढ़ा। डा० मंगलदेव शास्त्री ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र लिखकर इसका सूत्रपात किया। इनके बाद बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया। इस अध्ययन में बाबूजी ने सुबोध वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति को अपनाया। इनके बाद नलिनीमोहन सान्याल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना ने इस कार्य को बढ़ाया। डा० सक्सेना ने ऐसे सूखे और जटिल विषय को बड़ी सरल एवं सरस शैली में प्रस्तुत किया है।

शुक्लजी के समय में शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का पल्लवन भी हुआ। अलंकार रस का शास्त्रीय विवेचन करने वालों में कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, गुलाबराय, रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, केशवप्रसाद मिश्र एवं डा० श्यामसुन्दरदास के नाम उल्लेखनीय हैं। शुक्लजी ने अपनी रस-मीमांसा में प्राचीन शास्त्रीय विवेचन की मौलिक व्याख्या की है और पाश्चात्य प्रभावजन्य नवीन भ्रान्तियों का निरूपण कर उसके सत्स्वरूप की स्थापना की है। पं० केशवप्रसाद मिश्र का 'मधुमति भूमिका' का विवेचन भी रस की आधुनिक और मौलिक व्याख्या है। डा० श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र दोनों के अध्ययन का उपयोग किया है।

हिन्दी-आलोचना का वर्तमान युग (शुक्लोत्तर युग) बहुत समृद्ध है। नवीन समीक्षा-पद्धतियों का आविर्भाव हो रहा है। कुछ प्राचीन पद्धतियों का भी विकास हो रहा है। इस प्रकार वर्तमान युग में निम्नलिखित समीक्षा पद्धतियाँ विकसित हो रही हैं:—

(१) कवियों की विशेषताओं का उद्घाटन करने वाली शुक्लजी की व्यवहारिक समीक्षा-पद्धति—इस पद्धति में प्राचीन रस-बोध के सिद्धान्त ही

आधारभूत बने हुए हैं। इस प्रकार की समालोचना का एक शास्त्रीय आधार है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय प्रभृति विद्वानों की समीक्षा प्रायः इसी पद्धति पर हो रही है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस समीक्षा पद्धति को साहित्यिक शैली का नाम दिया है।

(२) व्यावहारिक समीक्षा पद्धति से कुछ मिलती-जुलती निर्णयात्मक-समालोचना की पद्धति है। इस पद्धति का व्यवहार उन आलोचकों में मिलता है जो अंग्रेजी साहित्य के नये सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों का ज्ञान रखते हैं तथा उसका व्यवहारिक समीक्षा पद्धति से समन्वय करके हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का आकलन करते हैं। यह पद्धति डा० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र की नवीन समीक्षा-पद्धति है। और इसका पुष्ठ रूप विनयमोहन शर्मा में मिलता है। विनयमोहन शर्मा के सहृदय समीक्षक महेन्द्र भटनागर के शब्दों में इस समीक्षा-पद्धति का बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है—"हिन्दी साहित्य में आलोचना का स्वरूप इधर दस पन्द्रह वर्षों में बहुत कुछ बदल गया है। आलोचना के प्राचीन मान हटाये जा रहे है और उसे पहले से अधिक वैज्ञानिक, संतुलित एवं तुलनात्मक रूप दिया जा रहा है। आचार्यों द्वारा निर्मित, साहित्य के विविध प्रकारों के सम्बन्ध में निश्चित धारणाओं और नियमों को सामने रखकर अब साहित्य की छानबीन नहीं होती, वरन् साहित्य को समाज का प्राण समझकर उसके स्वस्थ एवं जीवनदायी तत्वों को ढूँढा जाता है।.........आजकल हिन्दी आलोचना में यदि एक ओर प्राचीन संस्कृत आचार्यों की साहित्यगत रूढ़िवादी मान्यताओं को स्थान दिया जाता है तो दूसरी ओर फ्रायड, कॉडवेल आदि आधुनिक विचारकों की उपेक्षा भी नहीं की जाती।" आगे महेन्द्र भटनागर जी ने इन दो सिद्धान्तों को प्रथक रूप से ग्रहण करने वाले दो समालोचकों से भिन्न इन दोनों का समन्वय करने वाले आलोचकों की चर्चा की है—"जिन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों को अपनाया है। किसी के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं दर्शायी है। प्राचीन मान्यताओं में जो वैज्ञानिक है उन्हें अपनाकर नवीन विचारकों के स्वस्थ दृष्टिकोण पर जिन आलोचकों की दृष्टि केन्द्रित है उनमें आचार्य विनयमोहन शर्मा का नाम प्रमुख है।" अपने लेख के अन्त में लेखक ने लिखा

है—"विनयमोहनजी का दृष्टिकोण पाश्चात्य कला-प्रयोगों और प्राचीन भारतीय आदर्शों के स्वस्थ समन्वय का है।"

(३) निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति से मिलती जुलती एक समीक्षा शैली और प्रचलित है जिसे कुछ सुधी लोग स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षा धारा नाम देते हैं। यह समीक्षा पद्धति शुक्लजी की साहित्यिक अथवा व्यवहारिक समीक्षा का ही विकसित रूप है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "इसे हम तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित साहित्यिक समीक्षा कह सकते हैं, जिसमें विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के आकलन के साथ रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के अध्ययन का उपक्रम है। इसी का नया दिग्दर्शन नये समीक्षकों ने उपस्थित किया। एक प्रकार से यह शुक्लजी के समीक्षा-कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था।....इसकी प्रमुख विशेषता ऐतिहासिक और परिवर्त्तन-शील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य मूल को प्रतिष्ठित करना है।" इस समीक्षा पद्धति के विकास में आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कबीर' नामक आलोचना की पुस्तक से महत्त्वपूर्ण योग दिया है। द्विवेदी जी इस धारा के प्रमुख आलोचक हैं। 'आपकी पैनी दृष्टि, मौलिक सूझ, वैज्ञानिक विवेचना, प्रभावकारी शैली से युक्त होकर पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है।' इस धारा के अन्य आलोचकों में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। आपने 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' और 'आधुनिक हिंदी साहित्य' में अपनी गम्भीर एवं प्रौढ़ आलोचना शैली का परिचय दिया है। शान्तिप्रिय के 'ज्योति विहग' में इस समीक्षा पद्धति का परिचय मिलता है।

(४) तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का प्रारम्भ द्विवेदी युग में ही मिश्रबन्धुओं ने किया और उत्कर्ष पं० पद्मसिंह शर्मा ने। किन्तु शुक्लोत्तर तुलनात्मक समीक्षा इनसे भिन्न है। द्विवेदी युग की तुलनात्मक समीक्षा का आधार शास्त्रीय था। आज उस शास्त्रीय आधार को छोड़कर व्याख्यात्मक आधार को लेकर चलने वाली प्रसिद्ध तुलनात्मक समीक्षिका शचीरानी गुर्टू हैं। इन्होंने अपने 'साहित्य दर्शन' में अपनी तुलनात्मक समीक्षा का परिचय दिया है। इसमें

लेखिका ने समस्त विश्व साहित्य के साथ हिन्दी-साहित्य का सामंजस्य एवं मूल्यांकन निरूपित किया है। इस प्रकार कालिदास और शेक्सपीयर, तुलसी और मिल्टन, टैगोर और टालस्टाय, प्रेमचन्द और गोर्की, गेटे और प्रसाद, निराला और ब्राउनिंग, मैथिलीशरण और राबर्ट बर्न्स, महादेवी और क्रिस्टिना राजेटी, रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड, जैनेन्द्र और मेरीडिथ इत्यादि निबन्ध तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हैं। इन तुलनात्मक समीक्षा के निबन्धों में लेखिका ने विश्लेषण-प्रधान व्याख्या-शैली को अपनाया है। इस प्रकार लेखिका ने हिन्दी साहित्य के प्रमुख रचनाकारों को विश्व साहित्य के प्रमुख रचनाकारों की पृष्ठभूमि में रखकर देखने का मौलिक प्रयास किया है।

(५) प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति—यह पद्धति कई रूपों में मिलती है। कहीं यह पूर्णतया मार्क्सवादी है और कहीं मार्क्स और फ्रायड का मिश्रण है। प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति का मुख्य आधार मार्क्सवादी दर्शन है। इसलिये यह साहित्य के मूल्याङ्कन का मुख्य आधार आर्थिक स्थिति और राजनीति को मानता है। इसी को संयत पदावली में समाजवादी यथार्थवाद कह सकते हैं। रूस में मैक्सिम गोर्की ने इसकी नींव डाली। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'साहित्य के स्वस्थ आधार को और उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को किसी कठोर मतवाद के साथ जोड़कर' चलने वाली इस समीक्षा पद्धति को बहुत अच्छा नहीं बतलाया है। साथ ही पश्चिमी साहित्य में मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति बहुत प्रगतिशील एवं सामाजिक है, हिन्दी में उसका स्वस्थ रूप नहीं मिलता। वाजपेयी ने इस त्रुटि का उद्घाटन इन शब्दों में किया है—"केवल मतवादी शब्दावली का व्यवहार करते हुए समीक्षाएँ की जा रही हैं, व्यक्तियों को प्रमुखता दी जा रही है, उनकी कृतियों और उनके साहित्यिक सौष्ठव को नहीं।" तटस्थ अनुशीलन एवं संतुलित समीक्षा दृष्टि के अभाव के कारण प्रगतिवादी समीक्षा के नाम पर रचनाकारों पर व्यक्तिगत रूप से कीचड़ उछाली जा रही है। डा० रामविलास शर्मा, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, डा० रांगेयराघव, अमृतराय इत्यादि ने एक दूसरे पर व्यक्तिगत रूप से जो कीचड़ उछाली है वह प्रगतिवादी समीक्षा का निकृष्ट रूप है। स्थानाभाव के कारण

हम इस चर्चा को अधिक नहीं बढ़ायेंगे। फिर भी प्रगतिवादी समीक्षा का महत्त्व है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य-साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना दूर होगा वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य की सौष्ठव सम्बन्धी एक नई माप-रेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है।" सारांश यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति ने साहित्य-सृजन का एक स्वस्थ मानदण्ड प्रस्तुत किया है और हिन्दी समीक्षा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। प्रगतिवादी समीक्षकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, डा० रांगेयराघव, शिवदानसिंह चौहान, दिनकर, अमृतराय, भगवतशरण उपाध्याय प्रमुख हैं।

(६) मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा—इस प्रकार की समीक्षा में साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष का उद्घाटन होता है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसके मूलवर्ती मंतव्य का प्रकाशन करते हुए लिखा है—"इसका मूलवर्ती मंतव्य यह है कि साहित्य की सृष्टि व्यक्ति की बाह्य या सामाजिक चेतना के आधार पर उतनी नहीं होती, जितनी उसकी अव्यक्त या अन्तरंग चेतना के आधार पर होती है। इस अन्तरंग चेतना का विश्लेषण प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिगमन्ड फ्रायड ने एक विशेष मतवाद के रूप में किया है ....वह मुख्य तथ्य यह है कि मानव का मूल या आदिजात मानस ही वह आधारभूत सत्ता है जिस पर व्यक्ति की शैशवावस्था से अनेक प्रतिरोधी संस्कार पड़ते हैं और कुंठाएँ बनती हैं। सामाजिक जीवन में वे कुंठाएँ बुद्धि द्वारा शासित रहती हैं, किन्तु स्वप्नावस्था में वे विद्रोह करती हैं और इच्छातृप्ति का मार्ग निकालती हैं। साहित्य में भी यह इच्छा-तृप्ति की प्रक्रिया चला करती है, विशेषकर काव्य और कल्पना प्रधान साहित्य में। साहित्य की समस्त रूप-सृष्टि इस मूलभूत इच्छातृप्ति का ही एक प्रच्छन्न प्रकार है।" इस प्रकार फ्रायडीन मनोविश्लेषण

का यह सिद्धान्त साहित्यिक कृतियों की मूलभूत प्रेरणा में मानसिक कुंठाओं को प्रमुख स्थान देता है।

इससे भी आगे बढ़कर फ्रायड ने मनुष्य के सौन्दर्य बोध एवं पिपासा के मूल में भोग कामना का प्राधान्य मानकर साहित्यिक रचनाओं में दमित भोग कामना का प्रभाव ढूंढ़ने की प्रेरणा दी।। साहित्य में लेखक की अतृप्त वासनाओं की तृप्ति को महत्त्वपूर्ण माना गया। डा० दशरथ ओझा ने फ्रायड के इस सिद्धान्त को अपने शब्दों में इस प्रकार रखा है—'उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण से देखा कि अपनी सहजात प्रवृत्ति से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष मिलना चाहते हैं। मनुष्य की इन समस्त प्रवृत्तियों में सुख-सम्भोग की प्रवृत्ति सबसे बढ़कर प्रचण्ड एवं उद्दाम होती है। किन्तु, मनुष्य ने भोग के साथ संयम का महान् आदर्श ग्रहण किया है। उससे सदा उसकी सौन्दर्यानुभूति स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवर्जित हुई है। यह सौन्दर्यानुभूति जब उसके अन्तर के रस से सिक्त होकर आत्म-प्रकाश के लिए आकुल हो उठती है, तभी साहित्य, शिल्प आदि ललित कलाओं की सृष्टि सम्भव होती है।" फ्रायडियन विचारधारा को पूर्णतया स्वीकार करके चलने वाले आलोचक डा० नगेन्द्र हैं। इन्होंने काम को ही कला-विकास के मूल में देखकर अपनी समीक्षा धारा का विकास किया है। अज्ञेय जी भी जहाँ यौन वर्जनाओं को लेकर चले हैं वहाँ फ्रायडीन परम्परा का विकास करते हुए दिखाई पड़ते हैं। एकान्त फ्रायड के सिद्धान्तों को न मानकर समाज शास्त्रीय विचारों से उनका समन्वय करके अपनी समीक्षा धारा को प्रवाहित करने वालों में श्री इलाचंद्र जोशी का कार्य महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण को ही एकमात्र आधार न मानकर मार्क्स के समाजशास्त्रीय दर्शन को भी महत्त्वपूर्ण माना है। इन्होंने साहित्य सृजन की मूलभूत प्रेरणा में निरी वैयक्तिक अनुभूति को एकमात्र तत्त्व न मानकर साहित्य की मूलवर्ती सामाजिक और सांस्कृतिक सत्ता को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार निरे दिवा-स्वप्न वाले फ्रायडीन मनोविश्लेषण के आधार को इन्होंने सामाजिक आदर्शों के अनुरूप बनाया है। इसीलिए वर्तमान मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा करने वालों में इलाचन्द्र जोशी का स्थान अन्यतम है।

इस समीक्षापद्धति में भी कुछ त्रुटियाँ हैं। यह केवल साहित्य की रचना

प्रक्रिया पर प्रकाश डालती है। उसमें व्यक्त भावों की साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत नहीं करती। मनोविश्लेषण को प्रमुखता देने के कारण इसमें गत्यवरोध एवं भ्रान्ति उत्पन्न करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। मनोविश्लेषण की भूमिका को साहित्यिक समीक्षा का आधार बनाना स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय है, किन्तु इसे एकमात्र समीक्षा सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करके साहित्यिक-समीक्षा के ठोस आधार को भुला देना त्रुटिपूर्ण है।

यों तो आज आलोचना साहित्य का भण्डार परीक्षोपयोगी, 'एक अध्ययन' एवं 'सरल अध्ययनों' से भरा जा रहा है किन्तु उनमें संकलन की प्रवृत्ति प्रमुख है इसलिए वह विशुद्ध एवं मौलिक समीक्षा का रूप नहीं ले सकता, न उसका कोई स्थायी महत्व ही है। इसी प्रकार आज मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का भी बाहुल्य हो रहा है किन्तु इसका उथलापन ही इनकी क्षणभंगुरता का कारण है। गम्भीर और चिरस्थायी समालोचना के तीन प्रमुख तत्त्व शास्त्रीय भूमिका, भावपक्ष एवं लोकपक्ष हैं जिनका समन्वय करने वालों में आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति उल्लेखनीय हैं।

॥ इति ॥